श्रीमद्भगवद्गीता

[पदानुक्रमणिका सहित]

समर्पण–भाष्य

भाष्यकार

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

(पं० बुद्धदेव विद्यालंकार)

प्रधान–सम्पादक

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार

सह–सम्पादक

प्रद्युम्न चन्द्र

दिल्ली संस्कृत अकादमी

राष्ट्रिय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार

प्लॉट नं–५, प्रथमतल, झण्डेवालान, करोलबाग,

नई दिल्ली–११०००५

प्रकाशक : सचिव, **दिल्ली संस्कृत अकादमी**
(राष्ट्रिय–राजधानी–क्षेत्र, दिल्ली सरकार)

ISBN : 978-81-925829-5-5

प्रथम संस्करण : **१००० (प्रतियाँ)**

मूल्य : १५० रुपये

प्राप्ति–स्थान : प्रकाशन विभाग
दिल्ली संस्कृत अकादमी
(राष्ट्रिय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार)
प्लॉट सं०–५, झण्डेवालान, करोलबाग,
नई दिल्ली–११०००५
दूरभाष : ०११–२३६३५५९२, २३६८१८३५,
२३५५५६७६
अनुप्रेस : delhisanskritacademy@gmail.com

मुद्रक : **डॉलफिन प्रिंटो ग्राफिक्स**
४ई/७, पाबला बिल्डिंग, झण्डेवालान एक्स.
नई दिल्ली–११००५५
दूरभाष : ०११–२३५९३५४१

सम्पादकीय

भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वाधिक प्राचीन और विशिष्ट सभ्यताओं में गिनी जाती है। इसके मूल में वेद–वेदाङ्ग, उपनिषद्, दर्शन, महाभारत, रामायण इत्यादि संस्कृत–वाङ्मय में वर्णित ज्ञान–विज्ञान की निधि है। महाभारत के विषय में प्रसिद्ध सूक्ति है कि—**'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।'** अर्थात् जब महाभारत ग्रन्थ की रचना की गयी, उस समय तक ऋषियों, मनीषियों, विद्वानों, आचार्यों के द्वारा जो भी प्रतिपादित किया गया था, वह सब इस ग्रन्थ में उपनिपद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का एक अंश है, श्रीमद्भगवद्गीता के विषय में स्वयं महर्षि व्यास कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृताः॥

अर्थात् उपनिषद्, दर्शन, पुराण इत्यादि शास्त्रों में जो ज्ञान निहित है, उसका सार गीता में वर्णित है। इसलिए गीता सम्यक् रूप से गेय, पठनीय, मननीय और आचरणीय है। गीता के अट्ठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

—गीता १८।७०

अर्थात् जो व्यक्ति श्रीकृष्ण–अर्जुन के संवादस्वरूप आध्यात्मिक चर्चा को पढ़ेगा और अपने अन्तःकरण में धारण करेगा, उसके ज्ञान–यज्ञ से मैं प्रसन्न होऊँगा। ज्ञानयज्ञ के विषय में चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि—

श्रेयाद् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप!
सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते॥

—गीता ४।३३

अर्थात् इस संसार में द्रव्यमय यज्ञ से श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ है, क्योंकि सभी कर्म ज्ञान में ही समाहित हैं। गीता–शास्त्र समस्त मानव–सभ्यता के कल्याण के लिए है। यह सार्वकालिक और सार्वभौमिक है, क्योंकि

सभी प्राणियों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है। ईश्वर से ही इस जगत् की सृष्टि हुई है, मनुष्य अपने कर्तव्य–कर्मों के द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त करता है। अट्ठारहवें अध्याय में लिखा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

—गीता १८।४६

विद्वान् गीता का प्रतिपाद्य विषय प्रमुख रूप से ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का विवेचन मानते हैं। ज्ञान के द्वारा सत् (सत्य) का साक्षात्कार किया जा सकता है, कर्म के द्वारा चित्त की शान्ति प्राप्त होती है तथा भक्ति के द्वारा आनन्द को प्राप्त किया जा सकता है। द्वन्द्वों का समत्व ही योग है, जैसा कि गीता में कहा गया है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

—गीता २।४८

व्यावहारिक रूप से देखें तो गीता में प्रबन्धन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मानव–आचार–संहिता इत्यादि ज्ञान–विज्ञान के अनेक लोकोपयोगी विषयों का वर्णन है। वस्तुतः गीता वेद–वेदाङ्ग, उपनिषद्, दर्शन, विभिन्न विचारों, विभिन्न सिद्धान्तों का समन्वयात्मक विशाल कोश है। इस ग्रन्थ की भाषा परिमार्जित, परिष्कृत और अत्यन्त सरल है। यद्यपि ऋषियों का समग्र चिन्तन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मानव–कल्याण के लिए है, किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाएँ प्रत्यक्षरूप से मानव को विशेष जीवनदर्शन प्रदान करती हैं, लोकश्रुति प्रसिद्ध है कि **'यादृशं यस्य दर्शनं तादृशं तस्य जीवनम्।'** वस्तुतः मानव–चरित्र के व्यवहार का जो मर्यादित स्वरूप है, वही जीवनमूल्यों पर आधारित आचारसंहिता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि ही सभी दुर्गुणों और दुर्विचारों के मूलभूत हैं। इन्हीं के आवेग से असत्कर्मों में दुष्प्रवृत्ति होती है।

प्रश्नोत्तर–रूप से श्लोकमय संवादों में निबद्ध यह ग्रन्थ अत्यन्त रुचिकर है, यद्यपि इसके भाव गूढ और रहस्यात्मक हैं, तथापि अत्यन्त उपयोगी, कल्याणकारी और मंगलदायक हैं। इस ग्रन्थ के अनेक भाष्य, अनेक टीकाएँ और विविध व्याख्याएँ जगत् में प्रचलित हैं, किन्तु

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती ने जिस सरल भाषा में इसका हिन्दी अर्थ पदानुक्रम और अन्वय के साथ किया है, वह जन-सामान्य के लिए भी सहज बोधगम्य है। श्री स्वामी समर्पणानन्द जी पूर्वनाम श्री पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार था। आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के अत्यन्त मेधावी प्रतिभाशाली विद्वान् स्नातक थे। संस्कृत भाषा पर आपका अप्रतिम अधिकार था। कविता, गद्य-पद्य सभी शैली में आपकी रचनाएँ अप्रतिम हैं। सरस्वती वाग्देवी मानो उनकी जिह्वा पर नाचती थी। अंग्रेजी भाषा पर भी आपका बड़ा अधिकार था।

आपने वैदिक लौकिक संस्कृत साहित्य पर आधारित लगभग दो दर्जन से अधिक उच्चस्तरीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है। यजुर्वेद के प्राचीन व्याख्या ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण के प्रथम पौने तीन काण्डों का विस्तृत भाष्य किया है, वह वैदिक साहित्य में एक सर्वथा निराली रचना है। इस भाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि शतपथ ब्राह्मण में और यजुर्वेद में कितना उच्चकोटि का ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है।

प्रस्तुत गीता के भाष्य में भाष्यकार की प्रतिभा और पाण्डित्य के पग-पग पर दर्शन होते हैं। पाठक इस भाष्य को पढ़े और गीतामृत रस का पान करें, यही अभिलाषा है।

पद्मपुराणकार ने भगवद्गीता का महाभाष्य इस प्रकार से वर्णित किया है—जो प्रतिष्ठा वेदों में पुरुषसूक्त की है, जो प्रतिष्ठा पुराणों में विष्णु पुराण की है एवं जो प्रतिष्ठा धर्मशास्त्र में मनुस्मृति की है, वही प्रतिष्ठा महाभारत में भगवद्गीता की है—

वेदेषु पौरुषं सूक्तं पुराणेषु च वैष्णवम्।
भारते भगवद्गीता, धर्मशास्त्रेषु मानवम्॥

गीता ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष का ग्रन्थ नहीं है, अपितु वह सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनिक ग्रन्थ है। यह संवाद ग्रन्थ है। पाठक अपने गुह्य से गुह्य रहस्यों को इसके सामने उपस्थित करता है और समाधान प्राप्त करता जाता है।

गीता के प्रत्येक अध्येता को गीता का अध्ययन करते हुए ऐसा प्रतीत होता है, गीता उन्हीं के मन्तव्य को परिपुष्ट कर रही है। अध्येता को क्षराक्षर में, कर्म-अकर्म में, सांख्य-योग में समन्वय ग्रन्थ प्रतीत होने लगता है। भारतीय दर्शनों का जहाँ इसमें समन्वय है, वहाँ उनका

सार भी आ गया है, अतः गीता सार-ग्रन्थ भी है।

प्रस्तुत गीता-भाष्य की अनेक विशेषताएँ हैं। इसके दिग्दर्शन भूमिका को पढ़ने लेने मात्र से अभिप्रायार्थ को हृदयंगम किया जा सकता है। जिन-जिन श्लोकों में गूढार्थ को खोजना है, उसके साथ विशेष विवेचन द्वारा उसको व्याख्यायित किया गया है। जैसे की प्रथम श्लोक को ही लें—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

इसके विशेष विवेचन में लिखा है—हर मनुष्य का शरीर उसका धर्मक्षेत्र अर्थात् कुरुक्षेत्र है। उसमें दैव तथा आसुर संकल्प इसी प्रकार प्रतिक्षण युद्धार्थी होकर आमने-सामने खड़े रहते हैं।

प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में अध्याय की संगति विशेषता से दर्शायी गयी है।

गीता के सांख्य शब्द की विवेचना करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—सांख्य अर्थात् यथार्थ स्वल्प निरुपक शास्त्र में **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ,** यह बुद्धि बतायी गई है। जिसके मन में धर्मबुद्धि उदय हो गई है तथा सुख-दुःख, लाभालाभ, जयाजय बुद्धि सर्वथा लुप्त हो गयी है, वह कोई भी कर्म उतना करेगा, जितना धर्मपूर्त्ति के लिए आवश्यक है।

इसी प्रकार स्थान-स्थान पर अस्पष्ट शब्दों का बड़ा उत्तम विश्लेषण विवेचन प्रस्तुत भाष्य में किया गया है। 'सम्प्लुतोदके', 'वेदवादिनः', 'पितरः', 'चतुर्भुज', 'विश्वरूप', 'पापयोनि' आदि शब्दों की व्याख्या देखते ही बनती है।

'अहम्' और 'माम्' का तात्पर्य तथा श्री कृष्ण के समष्टि जीवन का विवेचन दर्शनीय है। प्रत्येक श्लोक के साथ संस्कृत में अन्वय भी दिया गया है, जिससे गीता के साधारण संस्कृतज्ञ पाठकों को संस्कृत सीखने में भी सहायता मिलेगी।

संस्कृत अकादमी दिल्ली सरकार द्वारा अनेक सत्साहित्य का प्रकाशन द्रुतगति से हो रहा है। बहुत से जिज्ञासुओं की अपेक्षा रहती है कि उन्हें कोई ग्रन्थ संस्कृत का पढ़ने को मिले, जिससे कि संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार व्यापक रूप से हो सके। इस दिशा में सरल, सरस, जीवनोपयोगी इस गीता ग्रन्थ का प्रकाशन अकादमी द्वारा किया

जा रहा है। आशा है सुविज्ञ पाठकगण इस गीता ग्रन्थ को पढ़कर, स्वमनन-चिन्तन कर अपने जीवन को सफल बनाये।

अन्त में डॉ० हरिदत्त शास्त्री द्वारा प्रणीत इस श्लोक के माध्यम से इस अद्‌भुत समर्पण भाष्य के रचयिता स्वामी समर्पणानन्द जी के प्रति हठात् मुख से यही निकलता है, उन्हीं के शब्दों में—

भाष्यं यद् भवताऽवता त्रिजगतां ज्ञानार्थमुद्भासितम्,
तेनेमे मनुजा अबोधगहनध्वान्तं निरस्याऽऽत्मनः।
श्रद्धास्नेहसुमैः स्त्रजं विरचितां दत्त्वा भवत्पादयोः,
आकल्पं तव कीर्त्तने विषयतां नेष्यन्ति ताँस्तान् गुणान्॥

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार
सचिव
दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली सरकार

दिनाङ्क-०१-०७-२०१३

भूमिका

गीता का सर्वश्रेष्ठ भाष्य अर्थात् कृष्ण-जीवन

बुद्धिमान् और मूर्ख में यही भेद है कि बुद्धिमान् रद्दी से रद्दी पदार्थ को अपने बुद्धि-कौशल से उपयोगी बना लेता है, दूसरी ओर मूर्ख मनुष्य अच्छे-से-अच्छे पदार्थ को अपने विपरीत बुद्धि-कौशल से पीडोत्पादक बना लेता है। बुद्धिमान् काजल को आँख में डालता है, मूर्ख मुँह पर मल लेता है। बुद्धिमान् नमक को उचित मात्रा में दाल-शाकादि व्यञ्जनों में डालकर उत्तम स्वादु भोजन उत्पन्न करता है। मूर्ख उसे आँख में डालकर रड़क उत्पन्न करता है। बुद्धिमान् ने डेगची का ढकना उछलते देखा तो आग-पानी को उचित ढङ्ग से मिलाकर रेल का एञ्जिन बना लिया। मूर्खों ने आग-पानी इकट्ठा किया तो हुक्का बना लिया और गुड़गुड़ाकर रह गए।

प्रभु-भक्ति से बढ़कर लोक-कल्याणकारी वस्तु संसार में और क्या हो सकती है! परन्तु इस देश के मूर्खों ने यदि अपनी सबसे अधिक हानि की है तो इस भक्ति द्वारा।

कृष्ण महाराज की गीता, अथवा सच पूछिए तो द्वैपायन कृष्ण द्वारा वार्ष्णेय कृष्ण के गीतारूप में उपनिबद्ध विचार इस उलटी भक्ति को समूलोच्छेद करने के लिए ही प्रकट किये गए थे। भक्ति का उद्देश्य है कि मनुष्य अपने-आपको इस प्रकार समझे कि मानो वह एक मजदूर है, और यदि उसने अपने काम में सुस्ती की तो वह अपने स्वामी से चोरी करके कहीं बचकर जा नहीं सकता। उसे विश्राम भी करना है, परन्तु वह विश्राम भी मजदूरी का अङ्ग है। इधर स्वामी ऐसा है जो उसकी मजदूरी का समस्त फल उसे ही दे देता है, अपने पास कुछ नहीं रखता। दूसरे, वह अन्तर्यामी भी है। संसार के स्वामी बाहर खड़ा होकर पहरा देते हैं किन्तु वह प्रभु अन्दर-बाहर सब कहीं खड़ा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयन्तद्दूरे चान्तिके च तत्॥ —गीता १३.१५
तदन्तरस्य सर्व्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। —यजु० ४०.५

वेद कहता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्। —यजु० ४०.२

इह (इस संसार में) कर्माणि (कर्म) कुर्वन् (करते हुए) एव (ही) जिजीविषेत् (जीने की इच्छा करे)।

अर्थात् बिना पुरुषार्थ जीवन बिताने की इच्छा भी न करे।

स्वामी कण-कण में बैठा है—'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (यजु० ४०-१) बस इसकी ही व्याख्या १८ अध्याय में की गयी है।

वह कर्म किस प्रकार का हो?

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। —गीता १२-४

जो अव्यक्त रूप से भगवान् की भक्ति करते हैं वे भी मुझ तक ही पहुँचते हैं, क्योंकि वे सर्वभूत-हित में पूर्ण परायणता से लगे हुए हैं, इसी में रमण करते हैं, अर्थात् पूर्णरसास्वाद करते हैं।

यह सर्वभूतहितकारी कर्म हमारे जीवन का अङ्ग कैसे बने?

हम ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व अर्थात् ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश (ब्राह्मणत्व); न्याय द्वारा अन्याय का नाश (क्षत्रियत्व), धन-दान द्वारा सबके दारिद्र्य का नाश (वैश्यत्व), इन तीनों व्रतों में से एक व्रत को अग्निरूप में अपने आत्मा में धारण कर लें, यही सच्चा भक्ति-मार्ग है, यही संन्यास है, इससे विपरीत कुछ नहीं।

न निरग्निः। —गीता ६-१

केवल प्रतीकरूप अग्नि अथवा लोकसमझ दीक्षा-मन्त्र उच्चारण करना, नित्य अग्निहोत्र करना पर्याप्त नहीं।

न चाक्रिय। —गीता ६-१

उस व्रत के अनुकूल आचरण भी करना, क्रियाहीन अग्नि प्रतीक मात्र है, उपयोगिता कुछ नहीं।

शूद्र अग्नि के बिना भी किसी अग्निवाले की सेवा में लगकर परम गति पा सकता है, परन्तु क्रियाहीन कुछ नहीं पा सकता।

हर मनुष्य सब-के-सब व्रत एक-साथ नहीं निभा सकता। इसलिए उसे अपने स्वभावानुकूल ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व एक-न-एक कर्म चुन लेना चाहिए। वह उसका स्वयं चुना हुआ कर्म है, इसलिए स्वकर्म कहलाता है। बस यही स्वकर्म ईश्वर-भक्ति का

एकमात्र साधन है।

स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

—गीता १८-४६

उस अपने स्वयं चुने हुए स्वकर्म द्वारा उस भगवान् की अभ्यर्चना करके मनुष्यमात्र सिद्धि प्राप्त करता है।

वर्णो वृणोतेः॥ निरुक्त (प्रथम काण्ड २-१-४)

इसलिए

अठारहवें अध्याय में ४१ से ४४वें श्लोक तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के स्वभावों का निरूपण किया है। अब मनुष्य अपने स्वभाव को देखे, पहचाने; स्वयं जानने की शक्ति न हो तो **प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया**—विद्वानों के चरणों में प्रणाम करके, उनसे छानबीन करके, उनकी सेवा करके (गीता ४-३४) इस बात का ज्ञान प्राप्त करे और उसके पश्चात् स्वभावानुकूल कर्म का अभ्यास करे और स्ववर्णोचित-गुण-सम्पादन करे।

इसीलिए कहा

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

हे अर्जुन! इस युग में गुण-कर्मानुसार चातुर्वर्ण्य नष्ट हो गया था। मैंने उसकी इस युग में सृष्टि की है। परन्तु इस गुण-कर्मानुसारिणी स्वभाव-वरणाश्रित वर्ण-व्यवस्था का अव्यय, अर्थात् अनादि अनन्त शाश्वत कर्त्ता तो भगवान् है, जिसने पुरुष सूक्त में इसका उपदेश किया है। इसलिए मुझे इसका शाश्वतकर्त्ता न समझ लेना (अहो सत्यपरायणता! अहो विनम्रता!) गीता ४-१३।

हे अर्जुन!

यह 'स्वकर्म्मणा' सामने सेवक-रूप में सदा उपस्थित रहकर प्रभु की पूजा (अभि+अर्चना) कोई क्षणसाध्य हँसी-खेल नहीं।

प्रथम तो आसुरी भावनाओं से अभिभूत लोग सर्वभूतहित में प्रवृत्त ही नहीं होते (कहते हैं : मुझे क्या, मैंने कोई संसार की भलाई का ठेका लिया है); कोई मननशील मनुष्य ही इस ओर झुकते हैं। फिर वे भी मनन तक ही रह जाते हैं, यत्न कुछ नहीं करते—

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

मननशीलों में से भी सहस्रों में कोई सिद्धि के लिए यत्न करता है। और यत्न करनेवाले सिद्धों में भी कोई (विरला ही) पूर्णतया तत्त्वज्ञान पाता है। (गीता ७-३)

यत्न किस प्रकार का?

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च सिद्ध्यति।

—गीता ६-६५

स्वकर्म-विपरीत आचरणों से निरन्तर विरक्ति तथा अनुकूल आचरणों का निरन्तर अभ्यास होने से सिद्धि मिलती है।

अभ्यास भी एक-आध दिन नहीं—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

जो निरन्तर रात-दिन अभ्यास में जुटे रहते हैं, उनके योगक्षेम की चिन्ता मैं करता हूँ (ऐसा परमात्मा मनुष्यों को उपदेश देते हैं)।

फिर सिद्धि भी तत्क्षण नहीं होती—

तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।

—गीता ४-३८

सच्चे ज्ञान को योगसाधन करनेवाला समय पाकर अपने अन्दर ही पा लेता है।

यह समय कितना?

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति पराङ्गतिम्। —गीता ६-४५

जन्म-जन्मान्तर तक साधन करता हुआ पुरुष सिद्ध होकर परमगति को प्राप्त होता है।

यह है मनुष्य की परम कल्याणकारी भक्ति।

इसके विपरीत

श्रीमद्भागवत के अजामिलोपाख्यान को देखिये, वहाँ किसकी जन्म-जन्मान्तर की साधना? वहाँ तो पुत्र का नाम नारायण रख दिया, बस हो गया कल्याण! कोई सन्देह न रहे इसलिए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की गयी है—

साङ्केत्यम् पारिहास्यं वा स्तोभं जल्पनमेव वा।
मुरारिनामग्रहणं निःशेषाधहरं विदुः॥

सङ्केत में, उपहास में, तान-पलटों में, प्रमत्त प्रलाप में, किसी प्रकार भी मुरारि का नाम मुख से निकल जाय, बस वह सब-के-सब पापों का नाश करनेवाला है, ऐसा विद्वान् जानते हैं।

कहाँ वह कर्म्ममयी भक्ति?
कहाँ यह कर्मनाशा भक्ति?

कृष्ण सच्चे कर्मयोगी और प्रभु-भक्त थे। महाभारत में जहाँ भी उचित अवसर आया वे सन्ध्योपासना में लीन हो गये, कहीं नहीं चूके। एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा। कृष्ण शान्तिदूत बनकर दुर्योधन के पास पहुँचे और वहाँ पहुँचकर—

अवतीर्य रथात्तूर्णम् कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य संध्यामुपविवेश ह॥

—महाभारत, उद्योग पर्व

रथ से उतरकर, स्नानादि से शुद्ध होकर, घोड़े खोलने का आदेश देकर कृष्ण सन्ध्या में बैठ गए। उन्हें किसी फल में आसक्ति नहीं थी। क्षत्रियोचित कार्य का चुनाव उन्होंने स्वयं किया। मिथ्याभिमानी उन्हें ग्वाला कहकर घृणा करते रहे। परन्तु भीष्म सरीखे विद्वान् ने राजसूय में अर्घ्यदान का अधिकारी समझा। शिशुपाल मिथ्या कुलाभिमान में गालियाँ देता ही रहा।

यहाँ हमने एक शब्द मिथ्याकुलाभिमान का प्रयोग किया है। यहाँ इस पर थोड़ा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। कुलाभिमान स्वयं कुछ बुरी वस्तु नहीं। परन्तु मनुष्य को अभिमान करना तो आना चाहिए। अभिमान जब भूतकाल का रूप धारण करता है, तो सर्वनाश का कारण होता है। जब वह भविष्यकाल का अथवा लक्ष्यप्राप्ति का रूप धारण करता है, तो वह परमहितकारक होता है।

अहं ब्राह्मणानां कुले जातः तस्मात् ब्राह्मणो भविष्यामि। मया तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन त्यागबलेन च ब्राह्मणत्वमुपार्जि-तव्यम्।

मैं ब्राह्मणों के कुल में जन्मा हूँ इसलिए ब्राह्मण बनूँगा। मुझे

तप से, ब्रह्मचर्य से, स्वाध्याय से और त्याग के बल से ब्राह्मणत्व उपार्जन करना है, यह अभिमान कल्याणकारक है। परन्तु

अहं ब्राह्मणानां कुले जातः तस्मादहमपि ब्राह्मणो जातः।

'मैं ब्राह्मणों के कुल में जन्मा हूँ इसलिए मैं जन्ममात्र के कारण ही ब्राह्मण हो गया' यह मिथ्याभिमान है। कृष्ण क्षत्रिय-कुल में जन्मे थे परन्तु उन्होंने राजाधिराज दुर्योधन का भोजन स्वीकार न करके उस मूर्खयुग में शूद्र कहलानेवाले विदुर के घर भोजन ग्रहण किया। उन्होंने स्वभावानुसार क्षत्रियत्व का मार्ग चुना। यह उनका वर्ण (चुनाव) था, स्व+कार्य था।

इसी के बल पर वह सच्चे भक्त थे।

जन्म जेलखाने में हुआ। परन्तु कभी नहीं रोये कि मुझे बचपन में सुख नहीं मिले।

शिक्षा अज्ञातवास में नन्द गोप के घर में हुई, परन्तु आग छिपेगी कहाँ?

कंस भारत में गो-हत्या का आदिप्रवर्तक था। ससुराल में नरबलि होती थी। जरासंध ने १०० राजाओं का सिर काटकर शिवजी पर चढ़ाने का व्रत लिया था। ८६ राजा इकट्ठे भी कर लिये थे, परन्तु उसे क्या पता था कि क्षत्रियशिरोमणि कृष्ण जरासंध को मारकर उनका उद्धार करेंगे!

बाल्यकाल में कंस की लीला देखी—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् सत्यवादिनः।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः॥

कंस के मन्त्री कहते हैं कि हे राजान्! देव यज्ञों के सहारे जीते हैं और यज्ञ गो-ब्राह्मण के सहारे। इसलिए सब उपायों से सत्यवादी ब्राह्मण और गाय इन दोनों को मारें।

इस गोहत्या का सबसे अधिक प्रभाव निश्चित रूप से गोपालों पर पड़ा। इनमें एक गोपाल रायाण नाम का बड़ा बुद्धिमान् था। उसने विद्रोह का बीज बोया। राधा नाम की एक गुप्त मण्डली बनी जो प्रत्यक्ष में तो नाच-गाकर प्रभु-आराधना करती थी, परन्तु वास्तव में कंस के विरुद्ध विद्रोह की तैयारी करती थी। बालक कृष्ण भी इस मण्डली में आते-जाते थे, क्योंकि यह रायाण कृष्ण का मामा होता

था, माता यशोदा का रिश्ते में भाई था। यद्यपि कृष्ण की आयु छोटी थी परन्तु इनकी विलक्षण प्रतिभा देखकर रायाण मरते समय इस मण्डली का नेतृत्व कृष्ण को सौंप गया। इस घटना की ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में जो दुर्दशा की गई है उसे पढ़कर सिर लज्जा से झुक जाता है, पता नहीं लगता कहाँ मुख छिपाएँ?

इस मण्डली का कीर्तन सारे कंस राज्य में फैला। कंस के प्रति विद्रोही सब नर-नारी इस राधा-मण्डली में सम्मिलित हुए। सब नरों का एक वेष, सब नारियों का एक वेष। नियत तिथि पर सब वृन्दावन की रेती पर इकट्ठे हुए। सैनिक नियमानुसार डङ्का बजते ही जो जिस अवस्था में था सब काम छोड़कर अपने स्थान पर पहुँच गया।

कंस को कुछ सन्देह भी हुआ। उसने अक्रूर को पता लगाने भेजा भी। परन्तु वहाँ तो सारा राष्ट्र विद्रोह के लिए तैयार बैठा था।

रास हुआ। रास किसे कहते हैं? रास शब्द रस से बना है, सो पहले रस क्या है यह समझ लें। यह शब्द 'रस शब्दे' इस भ्वादिगण की धातु से बना है। जब कोई मनोवेग इतना प्रबल हो उठे कि वह चुप न रह सके, वह चिल्ला उठे, तब वह रस हो जाता है। सो उस रस वालों का सम्मिलित गाना रास है।

यह रस कौन-सा था?

ऊपर से तो श्रृंगारमय भक्तिरस था। नहीं तो कंस सोया कैसे रहता? परन्तु वास्तव में वीररस था। सब एक ही रंग थे। कंस कुश्तियों का शौकीन था। हर वर्ष उसके अखाड़े में कुश्तियाँ होती थीं। एक कोने में नाकेबन्दी थी। वृन्दावन में विशाल स्वयंसेवक-सेना (राधा) तैयार खड़ी थी। परन्तु वाह रे संगठन! जब तक अखाड़े में छलाङ्ग मारकर कृष्ण कंस की छाती पर सवार नहीं हो गए, किसी को हवा तक न लगी।

कंस का सिर काट लिया गया, परन्तु किसी ने अंगुलि तक नहीं हिलाई।

सारी प्रजा हाथ जोड़े खड़ी थी—

"आपने कंस के अत्याचारों से हमारी रक्षा की, अब राज्य भी आप ही सम्भालिए!"

कृष्ण बोले, "राज्य तो नानाजी सम्भालेंगे।"

''और आप?''

''हम खोया हुआ राज्य लेने जा रहे हैं।''

वेदज्ञ ऋषियों ने मर्यादा बनाई कि चक्रवर्त्ती राजा का बेटा क्यों न हो, घर के वैभव और विलास के वायुमण्डल में नहीं पलेगा; उसे वसिष्ठ की कुटिया में रहना होगा, जल भरना होगा, समिधा लानी होंगी, गाय चरानी पड़ेंगी, कठोर तप करके राजा बनने की योग्यता सम्पादन करनी होगी। अयोग्य होगा तो असमंज की तरह न केवल राज्याधिकार से वञ्चित होगा अपितु निर्वासन-दण्ड पाएगा।

राम और भरत इसी शिक्षा-पद्धति में पले और बढ़े थे। इसलिए दोनों ने राजमुकुट को ठोकर मारी।

किस गर्व से वसिष्ठ मुनि बोले—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

मैंने अपने शिष्य राम का चेहरा राजगद्दी के लिए निमन्त्रण मिलने पर भी देखा, वनवास का आदेश मिलने पर भी देखा, परन्तु दोनों समय विकार की एक रेखा भी माथे पर नहीं देखी।

ऐश्वर्य बढ़ा, भोगविलास बढ़ा, मर्यादा टूटी। क्षत्रियों ने गुरुकुल में जाना बन्द कर दिया।

परिणाम—

जुआरी धर्मराज कहलाए और राजगद्दी के लिए दुर्योधन ने कह दिया **'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।'**

बिना युद्ध के हे कृष्ण! सूई की नोक बराबर भी भूमि नहीं दूँगा। हवा नहीं बदली, पानी नहीं बदला, गंगा नहीं बदली, हिमालय नहीं बदला, परन्तु ऐश्वर्य की बाढ़ से गुरुकुलवासी की मर्यादा टूटकर बह गई।

परन्तु एक मर्यादापुरुषोत्तम मर्यादा पर अटल था। वह विद्या के सच्चे राज्य की खोज में निकल पड़ा। मथुरा का राज्यमुकुट प्रतीक्षा ही करता रह गया। कृष्ण ने मथुरा छोड़ी और वेद-साम्राज्य की खोज में उज्जयिनी पहुँचकर आचार्य सान्दीपनि की कुटिया में विश्राम लिया। क्षत्रिय को सच्चा गुरु मिल गया। यहाँ बैठकर कृष्ण ने कहा कि वेदव्यासजी तो चिल्ला रहे हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्म्मादर्थश्च कामश्च स धर्म्मः किन्न सेव्यते॥

''मैं दोनों भुजाएँ उठाके चिल्लाकर कहता हूँ धर्म से ही अर्थ और धर्म से ही काम प्राप्त होता है, परन्तु मेरी सुनता कोई नहीं।''

कृष्ण ने निश्चय किया, मैं सुनूँगा और सुनाऊँगा। उन्होंने क्षत्रियों का मार्ग चुना, सोचा महाभारत राज्य तो आज खण्ड-खण्ड हो चुका है—महाभारत तो एक ओर रहा, आज तो भारत भी नहीं रहा, भारत भी सैकड़ों छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया है—मैं खण्ड भारत को भारत और भारत को महाभारत फिर से बनाकर रहूँगा। धरती पर धर्म का एकछत्र राज्य होगा। राजा धार्मिक होगा तो सारे विश्व की प्रजा भी धर्मात्मा होगी—'यथा राजा तथा प्रजा।' उस महापुरुष ने आचार्य सान्दीपनि की कुटिया में पहले विद्या का राज्य प्राप्त किया और साथ ही चरित्र का राज्य प्राप्त किया।

ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर वीरोचित मार्ग से रुक्मिणी का उद्धार करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उत्तम सन्तान की अभिलाषा थी। पति-पत्नी दोनों ने प्रथम रात्रि को वासक शय्या पर बैठकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। प्रातःकाल ही उठकर हिमालय की ओर चल पड़े। जिस स्थान पर आज बदरीनाथ धाम है वहाँ १२ वर्ष घोर ब्रह्मचर्य-पालन किया। १२वें वर्ष केवल बेर खाकर जीवन बिताया, इसलिए कृष्ण बदरीनाथ और वह स्थान बदरीनाथ धाम कहलाया।

फल

प्रद्युम्न जैसा पुत्र पाया, जिसने उनकी अनुपस्थिति में द्वारिका की रक्षा की। धुन एक थी—महाभारत राज्य की स्थापना करने की। स्वयं राज्य करना नहीं चाहते थे। भारत के राज्यवंश की ओर दृष्टि पड़ी—अन्धकार ही अन्धकार! फिर भी राजनीतिज्ञ जो-जो सामग्री मिले उसी से काम चलाता है। एक ओर भोगी-विलासी, ईर्ष्यालु, अन्यायी, जुआरी दुर्योधन था, दूसरी ओर सत्यवादी, न्याय-प्रेमी, ईर्ष्यारहित चित्रसेन गन्धर्व की कैद से दुर्योधन को छुड़ानेवाला जुआरी युधिष्ठिर था—अन्धों में काना राजा! जुआरी तो दोनों थे, परन्तु युधिष्ठिर में केवल यही एक दोष था (हालाँकि यह एक दोष साधारण दोष नहीं था। वेद में जितना स्पष्ट खण्डन जुए का है उतना अन्य किसी

दोष का नहीं—अन्य दोष समय पाकर नाश करते हैं, यह एक क्षण में राजा को राज्यहीन कर देता है। दूसरे, बिना पुरुषार्थ फल पाने की इच्छा इसमें पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है)। वेदज्ञ कृष्ण इसके घोर विरोधी थे। महाभारत के वनपर्व के १३वें अध्याय में स्पष्ट कहा है कि युधिष्ठिर, जब तुम लोग जुआ खेल रहे थे, मैं एक युद्ध पर गया हुआ था नहीं तो बिना बुलाए पहुँचकर धृतराष्ट्र को समझाता और न मानता तो **'निगृह्णीयाम् बलेन तम्'** उससे बलपूर्वक अपनी बात मनवाता, उसके दुष्ट सलाहकारों को प्राणदण्ड देता। पर वह समय तो हाथ से निकल गया! राजसूय के समय धरती पर जिस एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना हुई थी उसके सम्बन्ध में शिशुपाल जैसे अभिमानी को भी कहना पड़ा था—

वयन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभात् न च सान्त्वनात्॥
अस्य धर्म्मे प्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
प्रयचमः करान् सर्वे॥ —महाभारत सभापर्व

''हम इस महात्मा युधिष्ठिर को कर देते हैं सो न तो भय से देते हैं न लोभ से, न खुशामद से। पृथिवी पर एकच्छत्र राजा बनने के लिए इसने अपनी प्रजा का पालन अति तत्परता से किया। इसे धार्मिक प्रवृत्ति में सर्वश्रेष्ठ समझकर हम सब इसे स्वेच्छा से कर देते हैं और अपना राजा मानते हैं।''

परन्तु युधिष्ठिर की यह धर्मप्रवृत्ति जुए-रूप अधर्म में प्रवृत्ति से ऐसी नष्ट हुई कि बना-बनाया महाभारत राज्य एक दिन में नष्ट हो गया।

परन्तु कृष्ण तो सच्चे प्रभु-भक्त थे और किसी ऐहिक कामना से नहीं केवल सर्वभूतहित-कामना से प्रेरित थे। इसलिए युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति को चरम सीमा पर पहुँचते देखकर भी उन्हें मद छू तक नहीं गया। उलटा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उन्होंने ब्राह्मणों के चरण धुलाने का काम स्वयं अपने हाथों में लिया।

ऐसे होते हैं प्रभु-भक्त!

भक्त लोग ऐसे प्रभु-भक्तों के भक्त बनकर भी अपना कल्याण

कर सकते हैं, परन्तु यह भक्ति भी तो सीखनी पड़ती है! आज हमारे देश में सहस्रों नरनारी 'कृष्ण कृष्ण राधे कृष्ण' आदि शब्दों से कृष्ण को याद करते हैं। कृष्ण अपने जीवनकाल में पूजे गए। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उन्हें अर्घ्यदान मिला और युधिष्ठिर की ओर से दुर्योधन के पास जब वे शान्ति-सन्देश लेकर गए थे तब भी सारे रास्ते-भर उनका बड़ा स्वागत हुआ, परन्तु इस थोथी भक्ति से कुछ लाभ नहीं। कृष्ण स्वयं बताते हैं कि यदि तुम मेरे भक्त बनना चाहते हो तो क्या करो।

वे कहते हैं कि—

'मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'

यदि तुम मेरे भक्त बनना चाहते हो तो मेरे सदृश बन जाओ। जैसा मैं स्वकर्मणा अर्थात् अपने चुने हुए क्षात्रधर्म के मार्ग से अपने प्रबु की निष्कामभाव से अर्चना करता हूँ ऐसे ही तुम भी अपना-अपना मार्ग चुनकर चातुवर्ण्य के द्वारा पूर्ण कर्मयोगी बनकर प्रभु की स्वकर्मणा अभ्यर्चना करो। हम 'कृष्ण कृष्ण राधे कृष्ण' आदि के व्यर्थ कण्ठलेषण में न पड़कर क्या करें—यही गीता के १८वें अध्याय में बताया गया है। यह जीवन शयनक्षेत्र नहीं है, कुरुक्षेत्र है, इसलिए कर्म करो। क्या करो?

गीता के अनासक्त कर्मयोगमय मार्ग को झोंपड़ी-झोंपड़ी तक पहुँचाओ।

कृष्ण ने राजनीति द्वारा विश्व का कल्याण करना चाहा, परन्तु राजनीति अधूरी है।

राजनीति कहती है—'यथा राजा तथा प्रजा'।

परन्तु राजनीति से पहले ब्रह्मनीति है। ब्रह्मनीति कहती है, यथा प्रजा तथा राजा, जिस प्रजा का मस्तिष्क विद्या द्वारा परिष्कृत तथा अन्तःकरण सदाचार की शिक्षा से पवित्र हो चुका हो, वही ठीक राजा का चुनाव कर सकती है, नहीं तो भ्रष्टमति प्रजा भ्रष्टाचारी शासक चुनकर और अधिक भ्रष्टाचारी होते-होते एक दिन नष्ट हो जाती है।

इसलिए वेद ने कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

—यजु० २०-२५

जहाँ ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति दोनों परस्पर एक-दूसरे की समर्थक होकर चलती हैं उस पुण्य देश को मैं जान जाऊँ जहाँ विद्वान् व्रताग्नि-सम्पन्न होते हैं।

कृष्ण जैसे महात्मा ने एक भवन खड़ा किया किन्तु वह उनके जीवनकाल में ही अलंप्राय हो गया, क्योंकि ब्रह्मनीति के साथ नहीं दिया। कृष्ण तो गुण-कार्यानुसारिणी वर्णव्यवस्था की सृष्टि कर गए, पर भारत के ब्राह्मणत्व के मिथ्याभिमानियों ने उसे नष्ट कर डाला। उज्जयिनी की ज्योति मथुरा में विलुप्त हो गई। इसलिए एक महापुरुष ने विरजानन्द दण्डी के हाथ से मथुरा में फिर उस ज्योति को ग्रहण किया। आओ, आज ब्रह्मशक्ति तथा क्षात्रशक्ति दोनों मिलकर धर्म की स्थापना के लिए चलें। यही मौद्गल्य* का गीताभाष्य लिखने का उद्देश्य है। इस भाष्य की सर्वश्रेष्ठ भूमिका है—'स्वयं कृष्ण का जीवन', इसलिए उसके बिना यह भाष्य अधूरा रह जाता। इस जीवन के साथ ही यह भाष्य आरम्भ करते हैं। कृष्ण-भक्तो! कृष्ण सरीखे प्रभु-भक्त तथा कर्मयोगी बन जाओ! वर्णाश्रम-व्यवस्था का उद्धार हो, विश्व का उद्धार हो, संसार वेद पढ़े और उसका विस्तार अपने जीवन में देखे—यही भगवान् से प्रार्थना है।

मत भूलो श्रीकृष्णचन्द्र कह रहे हैं—

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'।

—पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार
(स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती)

* यह पं० बुद्धदेवजी का गोत्रनाम है। (सं०)

ओ३म्

प्रथमोऽध्यायः

तिब्बत में हिमाचल की गोद में मानव ने जन्म लिया। जगदम्बा प्रभु ने मनन की सन्तान मानव की ज्ञान-पिपासा तथा भूख मिटाने के लिये इस नवजात शिशु को वेद रूप दूध की धारा में यथेष्ट स्नान कराया। मानव सृष्टि चारों ओर फैलने लगी। जहाँ जगदम्बा का यह नवजात शिशु जाता, अपने प्यारे वेद के सहारे पदार्थों और संस्थाओं का नामकरण करता। इन वेद के भक्तों ने नगरी बसाई, नामकरण के समय वेद में पढ़ा—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानाम् पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

—अथर्व० १०।२।३१

उन्होंने अपनी राजधानी का नाम अयोध्या रख दिया। इसी वंश का एक राजा अपने दादा का संकल्प पूरा करने के लिये कटिबद्ध था। अन्त को वह सफल हुआ। वेद में गन्तव्य स्थान की ओर जाने वाली सेना का नाम गंगा बढ़ा है। इस पराक्रमी सागर के पोते वीर भगीरथ ने इस गन्तव्य लक्ष्य की ओर जाने वाली नदी का नाम भी गंगा रख दिया।

ये वेद-भक्त भारत के पूर्व की ओर घनी बस्तियाँ बसा कर पश्चिम की ओर बढ़े। पश्चिम की ओर विशाल मैदान पड़ा था। वेद-भक्तों ने देखा इस जंगल को सुन्दर बस्ती बनाना है। इसलिये यहाँ रात-दिन श्रम करना पड़ेगा। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' का पाठ पढ़ने वालों ने जंगल का नाम करु-जांगल तथा बस्ती का नाम कुरुक्षेत्र रक्खा। विदेह तथा कोशल की ओर से आगे बढ़ती हुई यह सेना पंजाब की ओर आगे बढ़ी। किन्तु महाभारत काल तक पंजाब में छोटी-छोटी बस्तियाँ थीं और लम्बे-लम्बे जंगल थे। हाँ, शतपथ ब्राह्मण (काल) में विदेह, कोशल तथा कुरुक्षेत्र का तो वर्णन है, पंजाब की बस्तियों का नहीं। साथ ही कुरुक्षेत्र को बड़ी पवित्र भावना से याद किया गया है। 'कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनमास'। इस कुरुक्षेत्र में एक दिन न्याय और अन्याय

की सेना आमने-सामने लड़ने के लिये इकट्ठी हुई। विचित्र बात यह कि न्याय का योद्धा मोह के पंजे में फँसकर 'आचार्याः पितरः पुत्राः श्यालाः सम्बन्धिनः तथा' की दुहाई देने लगा। उस समय सच्चे मार्ग-दर्शक ने चिल्लाकर कहा—यह जीवन धर्म-क्षेत्र है और यह पवित्र भूमि भी धर्म-क्षेत्र है। धर्म का अर्थ पूजा-पाठ, गाना-बजाना, भजन करना, आदि नहीं है, धर्म करने की वस्तु है, गाने की नहीं। यह मानव-जीवन भी इस पवित्र भूमि की तरह धर्म-क्षेत्र है, अर्थात् 'कुरु' क्षेत्र है, भज-गाय-नृत्य-क्षेत्र नहीं और तू यहाँ अवसाद की मुद्रा का अभिनय कर रहा है। बस, गीता का आरम्भ 'धर्म-क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' शब्दों से करने का यही गूढ़ भाव है। अक्षरों का अर्थ सीधा है। धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥

हे संजय! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवः समवेताः मामकाः पाण्डवाश्चैव किम् अकुर्वत?

हे संजय! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्र में युद्धार्थी होकर इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के (बच्चे) क्या करने लगे?

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

तदा तु राजा दुर्योधनः पाण्डवानीकं व्यूढम् दृष्ट्वा आचार्यमुपसंगम्य वचनमब्रवीत्।

तब तो राजा दुर्योधन ने (जब) पााण्डवों की सेना को व्यूहबद्ध (सामने खड़े) देखा, तो गुरु द्रोणाचार्य के पास पहुँच कर (वह इस प्रकार) वचन बोला।

विशेष विवेचन—हर मनुष्य का शरीर उसका धर्म-क्षेत्र अर्थात् कुरुक्षेत्र है। उसमें दैव तथा आसुर संकल्प इसी प्रकार प्रतिक्षण युद्धार्थी होकर आमने-सामने खड़े रहते हैं।

महाभारत का युद्ध भारत के इतिहास की एक सच्ची घटना है,

कपोल-कल्पना नहीं। उस घटना का प्रयोग महाकवि वेद-व्यासजी ने मनुष्य को धर्म का सच्चा स्वरूप दिखाने के लिये अपने काव्य में किया है और दैवी-सम्पत्ति की सेना के संचालक का स्वरूप योगिराज कृष्ण को दिया है। भाव कृष्ण वार्ष्णेय के, शब्द कृष्ण द्वैपायन के, घटना इतिहास की। अहो लोकोत्तरः संगमः।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

आचार्य! तव धीमता शिष्येण द्रुपद-पुत्रेण व्यूढाम् एताम् पाण्डुपुत्राणाम् महतीम् चमूम् पश्य।

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूहबद्ध इस पाण्टु-पुत्रों की विशाल सेना को देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

अत्र युधि भीमार्जुनसमाः शूराः महेष्वासाः युयुधानो विराटश्च महारथः द्रुपदश्च॥

इस युद्ध-व्यूह में भीम तथा अर्जुन के समान शूर महाधनुर्धर खड़े हैं। युयुधान हैं, विराट हैं और महारथी द्रुपद हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुंगवः॥ ५॥

धृष्टकेतुः, चेकितानः, वीर्यवान् काशिराजश्च पुरुजित कुन्तिभोजश्च नरपुंगवः शैव्यश्च।

धृष्टकेतु है, चेकितान है, वीर्यवान् काशिराज है, पुरुजित् है, कुन्तिभोज है और नरपुंगव शिविनरेश हैं।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

विक्रान्तः युधामन्युश्च वीर्यवान् उत्तमौजाश्च सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।

यहाँ इस युद्ध-व्यूह में पराक्रमी युधामन्यु भी है, वीर्यवान् उत्तमौजाः भी है। सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु भी है, द्रौपदी के पाँचों पुत्र भी हैं और ये सब के सब महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

हे द्विजोत्तम! ये तु अस्माकम् विशिष्टाः मम सैन्यस्य नायकाः तान् निबोध, तान् ते संज्ञार्थम् ब्रवीमि।

हे द्विजोत्तम! जो भी हमारे विशेष लोग हैं, मेरी सेना के नेता हैं उन्हें भी जानिये। आपको ठीक सूचना देने के लिये नाम लेकर कहता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च समितिंजयः कृपश्च अश्वत्थामा विकर्णश्च तथैव च सौमदत्तिः।

सबसे प्रथम तो हे द्रोणाचार्य! आप हमारे नेता हैं, फिर भीष्म और कर्ण, फिर युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले कृपाचार्य, फिर अश्वत्थामा, फिर विकर्ण और फिर सौमदत्ति।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९ ॥

अन्ये च बहवः मदर्थे त्यक्तजीविताः नाना-शस्त्र-प्रहरणाः शूराः सन्ति, ये सर्वे युद्ध-विशारदाः।

और भी मेरे लिये अपने प्राण परित्याग करने वाले नाना प्रकार के शस्त्र-प्रहार में निपुण शूर पुरुष हैं, जो सब के सब युद्ध-विशारद हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

तद् भीष्माभिरक्षितमस्माकं बलम् अपर्याप्तम्। एतेषान्तु इदं भीमाभिरक्षितं बलं पर्याप्तम्।

सो भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना अपरिमेय है और इधर इनकी यह भीम द्वारा रक्षित सेना तो बस नपी-तुली है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

सर्वेषु च अयनेषु यथाभागमवस्थिताः भवन्तः सर्व एव हि भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु।

और सब महत्त्वपूर्ण मोड़ों पर अपने-अपने भाग पर खड़े हुए आप सब के सब भीष्म का बचाव करें।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः तस्य हर्षं संजनयन् उच्चैः सिंहनादं विनद्य शंखम् दध्मौ।

उस समय कुरुवंश के बूढ़े प्रतापी भीष्म पितामह ने दुर्योधन को हर्षित करते हुए ऊँचा सिंहनाद करके शंख बजाया।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

ततः सहसैव शंखाश्च भेर्यस्च पणवानकगोमुखाः अभ्यहन्यन्त। स शब्दः तुमुलो अभवत्।

उसके पश्चात् एकदम शंख, नगाड़े, पणव, आनक, गोमुख आदि नाना प्रकार के बाजे बजने लगे। सम्पूर्ण वाद्यों का वह एक-साथ नाद अतिविशाल था।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।

तब श्वेत घोड़ों से युक्त महान् रथ में बैठे हुए माधव (कृष्ण) तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

हृषीकेशः पाञ्चजन्यं, धनञ्जयः देवदत्तं, (दध्मौ) भीमकर्मा वृकोदरः पौण्ड्रं (नाम) महाशंखम् दध्मौ।

उन शंखों के नाम सुनिये। इन्द्रियों के राजा श्रीकृष्ण ने पाँचजन्य नामक शंख बजाया। अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया तथा भीमकर्मा भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महान् शंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

कुन्तीपुत्रो राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं (दध्मौ) नकुलः सहदेवश्च सुघोष-मणिपुष्पकौ (दध्मतुः)।

कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नाम का शंख बजाया, नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये। अन्य लोगों ने भी अलग-अलग शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥

परमेष्वासः काश्यश्च महारथः शिखण्डी च धृष्टद्युम्नो विराटश्च अपराजितः सात्यकिश्च।

महान् धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और युद्ध में कभी पराजित न होने वाला सात्यकि।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

हे पृथिवीपते! द्रुपदो द्रौपदेयाश्च महाबाहुः सौभद्रस्च सर्वशः पृथक् पृथक् शखान दध्मुः।

हे पृथिवीपति धृतराष्ट्र! द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, महाबाहु अभिमन्यु इन सबने चारों ओर अलग-अलग शंख बजा दिये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

नभश्च पृथिवीं चैव व्यनुनादयन् स तुमुलः घोषः धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।

आकाश और पृथिवी को गुँजाते हुए उस विशाल घोष ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के दिल चीर डाले।

अथ व्यवस्थिनान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥

अथ शस्त्र-सम्पाते प्रवृत्ते धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् वृष्ट्वा कपिध्वजः पाण्डवः धनुरुद्यम्य।

इस पर हथियारों की टक्कर आरम्भ हो जाने पर वानर के चिह्न

वाली ध्वजा वाले पाण्डव अर्थात् अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को सामने व्यूहबद्ध खड़े देखकर धनुष तान कर,

अर्जुन उवाच

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥

हे महीपते! तदा हृषीकेशं इदं वाक्यमाह हे अच्युत! मे रथम् उभयोः सेनयोर्मध्ये स्थापय।

हे राजन् धृतराष्ट्र! तब इन्द्रियों के राजा श्रीकृष्ण से यह वाक्य बोला। हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दो।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

यावदहम् एतान् अवस्थितान् योद्धुकामान् निरीक्षे, अस्मिन् रणसमुद्यमे मया कैः सह योद्धव्यम्।

जरा मैं जाँच तो करूँ कि मेरे सामने लड़ने की कामना से कौन जमे हैं। मुझे इस युद्ध समारम्भ में किन-किन के साथ लड़ना है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तरा,ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

अहं ये एते अत्र युद्धे दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य प्रियचिकीर्षवः समागताः (तान्) योद्धुकामानवेक्षे।

मैं यहाँ इस युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन की मनचाही करने वाले जो लोग इकट्ठे हुए हैं उन युद्धार्थियों को देखूँ तो सही।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥

हे भारत! गुडाकेशेन एवमुक्तो हृषीकेशः उभयोः सेनयोर्मध्ये रथोत्तमं स्थापयित्वा।

निद्रा के स्वामी अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा तो श्रीकृष्ण उस श्रेष्ठ रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करके—

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥

भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः सर्वेषाम् महीक्षिताम् च प्रमुखतः, पार्थ! एतान् समवेतान् कुरून् पश्य इति उवाच।

भीष्म द्रोण के सामने और सम्पूर्ण राजाओं के सामने हे पार्थ! इन जुटे हुए कुरुवंशियों को देखो इस प्रकार बोले।

तत्रापस्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥

अथ पार्थः तत्र स्थितान् पितॄन् पितामहान् आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् तथा सखीन् अपश्यत्।

अर्जुन ने वहाँ डटे हुए पितरों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, बेटों, पोतों तथा मित्रों को देखा।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥

उभयोः सेनयोरपि श्वशुरान् सुहृदश्चैव (अपश्यत्) तान् सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् समीक्ष्य सः कौन्तेयः।

और वहाँ दोनों सेनाओं से श्वशुर और हितैषियों को भी देखा। उन सब बन्धुओं को इस प्रकार रण में डटा देख कर वह कुन्तीपुत्र अर्जुन।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥

परया कृपया आविष्टः विषीदन् इदम् अब्रवीत्, कृष्ण! इमं स्वजनं युयुत्सुम् समुपस्थितं दृष्ट्वा।

अत्यन्त कृपा से भर कर दुःखी होते हुए इस प्रकार बोला— हे कृष्ण! इन सब अपने लोगों को युद्धार्थी रूप में उपस्थित देख कर।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥

मम गात्राणि सीदन्ति मुखं च परिशुष्यति मे शरीरे वेपथुः च भवति रोमहर्षश्च जायते।

मेरे अंग धंसे जा रहे हैं, मुख सूख रहा है। मेरे शरीर में कम्पकम्पी

तथा रोमांच हो रहा है।

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥

गाण्डीवं हस्तात् स्त्रंसते त्वक् चैव परिदह्यते अवस्थातुं च न शक्नोमि मे मनः भ्रमतीव च।

गाण्डीव हाथ से छूटा जा रहा है, त्वचा जल रही है, मैं सम्भल नहीं रहा हूँ। मन चक्कर-सा खा रहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

हे केशव! सारे संसार की प्रवृत्ति यही देख रहा हूँ कि जिस निमित्त जो साधन प्रयोग करना चाहिये उससे ठीक उलटे साधन प्रयोग में आ रहे हैं, ये उलटे लक्षण हैं, जिनका स्पष्ट दृष्टान्त यह युद्ध है। क्षत्रिय कल्याण के लिये युद्ध करते हैं परन्तु मुझे तो इस युद्ध में अपने आत्मीयों को मार कर पीछे कुछ कल्याण होगा, ऐसा नहीं दीखता।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

हे कृष्ण! विजयं न कांक्षे राज्यं सुखानि च न (कांक्षे) हे गोविन्द! नः राज्येन भोगैः जीवितेन वा किम्?

हे कृष्ण! न मैं विजय चाहता हूँ, न नाना प्रकार के सुख भोग, हे गोविन्द! हमें राज्य, भोग और यहाँ तक कि जीवन से भी क्या लाभ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

येषाम् अर्थे नः राज्यम् काङ्क्षितं भोगाः सुखानि च काङ्क्षितानि, ते इमे प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे अवस्थिताः।

जिनके लिये हमें राज्य, भोग और सुखों की अभिलाषा है वे ही आज प्राण और धन विसर्जन करके युद्ध में डटे हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा॥ ३४॥

आचार्याः पितरः पुत्राः तथैव पितामहाश्च, मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः।

इनमें आचार्य भी हैं, पितर भी हैं, पुत्र भी हैं, पितामह भी हैं, मामा भी हैं, ससुर भी हैं, पोते भी हैं, साले भी हैं तथा अन्य सम्बन्धी भी हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यिराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

हे मधुसूदन! एतान् घ्नतः अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोःअपि च हन्तुम् न इच्छामि किन्नु महीकृते।

हे मधुसूदन! ये सब मुझे मारने भी आएँ तो भी और इन के मारने से त्रिलोकी का राज्य मिलता हो तो भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता, फिर धरती के पीछे तो इन्हें क्या मारूँ।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥

हे जनार्दन! धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात्? एतान् आततायिनः हत्वा अस्मान् पापम् एव आश्रयेत्॥

हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या सुख मिलेगा? उलटा इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा, क्योंकि ये हमारे स्वजन हैं।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

तस्मात् वयं स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तु न अर्हाः हे माधव! स्वजनं हत्वा हि वयं कथं सुखिनः स्याम?

इसलिये हमें अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारना उचित नहीं। हे माधव! भला अपने आत्मीय जनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥

यद्यपि एते लोभोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकं न पश्यन्ति।

यद्यपि लोभ ने इनकी चेतना मार दी है और इसीलिये ये लोग

कुलक्षय से उत्पन्न होने वाले दोष को तथा मिद्रोह के पातक को नहीं देखते।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

कुलक्षयकृतं दोषम् प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुम् कथं न ज्ञेयम्?

परन्तु हमारी बुद्धि लोभ ने नहीं मारी है। हम तो कुलक्षय से उत्पन्न होने वाली हानियों को समझते हैं। हमें इस पाप से बचना क्यों नहीं जान लेना चाहिए?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥

कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति उत धर्म्मे नष्टे कृत्स्नं कुलमधर्मोऽभिभवति।

उत्तम कुलों के क्षय हो जाने पर कुल-परम्पराएँ नष्ट हो जाती हैं, और उन परम्पराओं के नष्ट होने पर अधर्म सम्पूर्ण कुल को दबा लेता है।

वि०वि०—हर उत्तम कुल की कुछ पवित्र परम्पराएँ और एक न एक लोक कल्यामकारी संकल्प होता है, जो हर संकट में उन्हें बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिये प्रेरित करता है। ये सब कुल धर्म कहलाते हैं किन्तु कुल के नेताओं के मारे जाने पर ये सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नष्ट होने पर जब उस कुल के सदस्यों के सामने बलिदान के लिये प्रेरणा देने वाला कोई लक्ष्य नहीं रहता तो सारे कुल में स्वार्थ और आपाधापी का बोल-बाला हो जाता है और अधर्म सारे कुल को दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥ ४१॥

हे कृष्ण! अधर्माभिवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति। हे वार्ष्णेय! स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते।

हे कृष्ण! अधर्म के अधिक बढ़ जाने पर कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है।

वि०वि०—हे कृष्ण! इस संसार में धर्म तथा उच्च भावनाओं का अन्तिम दुर्ग स्त्री-हृदय है। किन्तु जब चारों ओर अधर्म का बोल-बाला हो जाता है तो यह अन्तिम दुर्ग भी टूट जाता है। एक तो चुनाव का क्षेत्र संकुचित हो जाने से विवाह भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार नहीं हो पाते और गुप्त व्यभिचार भी बहुत फैल जाता है, तो चारों ओर स्त्रियों के दूषित हो जाने से हे वार्ष्णेय! वर्णसंकर फैल जाता है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥
संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नकराय एव भवति,
एषां पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः हि पतन्ति॥

जहाँ वर्णसंकर विवाह होता है अथवा व्यभिचार होता है, वहाँ परस्पर गुण, कर्म, स्वभाव न मिलने से कुल नरक बन जाता है, और इस प्रकार के कुलघाती और वह कुल जहाँ इस प्रकार के लोग हों नरक जीवन बनाने के लिये ही साधन करते हैं और जब युद्ध में जवान लोग मर जाते हैं तो बूढ़े लोगों को आपत्काल में वानप्रस्थाश्रम छोड़कर घर सम्भालना पड़ता है तथा जीवन भर की सैनिक वृत्ति छोड़कर लकड़ियों का टाल खोलने जैसा कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार वे वर्ण और आश्रम दोनों ओर से पतित होते हैं, क्योंकि उन बूढ़ों और छोटे बच्चों को पिण्ड तथा उदक अर्थात् अन्न और जल देने वाला कोई नहीं रहता।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥
एतैः वर्ण-संकर-कारकैः कुलघ्नानां दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माश्च उत्साद्यन्ते।

इस प्रकार के वर्ण-संकर उत्पन्न करने वाले कुलघाती लोगों के दोष से शाश्वत जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥
हे जनार्दन! उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणाम् नियतं नरके वासो भवति इति अनुशुश्रुम।

हे जनार्दन! हम आप्त जनों से यह सुनते चले आये हैं कि जिन मनुष्यों के कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं, वे मनुष्य-समाज—चाहे वे जाति-रूप हों या राष्ट्र-रूप उन सब जातियों और राष्ट्रों का जीवन सदा दुःखमय होने के कारण उनका सदा नरक में वास होता है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥
अहो बत वयम् महत् पापं कर्तुं व्यवसिताः यद् राज्य-सुख-लोभेन स्वजनं हन्तुम् उद्यताः।

हे हन्त! हम बड़ा भारी पाप करने पर उतारू हो गये हैं जो राज्य-सुख के लोभ से अपने आत्मीय जनों को मारने के लिये तैयार हो गये हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥
यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः अप्रतीकारं अशस्त्रं मां रणे हन्युः, तत् मे क्षेमतरम् भवेत्।

यदि प्रतीकारहीन और शस्त्ररहित मुझे, हाथों में शस्त्र धारण किये हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रण-क्षेत्र में मार दें तो मेरा अधिक कल्याण होगा (मुझे यह सन्तोष तो होगा कि मैंने स्वजन-हत्या नहीं की)।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥
एवं उक्त्वा शोकसंविग्नमानसः अर्जुनः संख्ये सशरं चापं विसृज्य रथोपस्थे उपाविशत्।

इस प्रकार कह कर शोक से व्याकुल मन वाला अर्जुन युद्ध में बाण सहित धनुष का विसर्जन करके रथ की गोद में बैठ गया।

इति प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अर्जुन को कौन-सा भाव युद्ध से रोक रहा था, उनको जाने बिना हम दूसरे अध्याय के महत्त्व को नहीं समझ सकते। वह भाव था स्वजन-प्रेम। प्रथम अध्याय के २८वें श्लोक में वह कहता है—**''दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण! युयुत्सुं समुपस्थितम्''**। हे कृष्ण! मेरे स्वजन युयुत्सु होकर उपस्थित हुए हैं इन्हें देखकर मेरे गात्र धंस रहे हैं। फिर ३१वें में वही बात कही है—**''न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे''**। यहाँ फिर जिनके लिये हमें राज्य भोग और सुख प्यारे हैं वे कौन—**'आचार्याः पितरः पुत्राः'** इत्यादि। ३७वें में फिर स्वबान्धवान् और स्वजनम् शब्द आये हैं। फिर आगे कुलघ्नों का नरक-वास बताया है। और ३६वें में तो यहाँ तक कह दिया है कि स्वजन आततायी हों तब भी उनके मारने में कुछ आनन्द नहीं, उल्टा पाप ही लगता है। इससे स्पष्ट है कि अर्जुन की दृष्टि में क्षात्र धर्म का सबसे बड़ा कार्य स्वजन-रक्षा है। धर्म-रक्षा अथवा लोक-कल्याण नहीं। धार्त्तराष्ट्र आततायी हैं तो क्या! हम मर जावेंगे, ये राजा हो जावेंगे, राज्य रहेगा तो स्वजनों के हाथ में—अपने कुल में। अर्जुन के इस मति-विभ्रम को श्रीकृष्ण किस प्रकार दूर करते हैं सो आगे देखिये।

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

तम् तथा कृपया आविष्टं विषीदन्तम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् (अर्जुनम्) मधुसूदनः इदं वाक्यम् उवाच।

उस कृपा के दबाए हुए (स्वजन प्रेम के मारे) नीचे धंसते हुए अश्रुपूर्ण और व्याकुल नेत्र वाले अर्जुन को मधुसूदनकृष्ण यह वाक्य बोले।

श्रीकृष्ण उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

हे अर्जुन! इदम् अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरं च कश्मलम्, विषमे त्वा कुतः समुपस्थितम्?

हे अर्जुन यह अनार्यों को प्यारी, परम दुःखदायक और अकीर्ति करने वाली बेहोशी इस बेढंगे अवसर पर तुझ पर कैसे आ चढ़ी?

वि०वि०—श्रेष्ठ पुरुषों के तीन अंकुश होते हैं। सर्वप्रथम आत्मग्लानि, फिर प्रभु के दण्ड का भय, तीसरा लोक-लज्जा। पर यह कर्म तो अनार्य नुष्ट (आत्मग्लानि-भयरहित) अस्वर्ग्य (प्रभुदण्ड-भय-रहित) अकीर्तिकर (लोकनिन्दा-भय-रहित) है ऐसी बात तू होश में तो कर नहीं सकता। फिर रण-क्षेत्र में यह कैसी बेढ़ंगी बेहोशी।

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

हे पार्थ! क्लैव्यम् मा स्म गमः एतत् त्वयि न उपपद्यते। हे परंतप! क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ।

हे अर्जुन! नपुंसकता मत पकड़। यह रूप तेरे साथ मेल नहीं खाता। हे परंतप! इस क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को छोड़कर खड़ा हो-जा।

वि०वि०—परन्तु अर्जुन पर तो स्वजन-घात और उनमें भी गुरु-घात का भूत सवार था। भीष्म में दोनों ही गुण थे और द्रोणाचार्य यद्यपि पहिले गुरुजन थे परन्तु अर्जुन पर उनका इतना वात्सल्य था कि वह स्वजन भी कुछ कम नहीं थे। इसलिये उनका तो स्पष्ट नाम ही ले उठा।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

हे मधुसूदन! हे अरिसूदन! अहं संख्ये भीष्मं द्रोणं च (उभौ) पूजार्हौ कथम् इषुभिः प्रतियोत्स्यामि।

हे मधुसूदन! हे अरिसूदन कृष्ण! इस युद्ध में मैं पूजा के योग्य भीष्म और द्रोण इन दोनों के सामने कैसे वाण-प्रहार से लड़ने डटूँगा?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तु भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

महानुभावान् गुरून् अहत्वा हि इहलोके भैक्ष्यम् अपि भोक्तुं श्रेयः। गुरून् हत्वा तु इहैव अर्थ-कामान् रुधिरप्रदिग्धान् भोगान् भुंजीय।

इन महानुभाव गुरुजनों को न मारने के कारण इस लोक में यदि भीख माँग कर भी खाना पड़े तो भला। सोचिये तो सही क्या इन गुरुजनों को मारकर अर्थ कामों का—रुधिर से लिप्त भोगों का—उपभोग करूँ?

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीया, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेषुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

कतरत् नः गरीयः, यद्वा जयेम यदि वा नः जयेयुः एतत् च न विद्मः यानेव (धार्त्तराष्ट्रान्) हत्वा न जिजीविषामः ते धार्त्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः।

कभी इस लोक में निश्चित विजय-लाभ दीखे तो मनुष्य प्रलोभन वश ही कोई भूल कर बैठे पर यहाँ तो हम में से कौन अधिक बलवान् है, हम उन्हें जीतेंगे वा वे हमें जीतेंगे हम यही नहीं जानते। दूसरी ओर जय-पराजय किसी की भी हो स्वजननाश तो निश्चित है। जिन्हें मार कर हम जीवित रहना भी पसन्द नहीं करते वे भी धार्त्तराष्ट्र सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

कार्पण्यदोषोपहत-स्वभावः धर्म-सम्मूढ-चेताः अहं त्वाम् पृच्छामि यत् निश्चितं श्रेयः स्यात् तत मे ब्रूहि अहं ते शिष्यः अस्मि त्वां प्रपन्नं माम् शाधि।

हे कृष्ण! आज दीनता के कारण मेरा उग्र क्षात्र स्वभाव शक्तिहीन हो गया है। यह दीनता भीरुता के कारण नहीं, किन्तु मेरा चित्त आज यह निश्चय नहीं कर पा रहा कि धर्म मारना है अथवा न मारना। सो इसलिये मेरे लिये जो ग्रहणीयतर मार्ग है वह मुझे बता। मैं तेरा शिष्य हूँ, मुझ शरणागत को शासन कर।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

भूमौ असपत्नम् ऋद्धम् राज्यम् सुराणामपि च आधिपत्यम् अवाप्य यत् मम इन्द्रियाणाम् उच्छोषणं शोकम् अपनुद्यात् (तत्) नहि प्रपश्यामि।

धरती पर सब प्रकार से समृद्ध शत्रुहीन राज्य पाकर तथा वायु, मेघ, विद्युत् आदि जड़ देवताओं पर आधिपत्य पाकर भी, जो मेरी इन्द्रियों को सुख डालने वाले युद्ध-परिणाम के चिन्तन से उत्पन्न शोक को दूर कर दे, ऐसी कोई वस्तु मैं नहीं देख रहा हूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णींबभूव ह॥ ९॥

हे परन्तप! गुडाकेशः हृषीकेशम् एवं उक्त्वा गोविन्दम् न योत्स्ये इति उक्त्वा तूष्णीं बभूव है।

हे परन्तप धृतराष्ट्र! अर्जुन इस प्रकार श्री कृष्ण से कहकर (और) हे गोविन्द! अब मैं नहीं लड़ूँगा यह कह कर चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

हे भारत! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं तं प्रहसन्निव हृषीकेशः इदं वचः उवाच।

हे भारत! (धृतराष्ट्र!) दोनों सेनाओं के बीच इस प्रकार निढाल होते हुए उस अर्जुन को हँसते हुए श्रीकृष्ण ने इस प्रकार वचन कहा।

श्रीकृष्ण उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः प्रज्ञावादान् च भाषसे, पण्डिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति।

हे अर्जुन! तू उन पर शोक कर रहा है, जो शोक करने योग्य नहीं हैं और जिस प्रकार पण्डित लोग यह जानते हुए भी कि हम भूल पर हैं बड़े-बड़े लच्छेदार युक्ति प्रमाणों से उसे ठीक सिद्ध करना चाहते हैं। इसी प्रकार की पण्डिताई तू छाँट रहा है। क्या तू नहीं जानता कि वास्तविक पण्डित गतासु अर्थात् मरों पर तो इसलिये शोक

नहीं करते कि वे मर चुके, और जीतों पर इसलिये शोक नहीं करते कि उन्हें कर्त्तव्य पालन करना है, सो शोक के लिये फुर्सत कहाँ?

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

न तु एव जातु अहम् न आसम् न त्वम् न इमे जनाधिपाः, न च एव अतः परं वयम् सर्वे न भविष्यामः।

हे अर्जुन! न तो कभी कोई ऐसा समय था जब न मैं था न तू था और न ये सब राजा लोग थे। और न भविष्य में कभी ऐसा समय आने वाला है जब हम सब नहीं होंगे। अर्थात् जीवात्मा नित्य है और शरीर-सम्बन्ध अनित्य है। यही बात अगले श्लोक में और स्पष्ट है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनम् जरा भवन्ति तथा देहान्तर-प्राप्तिः भवति तत्र धीरः न मुह्यति।

जब जीवात्मा जन्म लेता है तो इस देही के देह में जिस प्रकार बालकपन, जवानी और बुढ़ापा यह तीन अवस्था हैं। इन में देह बदलता है, देही नहीं। इसी प्रकार देहान्तर-प्राप्ति एक चौथी अवस्था है। इसलिये समझदार इसमें धोखा नहीं खाता।

वि०वि०—जीवात्मा जीवात्मा सब एक से हैं फिर उनमें भेद उत्पन्न करने वाली वस्तु क्या है। शीतोष्ण सुख-दुःखादि द्वन्द्वों ने उन्हें कहाँ तक किस मात्रा तक स्पर्श किया है अर्थात् वे उन्हें कितना अनुभव करते हैं, यही उनमें भेद उत्पन्न करने वाली वस्तु है। बाहर से वे किसी मनुष्य के शरीर पर प्रभाव उत्पन्न न करें, यह असम्भव है। किन्तु उन्होंने अपनी आन्तरिक अनुभूति को किस मात्रा तक वश में किया है और किस मात्रा तक नहीं किया यह मात्रा-स्पर्श ही उनमें भेदक है। सो सबसे दुर्जेयतम मात्रा-स्पर्श मृत्यु के आतंक का है तेरी मानसिक दुर्बलता का सबसे पहिला कारण यह है कि तूने मृत्यु को अत्यन्त गहरी मात्रा तक महत्त्व दे दिया है। इसलिये कहते हैं कि—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

हे कौन्तेय! शीतोष्ण-सुखदुःखदाः मात्रास्पर्शाः तु आगमापायिनः अनित्याः सन्ति, हे भारत! तान् तितिक्षस्व।

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! शीतोष्ण सुख-दुःखादि की अनुभूति उत्पन्न करने वाले मात्रा-स्पर्श आने-जाने वाले होने के कारण अनित्य हैं। इसलिये हे भारत! इन्हें सहन करना सीख।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

हे पुरुषर्षभ! यम् धीरं समदुःखसुखम् पुरुषम् एते हि न व्यथयन्ति सः अमृतत्वाय कल्पते।

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जिस धीर पुरुष ने अपने आपको दुःख सुख दोनों अवस्थाओं में समान रखना सीख लिया है और जिसे ये उपर्युक्त मात्रास्पर्श व्यथित नहीं कर सकते हैं वही अमृतपदवी पाने में समर्थ होता है।

वि०वि०—शतपथ २.२.२.१४ में लिखा है—'नामृतत्वस्याशास्ति ससर्वमायुरेति।' वहाँ प्रसंग है—'देवा अमृता भूत्वा...... सपत्नानभ्यभवन्' अर्थात् देवों ने अमृत होकर अपने गिराने वालों को दबा लिया, उसी का स्पष्टीकरण किया कि उन्होंने पूर्ण आयु प्राप्त की सर्वथा मृत्यु-रहित होने की कोई कभी आशा न करे।

इसी प्रकार शीतोष्णादि द्वन्द्व शरीर पर आघात करते-करते एक न एक दिन उसे जीर्ण अवश्य करेंगे और शरीर-वियोग तो हर देही को होगा, परन्तु उस व्यथा को सहन करके वह आन्तरिक रूप से एक-रस रहे यह साधना से सम्भव है और उस साधना का पहिला पग है मृत्यु को एक साधारण घटना समझना। सो अर्जुन को उपदेश यहीं से आरम्भ हुआ है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

न असतः भावः विद्यते न सतः अभावः विद्यते उभयोः अपि अनयोः अन्तः तु तत्त्वदर्शिभिः दृष्टः।

भाव तथा अभाव दोनों के सम्बन्ध में एक अन्त अर्थात् सिद्धान्त निश्चित है—जो नहीं है वह कभी होगा भी नहीं और जो है वह सदा रहेगा, उसका रूपान्तर तो हो सकता है नाश कभी नहीं हो सकता। तत्त्वदर्शियों ने ऐसा ही निश्चय जाना है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

येन इदम् सर्वं ततं तत् तु अविनाशि विद्धि अस्य अव्ययस्य विनाशं कश्चित् कर्तुं न अर्हति।

जिसने यह सब ताना-बाना तना है, उस को तो अविनाशी जान, इस अव्यय तत्त्व का विनाश कोई नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

नित्यस्य अनाशिनः अप्रमेयस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः तस्माद् हे भारत! युध्यस्व।

नित्य अर्थात् कभी नष्ट न होने वाले इसीलिये कभी उत्पन्न न होनेवाले इसप्रकार अनादि अनन्त होने के कारण काल से अप्रमेय इस शरीरी अर्थात् आत्मा की जो वस्तु नष्ट होती है वह तो यह देह है सो जब असली स्वामी नित्य है तो उसकी नष्ट होने वाली वस्तु की तू क्यों चिन्ता करता है, इसलिये हे अर्जुन! युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

य एनं हन्तारं वेत्ति यः च एनं हतं मन्यते उभौ तौ न विजानीतः, न अयं हन्ति न हन्यते।

तुझे यही तो भय है कि तू हत्यारा हो जाएगा। परन्तु जो इस जीव को हत्यारा मानता है वह भूल में है। क्योंकि जब कोई मरा ही नहीं तो हत्यारा कहाँ से हो गया। इसलिये हत्यारा मानने वाला तथा मरा हुआ मानने वाला दोनों ही कुछ नहीं जानते। क्योंकि जीव किसी को नहीं मारता क्योंकि मारने से कोई मरता ही नहीं (केवल शरीर बदल लेता है)।

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

अयम् कदाचित् न जायते न वा म्रियते अयम् भूत्वा भूयः न भविता इति न, अजो नित्यः शाश्वतः पुराणः अयम् शरीरे हन्यमाने न हन्यते।

यह अनादि अनन्त जीवात्मा न कभी पैदा होता है न मरता है, यह कभी होकर और फिर कभी नहीं होगा, ऐसा नहीं है। यह अजन्मा अर्थात् अनादि नित्य शाश्वत अर्थात् निरन्तर चेष्टाशील सनातन तत्त्व है। शरीर के मारे जाने पर यह नहीं मरता। सो यदि नारियल का छिलका उतर गया तो हाय! नारियल, हाय!! नारियल चिल्लाना मूर्खता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

हे पार्थ! य एनम् अजम् अविनाशिनम् अव्ययम् नित्यं च वेद सः पुरुषः कथम् कं घातयति कम् च हन्ति?

हे अर्जुन! जिसने इस जीवात्मा को अनादि, अनन्त, नित्य और अविनाशी जान लिया, वह किस प्रकार किसी को मरवाता है और किस प्रकार किसी को मारता है?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि गृहणाति तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय अन्यानि नवानि संयाति।

जिस प्रकार मनुष्य फटे पुराने वस्त्र उतार कर दूसरे नये ग्रहण कर लेता है इसी प्रकार देही=जीवात्मा पुराने शरीर छोड़कर नये दूसरे ग्रहण कर लेता है।

वि० वि०—हे अर्जुन! सो विचार कि, नये कपड़े बदलने के दिन कोई रोता है कि हाय मेरे पुराने छूट गये। यदि किसी मनुष्य के घर चोर आवें और हीरे जवाहरात की पेटी सुरक्षित छोड़ जावें तथा कौड़ियाँ चुरालें तो वह हीरे जवाहरात के बच जाने पर खुशी मनावे अथवा कौड़ियों को रोवे। देख इस युद्ध में जो असली स्वामी है उसका तो कुछ भी नहीं बिगड़ता।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति, एनं पावकः न दहति, एनम् आपः च न क्लेदयन्ति, मारुतः न शोषयति।

इस शरीर के स्वामी जीवात्मा को शस्त्र काट नहीं सकते। आग जला नहीं सकती। पानी गीला नहीं कर सकता। पवन सुखा नहीं सकता।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अयं अच्छेद्यः अयं अदाह्यः अयम् अक्लेद्यः अयम् अशोष्यः एव च। अयं नित्यः अयं सर्वगतः अयं स्थाणुः अयं अचलः अयं सनातनः।

यही नहीं कि लोग इसे काटते नहीं, किन्तु यह कट सकता नहीं—यह अच्छेद्य है। यह जल भी नहीं सकता—यह अदाह्य है। यह गल सकता नहीं—यह अक्लेद्य है। यह सूख सकता नहीं—यह अशोष्य है। नित्य है, सम्पूर्ण देह में अपनी शक्ति के विस्तार से व्यापक है। स्थिर है, अचल है, सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अयं अव्यक्तः अयं अचिन्त्यः अयं अविकार्यः उच्यते तस्माद् एवं विदित्वा एनं शोचितुं न अर्हसि।

यह छिपा हुआ है, यह एक परमाणु किस प्रकार अनादि अनन्द शक्ति लिए हुए है, यह अचिन्त्य है। इसकी चेतना सुप्त हो सकती है, परन्तु लुप्त नहीं हो सकती। इस दृष्टि से यह अविकार्य है। इसको इस प्रकार का जान कर तुझे इसकी मृत्यु पर शोक करना उचित नहीं।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

अथ च एनं नित्यजातं मन्यसे नित्यं मृतं वा मन्यसे। हे महाबाहो! तथापि त्वं शोचितुं न अर्हसि।

हे अर्जुन! जीवात्मा या तो अजर-अमर-अविनाशी है या

क्षणभंगुर, ये दो ही पक्ष हो सकते हैं। यदि यह अजर-अमर है तो क्षणभंगुर देह के जाने से इसका बिगड़ा क्या? और यदि यह नित्य मृत है तब तो जब स्वामी ही नहीं रहा फिर तो किसी का कुछ बिगड़ा ही नहीं। जब भोगने वाला ही न रहा तो रोयें किसे? इसलिए हे महाबाहो! उस अवस्था में तो तुम्हें सुतरां शोक करना उचित नहीं। इस संसार में कोई अनहोनी घटना अचानक हो जाय तो धक्का भी लगे परन्तु—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

जातस्य हि मृत्युः ध्रुवः मृतस्य च जन्म ध्रुवम् तस्माद् अपरिहार्ये अर्थे त्वं शोचितुम् न अर्हसि।

जो पैदा हुआ है उसकी मौत निश्चित है, जो मरा है उसका जन्म निश्चित है। इस प्रकार जो अवश्यमेव होके रहने वाली बात है उस पर शोक मनाना तुझे उचित नहीं।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

हे भारत! भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि एव तत्र का परिदेवना?

इस संसार के प्राणि-मात्र का आदि अव्यक्त है, अन्त अव्यक्त है। केवल मध्य अर्थात् वर्तमान थोड़ी देर के लिये स्पष्ट होता है तो जो है ही रहस्य में छिपा हुआ उसमें रोना-धोना क्या?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

कश्चिद् एनम् आश्चर्यवत् पश्यति तथा एव च अन्यः आश्चर्यवद् वदति अन्यः च एनम् आश्चर्यवत्-शृणोति, एनं श्रुत्वा अपि च कश्चिद् न वेद एव।

पहले तो वे ही लोग बहुत थोड़े हैं जो इस जीवात्मा का रहस्य दर्शन करते हैं और उनके भी पल्ले क्या पड़ता है? 'आश्चर्य'। फिर कोई-कोई उस आश्चर्य को वाणी द्वारा दूसरों तक पहुँचाते हैं, फिर श्रोताओं को भी सुनकर आश्चर्य ही होता है और सच पूछो तो सुनने वाला आश्चर्य के अतिरिक्त कुछ जान भी तो नहीं पाता तो हे अर्जुन!

आश्चर्य का स्थान शोक को मत दे।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्व भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

हे भारत! सर्वस्य देहे अयम् देही नित्यं अवध्यः तस्मात् सर्वाणि भूतानि त्वं शोचितुं न अर्हसि।

एक बात निश्चित है सब देह–धारियों के अन्दर देही सदा अवध्य है। इसलिए प्राणि–मात्र की मृत्यु का शोक करना तुझे उचित नहीं।

वि० वि०—अर्जुन ठीक युद्ध–क्षेत्र में धनुष–बाण का विसर्जन करके हारे बैल की तरह बैठ गया था, उसकी इस दुर्बलता के दो कारण थे। एक तो क्षात्र–धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति, दूसरा स्वजन–हत्या का भय। श्री कृष्ण ने सबसे पहिले तो मृत्यु का महत्त्व घटाया। कहा कि तुझे स्वजन–हत्या से भय है, परन्तु सोच तो सही हत्या है क्या? यह तो एक वस्त्र–परिवर्तन मात्र है और तू न भी मारेगा तो समय पाकर ये सब मरेंगे ही अर्थात् वस्त्र–परिवर्तन करेंगे ही। इसलिये देखना यह है कि वस्त्र–परिवर्तन का हेतु क्या है? तू क्षत्रिय है, तू समझता है कि क्षत्रिय का धर्म स्वजन–रक्षा है तू अपने प्राण देकर भी, निष्प्रतिकार मर कर भी, भीख माँग कर भी स्वजन–हत्या का पाप सिर नहीं लेना चाहता और तू समझता है कि स्वजन–रक्षा ही क्षत्रिय का धर्म है, और फिर 'येषामथे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानिच' उन्हें मारकर मेरा कल्याण कैसे होगा? परन्तु हे अर्जुन! तेरा मौलिक मति–भ्रम यही है कि स्वजन–रक्षा क्षत्रिय का धर्म है। क्षत्रिय न तो यह देखता है कि कितने मरे न यह देखता है कि वे स्वजन थे या परजन। क्षत्रिय के लिये आततायी कभी स्वजन नहीं हो सकता और तू कहता है स्वजन आततायी भी हो तो उसे नहीं मारना। अर्जुन! क्षत्रिय का धर्म स्वजन–रक्षा नहीं, किन्तु सुजन–रक्षा है। हर दुर्जन उसका शत्रु है। हर सुजन उसका स्वजन। यह स्व और सु का भेद तुझे लक्ष्य भ्रष्ट कर रहा है। मनु ने कहा है—"गुरुं वा बाल–वृद्धं वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्।" मनु ने यह बात वेद से ली है। वेद में भगवान् कहते हैं 'अहम् भूमिमददाम् आर्याय' (ऋ० ४.२६.२) वेद ने यह तो कहीं नहीं कहा कि 'अहम् भूमिमददाम् ते स्वजनाय' इसीलिये

यह तेरी अवस्था 'अनार्य–जुष्ट' है। कृष्ण के कथन का सारांश यह है कि मरने–जीने से किसी का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, क्योंकि यह तो वस्त्र–परिवर्तन मात्र है। हाँ, अनार्य–जुष्ट अधर्म कार्य करने से आत्मा कलंकित होता है। इसलिये तू देहों की चिन्ता मत कर, देही की चिन्ता कर। सो प्रथम तो मरने–मारने का विचार छोड़ कर क्यों मारना, क्यों न मारना यह सोच। तुझे याद रखना चाहिये कि तू क्षत्रिय है। तूने न्याय–रक्षा का व्रत लिया है। सो प्रथम तो तुझे इसलिये विकम्पित नहीं होना चाहिये कि मृत्यु अतिसाधारण घटना है और फिर—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

स्वधर्मम् अपि च अवेक्ष्य विकम्पितुम् न अर्हसि क्षत्रियस्य धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः न विद्यते।

और अपने धर्म की ओर देख कर भी तुझे डाँवाडोल नहीं होना चाहिये, धर्मानुकूल युद्ध से बढ़ कर क्षत्रिय के लिये कोई अन्य कल्याण का हेतु नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

यदृच्छया च अपावृतम् स्वर्गद्वारं उपपन्नम्। हे पार्थ! ईदृशम् युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते।

हे अर्जुन! क्षत्रिय के लिये युद्ध में करना ही बड़ी गौरव की वस्तु है। क्योंकि चाहे वह धर्म के पक्ष की ओर से लड़े चाहे अधर्म के, वीरता के—निर्भयता के गौरव से तो कभी वञ्चित नहीं रहता। युद्ध में लड़कर मरने से आधा क्षत्रिय–धर्म तो कहीं गया ही नहीं किन्तु इस प्रकार का युद्ध अर्थात् धर्म की रक्षा के लिये धर्म की ओर से लड़ना मिले तब तो अचानक ही सौभाग्य से स्वर्ग का द्वार खुला हुआ अपने आप मिल गया। इस प्रकार का युद्ध तो कोई बड़े भाग्यशील क्षत्रिय पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अथ चेत् त्वम् इमम् धर्म्यं संग्रामम् न करिष्यसि ततः स्वधर्मम्

कीर्तिम् च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि।

यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को न करेगा तो स्व-धर्म और कीर्ति दोनों को छोड़कर पाप-ही-पाप बटोरेगा।

वि० वि०—यहाँ बात बिलकुल स्पष्ट है, यदि क्षत्रिय अधर्म का पक्ष लेकर लड़ता हुआ मर जाय तो स्वधर्म तो नहीं मिला। किन्तु कीर्ति तो फिर भी मिल गई। यदि अधर्म का नाम लेकर युद्ध से हट गया तो भी अपकीर्ति तो बनी ही रहेगी। जब तक इस बात का स्पष्ट प्रमाण न मिले कि उसने अधर्म से डरकर युद्ध छोड़ा मृत्यु भय से नहीं। किन्तु जो धर्मयुक्त युद्ध में लड़ा उसे तो स्व-धर्म तथा कीर्ति दोनों ही मिल गये। फिर इनमें भी पहिले स्व-धर्म का स्थान है, फिर कीर्ति का। बस क्षत्रिय धर्म-रक्षार्थ संग्राम करता है। स्वजन-रक्षार्थ नहीं, यही गीता का मर्म है। परन्तु कीर्ति का भी स्थान कुछ कम नहीं।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

भूतानि ते अव्ययाम् अकीर्त्तिं चापि कथयिष्यन्ति। सम्भावितस्य च अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते।

आने वाले प्राणी तेरी अक्षय अकीर्ति कहा करें और जिसने संसार में बहुत आदर पाया हो और जिससे बहुत बड़ी-बड़ी सम्भावना रक्खी गई हों उसकी अकीर्ति मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

स्वाम् महारथाः भयात् रणात् उपरतम् मंस्यन्ते येषाम् बहुमतो भूत्वा च त्वम् लाघवम् यास्यसि।

महारथी लोग तो यही मानेंगे कि तू डर के मारे युद्ध से भाग गया, जिन में तूने सदा बहुत मान पाया है अब उनकी नज़रों में तू बहुत छोटा हो जाएगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

तव अहिताः च तव सामर्थ्यम् निन्दन्तः बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति ततः किन्नु दुःखतरम्?

और तेरे दुश्मनों का तो पूछना ही क्या? वे तो तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत-सी ऐसी बातें कहेंगे जो किसी प्रकार भी कहने योग्य नहीं हैं।

अव इधर धर्मयुद्ध करने के मार्ग में—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

हतो वा स्वर्गम् प्राप्स्यसि जित्वा वा महीम् भोक्ष्यसे, तस्मात् हे कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः उत्तिष्ठ।

यदि इस युद्ध में मारा गया तो इससे भी उत्तम कुल में जन्म प्राप्त करके इससे भी बढ़कर सुख पायेगा। यदि तेरी विजय हुई तो धर्मोपार्जित पृथिवी राज्य का सुख-भोग मिलेगा। इसलिये हे कौन्तेय! युद्ध के लिये कमर कस के खड़ा हो जा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

लाभालाभौ जयाजयौ सुखदुःखे च समे कृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व एवम् पापं न अवाप्स्यसि।

हे अर्जुन! जब तक तू स्वजन-सुख, शत्रुजन-दुःख, धन-धान्य, धरती-राज्य अथवा लाभ-हानि, जय-पराजय इनकी गणना करके लड़ेगा तब तक स्वार्थ के कारण कुछ-न-कुछ पाप का भागी अवश्य होगा। हाँ, जब तू सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय की चिन्ता छोड़ के न्याय-रक्षा रूप स्वधर्म को सामने रखकर लड़ेगा तो पाप तुझे छू नहीं सकता। इसलिये स्वधर्म को सामने रखकर लड़ इस प्रकार तुझे पाप नहीं पहुँच सकेगा।

वि० वि०—अब इससे अगले प्रसंग को समझने के लिये सांख्य और योग इन दो शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है। किसी लक्ष्य का संख्यान अर्थात् नपा-तुला, गिना-गिनाया स्वरूप बता देना सांख्य-शास्त्र है तथा उस तक पहुँचने के साधन बता देना योग-शास्त्र है। उदाहरण के लिये काम, क्रोधादि विकार-रहित मन बनाना यह लक्ष्य सांख्य ने बता दिया। ऐसा मन ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के ध्यान तथा स्वाध्याय और तप से बनता है यह योग-शास्त्र है। पदार्थों का स्वरूप सांख्य-शास्त्र में जो गिनकर बताया वही योग-शास्त्र ने बताया। किन्तु

'तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः' यह बात योग-शास्त्र (२/१) ने कही। यहाँ प्रचलित प्रसंग में पाप की प्रवृत्ति से बचने के लिये सुख-दुःख, लाभालाभ, जयाजय की भावना छोड़कर युद्ध कर, यह जो कहा सो सांख्य का कार्य पूरा हो गया। परन्तु मन की यह अवस्था जिस प्रभु-समर्पण तथा भक्ति-भावना द्वारा उत्पन्न होती है उस कर्मयोग का वर्णन आगे करेंगे। ये दोनों स्वरूप-संख्यान तथा तत्-स्वरूप-प्राप्ति-साधक कर्मयोग एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिये गीता (५/४) में आगे कहा है कि—'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'।

अब इन दोनों में अर्थात् स्वरूप-संख्यान तथा प्राप्ति-साधन इन दोनों में साध्य-साधन भाव है। इसलिये जो एक को पकड़े उसे दूसरे को पकड़ना अनिवार्य हो जाता है। जो इन्द्रिय-निग्रह अथवा वीर्य-रक्षा चाहे उसे ब्रह्म के प्रेम में विचरना आवश्यक है और जो ब्रह्म-प्रेम में विचरना चाहे उसे इन्द्रियनिग्रह आवश्यक है। वीर्य-रक्षा तथा इन्द्रिय-निग्रह उस अवस्था का सांख्य है और ब्रह्मचर्य उसका योग। सांख्य ने बताया वीर्य-रक्षा तथा इन्द्रिय-निग्रह त्रिविध-दुःखात्यन्त-निवृत्ति वाले पुरुष की ठीक अवस्था है। योग-शास्त्र कहता है कि इस अवस्था को पाने के लिये 'ब्रह्मार्पणम् ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (गीता ४।२४) की अवस्था में आना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में 'जितेन्द्रिय' तथा 'वीर्यवान्' सांख्य शब्द हैं। 'ब्रह्मचारी' योग शब्द। अब गीता के श्लोक का अर्थ सुनिये—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

हे पार्थ! ते एषा बुद्धिः सांख्ये अभिहिता, योगे तु इमां बुद्धिं शृणु, यया बुद्ध्या युक्तः त्वं कर्मबन्धं प्रहास्यसि।

हे अर्जुन! तुम्हें यह बुद्धि सांख्य के विषय में कही है अब योग-विषयक बुद्धि को सुन, जिससे युक्त होकर तू कर्म के बन्धन को नष्ट कर सकेगा।

वि० वि०—सांख्य अर्थात् यथार्थ-स्वरूप-निरूपक शास्त्र में 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' यह बुद्धि बताई गई है। जिसके मन में धर्म-बुद्धि उदय हो गई तथा सुख-दुःख लाभालाभ

जयाजय बुद्धि सर्वथा लुप्त हो गई वह कोई भी कर्म उतना करेगा जितना धर्म-पूर्त्ति के लिये आवश्यक है। न न्यून न अधिक। बस इस अवस्था को पाने के लिये जो योग-बुद्धि आवश्यक है, अब मैं तुम्हें वही बताऊँगा, जिससे तू कर्म-बन्धन से छूट जाएगा (कर्म से नहीं)। उदाहरण के लिये एक गुरु के दो शिष्य हैं। एक से उसे कुछ घृणा है, एक के प्रति आसक्ति। तो वह जहाँ आसक्ति है वहाँ बँधा होने के कारण जहाँ एक घण्टा देना था वहाँ डेढ़ घण्टा बैठा रहा। ऐसा क्यों हुआ? आसक्ति के कारण अध्यापन कर्म-बन्धन बन गया। यदि उसमें आसक्ति न होती तो जितना समय जिसे देना चाहिये था उतना देता, यह है कर्मयोग। दूसरा है कर्म-बन्धन। अर्जुन न्याय की रक्षा के लिये जुआरियों तथा द्रौपदी का चीर हरण करने वालों को दण्ड देने के लिये आया था किन्तु स्वजनों में आसक्ति मार्ग में बाधक हुई उसे फिर कर्मयोग में लाना श्रीकृष्ण को अभीष्ट है, वह अवस्था प्रभु-भक्ति के बिना आ नहीं सकती। इसलिये भगवान् कृष्ण द्वैपायन भगवान् कृष्ण वार्ष्णेय के मुख से वही उपदेश दिलवाते हैं। परन्तु इसके मार्ग में बाधक हैं—वेदवादी। इसलिये पहिले उनका खण्डन आवश्यक है। परन्तु इससे पहिले कि हम आगे बढ़ें हमें वेदवादी तथा वैदिक इन दोनों में भेद समझ लेना आवश्यक है।

वेद ने मनुष्य को परमात्मा के अर्पण करके निष्काम कर्म करना सिखाया तथा लोक-कल्याणार्थ बड़े-से-बड़े त्याग का उपदेश दिया। और यह कर्म करना लोग घर-घर में सीख जावें इसलिये कल्प सूत्रकारों ने अग्निहोत्र दर्शपूर्ण-मास अश्वमेध आदि यज्ञों की कल्पना की। परन्तु कालान्तर में आलस्य, प्रमाद और लोभ के वशीभूत लोगों ने इस यज्ञ-विद्या को जादू-टोने की विद्या बना डाला, वैदिक लोगों ने यज्ञ बनाए तो इसलिये थे कि घर-घर में लोग त्यागमय जीवन का उपदेश प्राप्त करके उस पर आचरण करके मनुष्यमात्र का कल्याण करने में समर्थ हों किन्तु लोगों ने तो यह समझ लिया कि मन्त्रों का स्वर सहित उच्चारण करने मात्र से तथा यज्ञ क्रियाओं के अनुष्ठान मात्र से कल्याण हो जाएगा, इसी भ्रम को दूर करने के लिये भगवान् वादरायण=व्यास ने वेदान्त-दर्शन की रचना की तथा उनके मुख्य शिष्य भगवान् जैमिनि ने धर्म-स्वरूपनिदर्शक मीमांसा-शास्त्र की रचना की। दोनों शास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिये एक का नाम

पूर्व–मीमांसा है एक का नाम उत्तर–मीमांसा। पूर्व–मीमांसा धर्म का स्वरूप बताती है उत्तर–मीमांसा उस धर्म के ध्येय भगवान् का स्वरूप बताती है। एक में वेद है एक में वेदान्त। पूर्व–मीमांसा ने पारिभाषिक रूप से यज्ञीयतत्त्व–ज्ञान के भण्डार ब्राह्मण को भी वेद मानकर धर्म का स्वरूप बताया है किन्तु कालान्तर में पूर्व–मीमांसा पद्धति उत्तर–मीमांसा से सम्बन्ध छोड़ बैठी और एक जादू–टोने मात्र की भ्रष्टाचार भरी प्रक्रिया बन गई। इस बात को समझाने के लिये एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा। कल्प–सूत्रकारों ने लिखा कि अवकीर्णी अर्थात् जिसका ब्रह्मचर्य भ्रष्ट हो जाये वह गर्दभेष्टि अर्थात् गधा–यज्ञ करे। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार गधा अति साधारण भोजन करता है किन्तु बहुत अधिक परिश्रम करता है, इसी प्रकार अवकीर्णी भी भोजन की मात्रा कम करता जाय तथा स्वाध्याय की मात्रा बढ़ाता जाय तो एक समय आएगा जब निरन्तर अभ्यास से वह ब्रह्मचर्य–विरोधी भावों पर शासन करने में समर्थ हो जाएगा। परन्तु मध्यकालीन मीमांसकों ने यह प्रचार किया कि विधिपूर्वक कुछ मन्त्र पढ़कर चौराहे में गधे को काटकर हवन करने से नष्ट ब्रह्मचर्य का प्रायश्चित्त हो जाता है। यह तो बिलकुल गन्दी नाली के कीचड़ से वस्त्र धोने जैसी बात हो गई। ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य नष्ट हुआ और गधा मारा गया। वेद ने कहा था 'पशूनां रूपम्' (यजु० ३९.४) किन्तु इन मीमांसकों ने 'पशूनाम् मांसम्' ही बना डाला। बस ये ही वेदवादी कहलाये। इनका परब्रह्म की आराधना, लोक–कल्याण तथा निष्काम कर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं रहा। ये तो लोगों को यह बताते फिरते थे कि इन मन्त्रों को इस प्रकार पढ़ने से ग्राम मिल जाता है, इन मन्त्रों से राज्य मिल जाता है, इन मन्त्रों से स्वर्ग मिल जाता है। शास्त्र में उन यज्ञों का जो फल लिखा है वह सब यथार्थ है, किन्तु वह फल उन मन्त्रों का ठीक अर्थ जानकर उसके अनुसार आचरण करने से होता है न कि मन्त्रोच्चारण मात्र से। और मन्त्रों का ठीक अर्थ भी तब समझ में आता है जब मन्त्रों के अनुसार विनियोग की व्याख्या हो, अस्तु। इन्हीं विनियोग मात्र के पीछे चलने वाले स्वार्थैक–परायण लोगों को गीता में वेद–वादी कहा है। इतनी बात समझ लेने से अब अगला सब प्रसंग समझ में आ जाएगा।

हे अर्जुन! सत्य और सदाचार का मार्ग अति सरल है। इन वेद–

मर्मानभिज्ञ वेदवादियों के विचारानुसार लम्बी–चौड़ी जटिल प्रक्रिया में एक मात्रा इधर की उधर हो गई तो एकदम क्रम–नाश हो गया। फिर उस प्रत्यवाय को दूर करने के लिये अमुक प्रायश्चित्त करो। यह ठीक है कि उस जटिल प्रक्रिया की एक–एक मात्रा महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उसका महत्त्व उसका अर्थ जानकर तदनुकूल व्यक्ति तथा राष्ट्र का निर्माण करने में है, किन्तु सत्य और सदाचार का मार्ग तो अति सरल है। यज्ञ–प्रक्रिया में बारम्बार 'इदन्न मम' वाक्य का उच्चारण होता है, जिसका भाव है कि यज्ञ के लिये लोक–कल्याण के लिये करूँ। स्वार्थबुद्धि से नहीं। इसमें मेरा कुछ नहीं यह भावना यज्ञ का सार है। इस पर आचरण करने से सारे मानव–राष्ट्र का कल्याण है। किन्तु अर्थ–ज्ञान से शून्य चाहे 'इदम्मम' कहें चाहे 'इदन्न मम', न इसमें कुछ पुण्य है, न उसमें कुछ प्रत्यवाय। हाँ, अशुद्ध पाठ का दोष तो अवश्य है, जिसे अर्थज्ञ तुरन्त ठीक कर लेता है। इसीलिये कहा ''योऽर्थज्ञ इत् सकलम् भद्रमश्नुते'' (निरुक्त १।६।१८) क्योंकि वह अर्थज्ञान के बल से विकल को सकल बना लेता है। किन्तु इन वेदवादियों ने तो सारा पुण्य–पाप यज्ञ–क्रियाओं के मन्त्रोच्चारण तथा क्रिया–प्रक्रिया–क्रम में ही रख दिया। इसीलिये कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि हे अर्जुन! धर्म्य–मार्ग अति सरल है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

इह अभिक्रमनाशः न अस्ति, प्रत्यवायः न विद्यते अस्य धर्मस्य स्वल्पमपि महतो भयात् त्रायते।

इस कर्त्तव्य–पालन के सीधे सरल मार्ग में प्रक्रिया–क्रम–भंग का भय नहीं। पग–पग पर प्रत्यवाय और प्रायश्चित्त का पचड़ा नहीं। इस यज्ञ–धर्म का थोड़ा–सा भाग भी महान् भय से रक्षा करता है।

वि० वि०—इस श्लोक में जो बात कही गई है उसे एक दृष्टान्त से समझना चाहिये। सेना रात में सोई हुई है, एक सन्तरी पहरा दे रहा है। शत्रु ने एक पुल उड़ाने की चेष्टा की, जहाँ से सारी सेना की सामग्री के आने का मार्ग था। सेना जाग गई, पुल बच गया। एक सन्तरी के थोड़े से धर्मानुकूल आचरण ने सारे राष्ट्र की रक्षा कर ली। अतः कृष्ण अर्जुन को सावधान करते हैं कि हे अर्जुन!

बस तू भी क्षात्र धर्म का पहरेदार है, सीधी सच्चे यज्ञ-मार्ग का अवलम्बन कर। यदि तू मार्ग-भ्रष्ट हुआ तो तुझे देखकर सैंकड़ों मार्ग-भ्रष्ट होंगे, यह अगले अध्याय में २१-२४ तक श्लोक में कहेंगे।

हे अर्जुन! वेदवादियों के इस कर्मकाण्ड ने उस सोद्देश्य तात्त्विक यज्ञ-प्रक्रिया का स्थान ले लिया है जिसकी रचना सदाचार तथा कर्त्तव्य-पालन के उपदेशों को घर-घर तक पहुँचाने के लिये की गई थी। घोड़ा सवार पर सवार होकर उसे न जाने कहाँ-कहाँ घसीटे फिरता है? सदाचार और कर्त्तव्य-पालन का मार्ग सीधा है, अन्याय हो रहा है, उससे लड़ो। इधर पूर्णमासी कितने बजे आरम्भ होगी तथा अमावास्या में चन्द्र-दर्शन का स्पर्श होगा वा नहीं इन्हीं झगड़ों में उलझा हुआ मनुष्य पागल हो जाता है।

इसलिये कहा—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

हे कुरुनन्दन! इह व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका, अव्यवसायिनाम् बुद्धयः बहुशाखाः अनन्ताश्च।

हे कुरुनन्दन! इस संसार में कर्मयोगियों के कर्त्तव्य-पालन में व्यवसायात्मिका बुद्धि एक है, कर्त्तव्य-पालन के स्थान में नाना प्रकार के पूजा-पाठ, मन्त्र, पुरश्चरणादि बताने वालों की बुद्धियों का क्या ठिकाना। उनकी शाखा में शाखा फूटती हैं और इस प्रकार वे अनन्त हैं। एक सेना में हज़ार सिपाही हैं, कोई भैरव के पीछे है, कोई डाकिनी-शाकिनी, जन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने के पीछे है। परन्तु राष्ट्र की रक्षार्थ परेड पर उपस्थित होने में कल्याण है। यह व्यवसायत्मिका बुद्धि एक है। सच्चे क्षत्रिय न्याय की रक्षा तथा अन्याय के नाश में व्यवसायात्मिका बुद्धि लेकर चलते हैं। तू आज उस मार्ग से विचलित हो रहा है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥

हे पार्थ! अविपश्चितः 'न अन्यद् अस्ति' इति वादिनः वेद-वाद-रताः याम् इमाम् पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति।

हे पार्थ अर्जुन! विवेक-शून्य, 'बस यह मन्त्र पढ़कर इस प्रकार

क्रिया कर लो तो सब ठीक और किसी मार्ग से कुछ भी भला नहीं होगा, यही ठीक है और सब कुछ नहीं', इस प्रकार की शेखी मारने वाले वेदवादी=वेद के ठेकेदार लोग जिस लच्छेदार वाणी को बोलते हैं, वे कौन लोग हैं?

वि०वि०—हे अर्जुन! सच्चा ब्राह्मण जब लोक-कल्याणार्थ विद्याध्ययन तथा सत्यान्वेषण में लगता है तो मैं कर्त्तव्य-पालन कर रहा हूँ, यह आत्म-सन्तोष ही उसके लिये सर्वश्रेष्ठ फल है। सच्चे क्षत्रिय के लिये मैं अन्याय से लड़ रहा हूँ, यही आत्म-सन्तोष ही सर्वश्रेष्ठ फल है, सच्चे वैश्य के लिये मैं प्रजा का दारिद्र्य नाश कर रहा हूँ, यही सर्वश्रेष्ठ फल है। सच्चे शूद्र के लिये मैंने अपना समय व्यर्थ खोया तो भी मैं परिश्रमोपार्जित अन्न खाऊँगा तथा किसी लोक-सेवक की ही सेवा करूँगा, यह व्रत सर्वश्रेष्ठ सन्तोष है।

इन सब को लोक-कल्याण के बदले भोग, ऐश्वर्य, उत्तम जन्म आदि कर्म-फल अवश्य मिलते हैं किन्तु उनका लक्ष्य वह नहीं आत्म-सन्तोष ही उनका प्रेरक भाव है, उन्हें कोई लच्छेदार बातों में नहीं भुला सकता। परन्तु ये वेदवादी तो—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-कर्मफल-प्रदाम्।
क्रिया-विशेष-बहुलां भोगैश्वर्य-गतिं प्रति॥ ४३॥

(अत एव) कामात्मानः स्वर्गपराः भोगेश्वर्यगतिम् प्रति क्रियाविशेषबहुलाम् जन्म-कर्म-फल-प्रदाम् (ताम् वाचं प्रवदन्ति)।

ये तो कामनाओं में आसक्त हैं, इनका प्रेरक भाव ही वह कामात्मता है, जिसके लिये मनु (२।२) ने कहा है—'कामात्मता न प्रशस्ता' स्वर्ग अर्थात् नानाविध सुख सब धर्मात्माओं को मिलता है, किन्तु वे धर्मात्मा होते हैं, कामात्मा नहीं। पर इन वेदवादियों के चंगुल में फँसने वाले स्वर्ग-परायण होते हैं। इसलिये ये वेदवादी भी स्वर्ग-परायण होकर—इस कर्म से यह उत्तम राजा का जन्म मिलेगा, इस कर्म का यह सुख-फल होगा, इस कर्म से यह भोग मिलेगा। इस कर्म से यह ऐश्वर्य मिलेगा। इस प्रकार के चित्र विचित्र अनुष्ठानों से भरी हुई जिस लच्छेदार वाणी को बोलते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

तथा अपहृतचेतसाम् भोगैश्वर्यप्रसक्तानां समाधौ व्यवसायात्मिका बुद्धिः न विधीयते।

उस लच्छेदार वाणी से जिन का चित्त अपहरण कर लिया जाता है उन भोग और ऐश्वर्य में आसक्त लोगों की कर्त्तव्य-पालन में बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती, इसीलिये एकाग्र नहीं होती।

वि० वि०—भाव यह है कि इन भोगैश्वर्य-वादियों की कुसंगति से तू स्वजन-रक्षा को न्याय-रक्षा से बड़ा समझने लगा है, परन्तु इनको तो कोई कह दे कि अमुक के बेटे को मारकर उसके रुधिर में स्नान करने से तुझे बेटा होगा तो यह पुत्र-प्राप्ति रूप भोग के लिये पर-रक्षा रूप धर्म को छोड़कर निरपराध बालक को मारने को तैय्यार हो जावेंगे। ब्रह्मचर्य-भंग के दोष को दूर करने के लिये गधा मारकर हवन करने लगेंगे। राज-महिषी तथा घोड़े का समागम कराने में भी संकोच नहीं करेंगे। हे अर्जुन! तू वैदिक बन, वेदबाज़ मत बन। वर्ण-धर्म सबसे ऊँचा है, तू क्षत्रिय-व्रतधारी है। अपना व्रत भंग न कर। जब त्रैलोक्य राज्य तक का मोह छोड़ दिया तो अन्याय-परायण स्वजनों के मोह में क्यों फँसता है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

हे अर्जुन! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः त्वम् निस्त्रैगुण्यो भव निर्द्वन्द्वो भव नित्यसत्त्वस्थो भव निर्योगक्षेमो भव आत्मवान् भव।

हे अर्जुन! वेद त्रैगुण्य विषय वाले हैं, पर तू त्रिगुण से रहित बन, द्वन्द्वों से मुक्त हो जा, नित्यसत्त्वस्थ बन, योगक्षेम की चिन्ता से रहित हो और आत्मवान् बन।

वि० वि०—हे अर्जुन! यह भोगैश्वर्य के उपासक वेदों को जिस रूप में उपस्थित करते हैं, उन से तो वेद का एक मात्र विषय तामस, राजस, सात्त्विक नाना प्रकार के सुख भोग देना है परन्तु हम तो सात्त्विक सुख में भी आसक्ति नहीं चाहते। स्वाध्याय एक अत्यन्त सात्त्विक सुख है, किन्तु युद्ध-क्षेत्र में यदि स्वाध्याय में आसक्त होकर कोई पहरेदार अपना कर्त्तव्य भूल जाय तो उस सात्त्विक आसक्ति से सारे राष्ट्र का नाश होकर महान् असात्त्विक फल-प्राप्त होवे, इसलिये तू तीनों गुणों की आसक्ति से ऊपर उठना सीख निस्त्रैगुण्य बन जा। जिससे तू निर्द्वन्द्व अर्थात् शीतोष्ण, मानापमान आदि के सहन में समर्थ हो जाएगा। क्योंकि शारीरिक सुख में आसक्ति शीतोष्ण भयदायिनी है तथा सामाजिक-यशः—प्राप्ति से उत्पन्न सुख में आसक्ति मानापमान-द्वन्द्व में फँसाती है, सात्त्विक आसक्ति से छूटकर तू स्वयं सत्त्वरूप हो जाएगा और सदा अपने सत्त्व में रहेगा, तुझे योगक्षेम की चिन्ता भी न रहेगी। इस प्रकार बाह्य सुख में आसक्ति से छूटकर जो कर्त्तव्य-पालन-जन्य आत्म-सन्तोष को पहिचान लेता है वही आत्मवान् है, क्योंकि उसकी आत्मा आसक्ति-पाश से छूट जाती है बस तू भी आत्मवान् बन॥ ४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

सर्वतः सम्प्लुतोदके उदपाने यावान् अर्थः विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु तावानर्थः।

हे अर्जुन! यह उन वेदवादियों की दुर्दशा बताई गई है, जो वेद को नहीं जानते और व्यर्थ वेद के सम्बन्ध में गाल बजाते हैं। किन्तु विज्ञानवान् ब्राह्मण के लिये तो सम्पूर्ण वेदों में एक-एक अक्षर और मात्रा में इतना तत्त्व भरा है, जितना उस जल-प्याऊ में होता है, जिसमें जल भरकर दीवार से ऊपर निकल जाय (Over flow करने लगे)।

यहाँ कई लोगों ने इस श्लोक को वेद-निन्दा में लगाया है, वह यह अर्थ करते हैं कि जल बह जाने के कारण सूखे हुए जलाशय के समान वेद को समझो, किन्तु ऐसा होता तो 'विप्लुतोदके' पाठ होता 'सम्प्लुतोदके' नहीं। जैसे मनु (३।२) ने लिखा है—'अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्'। इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्लव का अर्थ (Over flow, Inundate) है नहीं। जहाँ तक मेरी स्मरण शक्ति दौड़ती है, मैंने एक भी प्रयोग नहीं देखा जहाँ सम् प्लव का अर्थ चू जाना हो। इसका अर्थ तो सम्प्लव अर्थात् जल इकट्ठा होकर नाके लाङ्घ कर बह निकलना है। सो विज्ञानवान् ब्राह्मणों ने वेद का सार क्या समझा है, सो अगले शोक में बताते हैं॥ ४६॥

वेद का मर्म न जानने वाले वेदवादी वेद को व्यक्तिगत भोगेश्वर्य की सिद्धि का साधन मात्र समझते हैं। किन्तु वेद का सच्चा विज्ञान रखने वाले ब्राह्मण कहते हैं कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्मणि एव ते अधिकार: फलेषु कदाचन मा, कर्मफल-हेतु: मा भू: ते अकर्मणि संगो मा अस्तु।

हे अर्जुन! तेरा कर्म में ही अधिकार है उसके फल में कभी नहीं। तू कर्मफल का हेतु मत बन, अकर्म में तेरी प्रीति नहीं होनी चाहिये।

वि० वि०—इस श्लोक को सम्पूर्ण वेदान्त का सार समझना चाहिये। मनुष्य का धर्म है कि पहिले तो यह जाने कि जो काम वह करने जा रहा है वह अकर्म तो नहीं, अर्थात् उससे लोकहित का किसी सूक्ष्म अंश में भी विघात तो नहीं होता। हे अर्जुन! जिससे लोकहित का विघात होता है, उसे अकर्म कहते हैं, उसमें तुझे कभी संग अर्थात् प्रीति नहीं होनी चाहिये। दूसरी बात यह है कि हमें ज्ञान होना चाहिये कि इसका फल लोकहित होगा और अन्ततोगत्वा कार्यकर्त्ता का भी भला होगा। परन्तु 'उस कार्य का जो लोकहितकारी फल होगा उसके बदले में कर्त्ता को व्यक्तिगत फल क्या मिलेगा? किस भोगेश्वर्य की प्राप्ति होगी'? इस कर्मफल के फल को प्राप्त करने के हेतु काम कभी न करना चाहिये क्योंकि उत्तम कर्म अर्थात् जिसका फल लोक-कल्याण हो उसका करना तो कर्त्ता के अधीन है, किन्तु उसका फल देना विधाता के अधीन है, कर्त्ता के अधीन नहीं।

इस श्लोक के समझने में प्राय: भूल यह होती है कि लोग इसे कर्मफल की निन्दा का श्लोक समझ लेते हैं, किन्तु यह वस्तुत: कर्मफल के फल की निन्दा का श्लोक है। मान लीजिये मैं एक चिकित्सक हूँ। मैं जो औषध दे रहा हूँ, वह रोग-निवारण में सफल है या नहीं, यह विचार न करना तो कोरा पागलपन है। हाँ रोग-निवृत्ति पर वह रोगी चिकित्सक को क्या फल देता है, इस फल-प्राप्ति में आसक्ति का निषेध किया गया है। सच्चे कर्मयोगी के लिये रोगी का कल्याण स्वयं सफलता है इस फल के फल में हे अर्जुन! तेरा अधिकार नहीं। यह विधाता का क्षेत्र है। हाँ, यदि तुम्हें यथायोग्य दक्षिणा न देने से कार्यकर्त्ता का चरित्र दूषित होता है तथा उसमें कृतघ्नता आती है तो उसका ठीक करना भी हमारा कर्त्तव्य है, किन्तु बदले की

भावना से प्रेरित होकर नहीं, उसके सुधार के लिये तथा प्रजाहित की भावना से उसका शासन आवश्यक है, बस यही सम्पूर्ण वेदान्त का सार है।

३९वें श्लोक में कह आये हैं कि सांख्य-बुद्धि तो लक्ष्य की सूचना से परिचय कराती है योग-बुद्धि वह साधन बताती है जिससे मनुष्य सांख्य-बुद्धि-सम्पन्न हो जाता है। और इस बुद्धि से युक्त मनुष्य कर्म-बन्धन से छूट जाता है अर्थात् वह आसक्तिहीन होने से हर कर्म को वहाँ तक करता है जहाँ तक लोक-कल्याण हो। भोजन शरीर-रक्षा के लिये है, शरीर धर्म-रक्षा के लिये, किन्तु जिह्वा के रस में आसक्त मनुष्य भोजन रूप कर्म के बन्धन में पड़ जाता है। उसका भोजन शरीर-रक्षा का साधन न होकर शरीर-रक्षा में बाधक हो जाता है। परन्तु आसक्तिहीन मनुष्य कर्मों को बाँधकर अपनी इच्छानुसार चलाता है, कर्म उसे जहाँ चाहें घसीट नहीं सकते। बस इस कर्म-बन्धनरहित अवस्था तक पहुँचना बुद्धि-योग से युक्त होना कहलाता है। इसलिये कहा—

योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

हे धनञ्जय! त्वम् सङ्गं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्यो: सम: भूत्वा योगस्थ: कर्माणि कुरु। समत्वं योग: उच्यते।

हे अर्जुन! तू फल के फल में आसक्ति छोड़कर सिद्ध में आत्म-संयम द्वारा सिद्धि के समय में मद में न आ और धैर्य द्वारा असिद्धि के समय में निराशा में न आ। यह सम्पत्ति-विपत्ति में एक-रस भाव से लक्ष्य की ओर बढ़ना ही वह समत्व है जिसे कहा कि..........'योगे त्विमां श्रृणु। बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गीता २।३९)। इस योग-बुद्धि से योग में स्थित होकर कर्म कर इसी समत्व का नाम योग है।

मीमांसादि शास्त्रों में नाना प्रकार के भोगैश्वर्यादि की प्राप्ति के लिये जो कर्मकाण्ड बताया गया है, उसे ठीक जानकर उस पर आचरण करके सुख-लाभ भी करलें तो भी वह आसक्तिहीन कर्म के सामने तुच्छ है। व्यक्तिगत सुख-लाभ की अभिलाषा से सदाचार-मुक्त होकर प्राप्त किया हुआ चक्रवर्ती राज्य सुख तो देगा, परन्तु प्रजाहित की

भावना से शुद्ध निष्काम सदाचार की भित्ति पर खड़े हुए चक्रवर्ती राज्य की तो क्या एक कुटुम्ब-राज्य की तुलना में भी वह छोटा है, इसीलिये कहा—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

हे धनञ्जय! कर्म बुद्धियोगात् दूरेण हि अवरम् अतएव बुद्धौशरणम् अन्विच्छ फलहेतवः कृपणाः।

हे धनञ्जय! यह भोगैश्वर्य में आसक्त मनुष्यों का कर्म (नहुष का राज्य) बुद्धि-योग से बहुत दूर पीछे है। इसलिये तू इसका अनासक्त बुद्धि में डेरा डाल। जो फल के पीछे मरते हैं, वे चक्रवर्ती राज्य पाकर भी हाय-हाय करने वाले दीन बने रहते हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

बुद्धियुक्तः इह उभे सुकृत-दुष्कृते जहाति तस्माद् योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्।

हे अर्जुन! बुद्धियुक्त मनुष्य इस संसार में सुकृत और दुष्कृत दोनों प्रकार के कर्मों में आसक्ति को छोड़ देता है। इसलिये तू योग के लिए प्रयत्न कर। कर्मों में कौशल का नाम ही योग है।

वि० वि०—हे अर्जुन! दुष्कृत में आसक्ति की अपेक्षा भी सुकृत में आसक्ति को छोड़ना और कठिन है। यदि विभीषण अर्जुन के समान स्वजन-मोह में आसक्त होता तो विश्व-कल्याण में नहीं लग सकता था और यदि पौराणिक प्रह्लाद (वह कथा सच है या काल्पनिक इस विवाद में न जाकर) पिता की आज्ञा-पालन रूप सुकृत में आसक्त होता तो प्रभु-भक्ति से वंचित रह जाता। किन्तु जिसको यह अनासक्ति योग की बुद्धि प्राप्त हो गई, वह दुष्कृत को और विशालतर सुकृत में बन्धक लघुतर सुकृत को—इन दोनों को त्याग देता है। इसलिए तू इस अनासक्ति-योग की प्राप्ति के लिए जुट जा। योग-शास्त्रीय गुत्थी को सुलझाने का नाम नहीं, किन्तु जीवन में लोक-कल्याणार्थ कौन-सा कर्म हेय है, कौन-सा उपादेय है, कौन-सा राष्ट्र-रक्षार्थ शत्रु की ढाल बनी हुई गौवों के वध के समान सुकृत है और कौन-सा गौवों के पीछे छिपे हुए राष्ट्र-शत्रुओं को छोड़ देने के समान

मूर्खता है इस धर्म के तारतम्य-निरूपण में कुशलता का नाम ही योग है और यह बुद्धियोग अनासक्ति के बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

जो लोग इस अनासक्ति-योग को प्राप्त कर लेते हैं, वे जन्म के बन्धनों से घबराते नहीं। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों की दीवार को तोड़कर पार हो जाते हैं, इसलिये कहा कि—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

बुद्धियुक्ताः हि मनीषिणः कर्मजम् फलम् त्यक्त्वा जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः अनामयम् पदम् गच्छन्ति।

जिस प्रकार पक्षी अण्डे में बन्द पैदा होता है इसी प्रकार हर व्यक्ति पूर्व-जन्म में किये पाप-पुण्य के समूहरूपी अण्डे में घिरा पैदा होता है जिसे लोग भाग्य कहते हैं किन्तु योगबुद्धि से युक्त महान् ज्ञानी लोग कर्म से उत्पन्न फल को त्यागकर और जन्म के बन्धन से मुक्त होकर रोग-शोक से रहित परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

वि० वि०—जिनको यह योग-बुद्धि प्राप्त हो गई है वे दृढ़-संकल्प वाले लोग हाय विधाता ने हमें कैसा उलटा भाग्य दिया, इस प्रकार का रोना-धोना छोड़ देते हैं क्योंकि उन्होंने कर्मफल में आसक्ति छोड़ दी है। इसलिये जन्मजात परिस्थितियों के बन्धन रूप दीवारों को तोड़कर वे अनामय अर्थात् रोग-बाधा-रहित पद को प्राप्त होते हैं। दुःख से मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय दुःख की दीवारों से लड़ने में रस अनुभव करना है। जो अभ्यास-साध्य है, इसी का दूसरा नाम वीर-रस है, इसी से अनामय पद मिलता है।

हे अर्जुन! वीर कर्मयोगी को मीमांसा की उलझन आ घेरती है, जैसी उलझन ने आज तुझे घेर लिया है, परन्तु अन्त को सदुपदेश से अथवा स्वयम् मन्थन करके उसे वह दशा प्राप्त होती है कि जब वह कह उठता है कि अब सुनने-सुनाने का समय नहीं बस अब तो कर डालने का है उस अवस्था का वर्णन अगले श्लोक में करते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य

श्रुतस्य च निर्वेदं गन्तासि।

हे अर्जुन! जब अनासक्ति-योग के बल से तेरी बुद्धि मोह रूप दलदल को पार कर लेगी। इस स्वजन-मोह के स्थान में क्षात्र-धर्म के पालन की बुद्धि उदय होगी तब तू कहेगा बस-बस बहुत हो लिया अब और अधिक लज्जित न करो। अब तुझे कुछ श्रोतव्य नहीं है, उल्टा मैंने अपनी मूर्खतावश मोह में फँसकर आपको इतना कहने पर विवश किया आप से इतना सुना इससे मुझे अपने पर ग्लानि हो रही है। बस अब तो कुछ न कहिये अब मेरा युद्ध-कौशल और क्षात्र-धर्म-परायणता देखिये और हुआ भी ऐसा ही। गीता का उपसंहार इस प्रकार है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

बस इसके बाद सुनना कहाँ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

यदा श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिः निश्चला भूत्वा समाधौ अचला स्थास्यति तदा योगम् अवाप्स्यसि।

हे अर्जुन! जब श्रुति से—वैदिक सिद्धान्त से विपरीतता को प्राप्त हुई तेरी बुद्धि चञ्चलता से रहित होकर समाधि में स्थिर हो जायेगी तभी तू योग की अवस्था को प्राप्त होगा।

वि० वि०—हे अर्जुन! एकान्त में जाकर प्राणायामपूर्वक ब्रह्म-ध्यान का ही नाम योग नहीं। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी अपने कर्त्तव्य-पालन में जब एकाग्र होकर अनन्य भाव से लगता है तब वह योगी कहलाता है। जिस प्रकार 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' (गीता० ४।२४) में ब्रह्म-कर्म-समाधि कही है, इसी प्रकार क्षात्र-कर्म-समाधि भी समझनी चाहिये। परन्तु आज तो तेरी बुद्धि वेदोक्त क्षात्र-धर्म के मार्ग से विचलित हो गई है। आज तो तुझे वेद में आस्था नहीं रही। तेरी बुद्धि श्रुति की सत्यता में भी विप्रतिपत्ति करने लगी है। वेद ने कहा है—

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः।
अग्निहोतारः ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये॥

—ऋ० १०।६६।८

वृत्रासुर के वध के समय में क्षात्र-धर्म का व्रत धारण किये हुए, यज्ञ को ही अपना उद्धारक मानने वाले, अत्यन्तदीप्ति के साथ (हिंसा की हिंसा द्वारा) अध्वरों की शोभा बढ़ाने वाले, अग्नि के अन्दर सर्वस्व आहुति करने वाले, ज्ञान के सेवक और परस्पर द्रोह रहित क्षत्रियों ने ही इन्द्र की अनुगामिनी सेनाओं का सर्जन किया। यदि तुझे वेद में श्रद्धा होती तथा तेरी बुद्धि श्रुति-विप्रतिपन्ना न होती तो तू क्षात्र-धर्म में कैसे सन्देह करता। आज तेरी बुद्धि चञ्चल है निश्चल नहीं। जब तेरी वेद में निश्चल श्रद्धा होगी तो तेरी बुद्धि स्वजन-मोह के दल-दल को पार कर लेगी तब तुझे अनासक्तिमय बुद्धि-योग प्राप्त होगा तब तेरी बुद्धि क्षात्र-धर्म-पालन में भी अचल हो जायेगी तब तुझे क्षात्र-धर्म-समाधि प्राप्त होगी और तू सच्चा कर्मयोगी बन जायेगा। आज तो श्रुति में भी तेरी श्रद्धा नहीं रही। इसलिए तू स्थितप्रज्ञ बन।

अर्जुन बोला कि हे श्रीकृष्ण! तृप्ति नहीं हुई आप मुझे स्थितप्रज्ञ बनने को कहते हैं सो ज़रा स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में विस्तार से कहिये।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

हे केशव! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा? स्थितधीः किम् प्रभाषेत? किम् आसीत? किम् व्रजेत?

हे केशव! जिसे समाधि प्राप्त हो गई उस स्थितप्रज्ञ मनुष्य की बोली किस प्रकार की हो जाती होगी? वह क्या बोलता होगा? कैसे बैठता होगा? कैसे चलता होगा। उसके सब प्रकार के रंग-ढंग में क्या परिवर्तन हो जाता होगा? श्रीकृष्ण बोले।

श्रीकृष्ण उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

हे पार्थ! यदा मनुष्यः मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति यदा च आत्मनि आत्मना एव तुष्टः तदा सः स्थितप्रज्ञः उच्यते।

हे अर्जुन! स्थितप्रज्ञ की सबसे पहिली पहचान यह है कि जब वह 'मैंने जो किया उसकी दूसरे क्या प्रशंसा करेंगे? तुझे क्या पदवी, क्या भोगेश्वर्य प्राप्त होगा?' इस प्रकार की सब मनोगत कामनाओं को वह छोड़ देता है और जब 'मैंने एक पवित्र कर्म किया है' यह आत्म-सन्तोष ही उसकी दृष्टि में एक मात्र सन्तोष रह जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

स्थितप्रज्ञ की दूसरी पहचान यह है कि—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः वीतराग-भयक्रोधः मुनिः स्थितधीः उच्यते।

जब मनुष्य सन्तोष अपने अन्दर ढूँढ़ता है और परोपकार तथा प्रभु की आज्ञा-पालन में सन्तुष्ट रहता है, बाहर की कामनाओं की पूर्ति में सन्तोष नहीं ढूँढता तो कर्त्तव्य-पालन में जो दुःख उसे होता है, उससे उसका मन उद्विग्न नहीं होता। और भोगैश्वर्य के सुख में स्पृहा नहीं रहती, जब किसी वस्तु में राग नहीं रहता तो भय काहे का और क्रोध भी प्रबल इच्छा के विघात से होता है पर जब स्पृहा नहीं रही तो तद्-विघात-जन्य क्रोध कहाँ से? सो इस प्रकार का मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

यः सर्वत्र अनभिस्नेहः तत् तत् शुभाशुभम् प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

जो सर्वत्र आसक्ति से रहित हो जाता है और नाना प्रकार के शुभ तथा अशुभ वृत्तान्तों को प्राप्त करके शुभ में फूलता नहीं और अशुभ में दुःखी नहीं होता उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है, ऐसा समझो।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

यदा च अयं सर्वशः कूर्मः अङ्गानि इव इन्द्रियार्थेभ्यः इन्द्रियाणि संहरते तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

मनुष्य का सिर एक कछुए के समान है। ऊपर कठोर हड्डी बीच में कोमल भेजा। जिस प्रकार किसी भय के उपस्थित होने पर कछुआ अपने सिर तथा पैरों को अन्दर समेट लेता है इसी प्रकार अभ्यासी को एक बार सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से पृथक् रखना पड़ता है, जिस समय वह इन्द्रियों को अन्दर समेट लेता है, उस समय उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित जानो।

इस क्रिया को योग-दर्शन में प्रत्याहार कहते हैं। यह समाधि अर्थात् एकाग्रता में परम सहायक है। परन्तु फिर भी सम्पूर्ण एकाग्रता नहीं। असली विश्रामधाम तो प्रभु प्रेम की प्राप्ति है, यह अगले श्लोक में बताते हैं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

निराहारस्य देहिनः रसवर्जम् विषयाः विनिवर्तन्ते रसः अपि अस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

इन्द्रियों को विषयों से झटका देकर हटाने का सबसे सरल उपाय निराहार रहना है। भूख में मनुष्य का मन सब विषयों से हटकर रसना के रस में इकट्ठा हो जाता है किन्तु धीरे-धीरे प्रभु-साक्षात्कार होने पर उस ब्रह्मानन्दरूपी रस के प्रभाव से रसना का रस भी फीका होते-होते निवृत्त हो जाता है। इसलिये अनशन द्वारा अन्य विषयों के रस को और भक्ति-रस से अन्त में रसना के रस को जीतकर मनुष्य योगी बन जाता है। परन्तु एक बात यदा रखना, यह सिद्धि एक झटके में नहीं होती।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हे कौन्तेय! प्रमाथीनि इन्द्रियाणि यततो हि अपि विपश्चितः पुरुषस्य मनः प्रसभम् हरन्ति।

हे कौन्तेय! यह झकझोर डालने वाली इन्द्रियें यत्न करते हुए विवेकवान् पुरुष के भी मन को जबरदस्ती विषयों में घसीट ले जाती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

क्तः तानि सर्वाणि संयम्य मत्परः आसीत यस्य हि इन्द्रियाणि

वशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

हे अर्जुन! मैं प्रभु–भक्त हो रात–दिन उसके ध्यान में रहता हूँ। मेरे पास तुझे देने के लिये प्रभु–भक्ति से बढ़कर कुछ नहीं। इसलिये यदि तू मुझसे प्रेम करता है तो मेरा अनुकरण कर और हर मेरे भक्त को भी मेरा अनुकरण करते हुए उसका भक्त बनना चाहिये, जिसका मैं भक्त हूँ। प्रभु का भक्त सो मेरा भक्त। और यही उपदेश सदा गुरुओं ने शिष्यों को दिया है कि उन सब इन्द्रियों को वश में लाकर हर मेरा शिष्य मेरे मार्ग में तत्पर रहे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियें वश में आ गईं, उसकी प्रज्ञा स्थिर जानो।

आगे स्थित–प्रज्ञता के विरोधी भावों की परम्परा किस प्रकार उत्पन्न होती है, वह शृंखला दिखाते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामःकामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥

विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषुः सङ्गः उपजायते सङ्गात् कामः संजायते कामात् क्रोधः अभिजायते।

'आहा! क्या मज़ेदार रसगुल्ला था' इत्यादि शब्दों से आकर्षण–पूर्वक किन्हीं भी इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करते हुए मनुष्य की उस ध्येय वस्तु में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्ति से फिर किसी भी उपाय से उस वस्तु को प्राप्त करने की कामना उत्पन्न हो जाती है, फिर यदि उस कामना की पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा पड़े तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है।

क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

क्रोधात् सम्मोहः भवति सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः भवति स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः भवति बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

क्रोध से किस कार्य का क्या परिणाम होगा यह विवेक नहीं रहता। तब उसने किस समय किसके साथ क्या वचन किया था यह स्मृति नष्ट हो जाती है, फिर स्मृतिनाश के साथ सम्पूर्ण सदुपदेश लुप्त हो जाते हैं और मनुष्य बुद्धिहीन हो जाता है, फिर मनुष्य तो मनन की—बुद्धि की औलाद है। बुद्धि नष्ट हुई तो मनुष्य नष्ट हो गया।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥

विधेयात्मा आत्मवश्यैः रागद्वेषवियुक्तैः तु इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति।

संयत आत्मा वाला मनुष्य अपने वश में की हुई और राग तथा द्वेष से रहित इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ प्रसाद=चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

वि० वि०—इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होना मात्र कोई दोष नहीं उल्टा समस्त ज्ञान की वृद्धि इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के गुणों का प्रत्यक्ष होने पर ही होती है, किन्तु उस प्रत्यक्ष में राग–द्वेष का लेप चढ़ जाने से धुँधलापन आ जाता है। जिस प्रकार कोई मूर्ख आग जलाने के लिये सामने पड़े बहुमूल्य ग्रन्थों को ईंधन समझकर जला दे तो इन्धनातुरता का मैल चढ़ जाने से उसको यह भी भान नहीं हुआ कि किसी दूसरे से ही पूछ ले कि कागज़ काम के हैं वा रद्दी। इसी प्रकार दृष्टि राग–द्वेष से गदली हो जाने से मनुष्य अति तुच्छ लाभ के लिए मूल्यवान् से मूल्यवान् मनुष्य की हत्या कर बैठते हैं और स्वजन–मोह से गदले नेत्र हो जाने से अर्जुन सरीखे क्षत्रिय को दुर्योधन के दोष भूल जाते हैं। किन्तु राग–द्वेष वियुक्त इन्द्रियों से विषयों में विचरता हुआ मनुष्य प्रसाद को प्राप्त होता है, उसे हर पदार्थ का ठीक मूल्य दीखने लगता है, क्योंकि इन्द्रियों के आत्मा के वश में आ जाने से धुँधलापन दूर हो जाता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

प्रसादे अस्य सर्वदुःखानाम् हानिः उपजायते प्रसन्नचेतसः हि बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते।

इस प्रकार चेतना में धुँधलापन दूर होकर प्रसाद आ जाने पर उस मनुष्य की सब दुःखों की हानि हो जाती है और प्रसन्न चेतना वाले मनुष्य की बुद्धि शीघ्र उचित स्थान में टिक जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति, न च अयुक्तस्य भावना अस्ति,

अभावयतः च शान्तिः न, अशान्तस्य सुखम् कुतः?

जिसका चित्त सरहित नहीं उसे अनासक्त बुद्धि प्राप्त नहीं होती और न ही 'पदार्थों को तथा परिस्थितियों को मेरे ठीक संकल्प के अनुकूल होना पड़ेगा।' ऐसी दृढ़ भावना-शक्ति उसमें रह जाती है और जो पदार्थों को अपने अनुकूल होने के लिये बाधित नहीं करता, किन्तु जैसा परिस्थिति कहे वैसा होता जाता है, उस हवा के झकोरे के साथ चलने वाले को शान्ति लाभ नहीं होता और जिसे शान्ति लाभ नहीं होता उसे सुख कहाँ?

वह पवन को अपने पीछे नहीं चला रहा इसलिये—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

यत् मनः चरतां इन्द्रियाणाम् हि अनुविधीयते तद् अस्य प्रज्ञाम् वायुः अम्भसि नावम् इव हरति।

समुद्र अथवा नदी में जब नाव चलती है तब नाविक यह देखता है कि कब पाल लगाना, कब उतारना कब डांड चलाना आदि किन्तु जो मन विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के पीछे कर दिया जाता है वह उसकी बुद्धि को ऐसे चक्कर देता है जैसे नाविक-विहीन नाव को वायु चाहे जहाँ ले जाता है।

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

हे महाबाहो! तस्मात् यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

हे महाबाहो! इसलिये जिसकी इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के अभिलषित विषयों से हटाकर अपने वश में करली गई हैं, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है, वही स्थितप्रज्ञ है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥

या सर्वभूतानां निशा तस्यां संयमी जागर्ति यस्यां भूतानि जाग्रति सा पश्यतः मुनेः निशा।

जो सब प्राणियों के लिये रात्रि है उसमें संयमी पुरुष जागता

रहता है और जिस समय सब प्राणी जागरूक रहते हैं वह अवस्था तत्त्वद्रष्टा मनुष्य के लिये रात्रि के समान है।

वि० वि०—संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं, एक कर्त्तव्य-परायण दूसरे क्षणिक-सुख-परायण। सो संसार के प्राणिमात्र कर्त्तव्य का नाम आते ही ऊँघने लगते हैं और विषय-सुखों की बात सुनते ही जागरूक हो जाते हैं। सो यह कर्त्तव्य की दुनिया संसारी लोगों की निद्रादायिनी रात्रि है। कोई-कोई संयमी ही इसमें जागता है, किन्तु उस तत्त्वदर्शी मुनि के लिये यह क्षणभंगुर विषयों की दुनिया जिसमें प्राणीमात्र जागरूक रहते हैं, रात्रि है।

बालक को देखिये। पिताजी मेले से खिलौना लाये। वह दूर से ही देखकर नाचने लगता है और उसकी धूम से मोहल्ला भर जान जाता है कि उसका मनचाहा खिलौना आ गया। परन्तु बड़ी आयु के लोग शोर नहीं मचाते कि लट्टू आ गया। परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो इन क्षणभंगुर खिलौनों के पीछे संसार पागल है। इन छोटी-छोटी नदियों को देखिये थोड़ा-सा पानी बरसा कि इनकी लहरें पर्वत के समान हो उठती हैं, परन्तु ये सहस्रों नदियाँ रात-दिन समुद्र में गिरती हैं, परन्तु वहाँ कोई उथल-पुथल नहीं मचती, चुपचाप समुद्र में लीन होती जाती हैं। बस यही अवस्था स्थितप्रज्ञ की है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

(नाना नदी-नदैः) आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठम् समुद्रम् यद्वत् आपः प्रविशन्ति तद्वत् यम् सर्वे कामाः प्रविशन्ति सः शान्तिम् आप्नोति कामकामी न।

जो नाना नदी-नद-मेघ वृष्टि आदि से प्रतिदिन भरा जा रहा है, फिर भी जिसकी प्रतिष्ठा अचल है उस समुद्र में जिस प्रकार सारे जल-प्रवाह चुपचाप प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार जिन पदार्थों की कामना के वशीभूत संसार उछल-कूच मचा रहा है, वे जिसके आधिपत्य में चुपचाप प्रवेश कर जाते हैं वह मनुष्य शान्ति पाता है। पदार्थों की कामना में हाय-हाय करने वाला नहीं। यही शान्ति स्थितप्रज्ञ की सबसे बड़ी पहचान है।

वि० वि०—ये मनुष्यों को बेचैन करने वाली कामनाएँ मुख्यतया

तीन प्रकार की हैं। एक इन्द्रिय–भोग–सुख–जन्य, एक ममता जन्य और एक अहङ्कारजन्य। इन्द्रिय–सुख–जन्य जैसे विविध आहार तथा सुन्दर रूप, ममताजन्य जैसे किसी के प्रेम–पात्र का पुराना कपड़ा आदि और अहंकार–जन्य जैसे रायबहादुर या नगरपालिका का सदस्य आदि बनने की इच्छा।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ १७॥

यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निःस्पृहः निर्ममः निरहंकारः चरति सः शान्तिम् अधिगच्छति।

जो मनुष्य इन सब कामनाओं को छोड़कर स्पृहा–रहित, ममता–रहित तथा अहंकार–रहित होकर विचरता है वही शान्ति पाता है—

हे अर्जुन! सच्चा सुख पाने के लिये शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय सब को किसी न किसी अंश तक ब्राह्मण बनना पड़ता है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

हे पार्थ! एषा ब्राह्मी स्थितिः एनाम् प्राप्य न विमुह्यति, अन्तकाले अपि अस्याम् स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति।

हे अर्जुन! गतिहीनता दो प्रकार की है। एक तमोगुण–जन्य जो श्मशान भूमि में मिलती है, परन्तु निर्वाण अर्थात् गतिशून्यता तो वह है कि मनुष्य अपनी सब भावनाओं और कामनाओं को प्रभु के—परब्रह्म के अर्पण करके खूब गतिशील होता है, किन्तु समुद्र में प्रविष्ट नदी के समान उसकी उछल–कूद कहीं पृथक् नहीं दीखती। इस अवस्था का नाम ब्रह्मनिर्वाण है। ब्राह्मणों के मन की यह साधारण अवस्था है। इसलिए कहा—हे पार्थ! इस स्थिति का नाम ब्राह्मी स्थिति है। इसको पहुँचकर मनुष्य फिर धोखा नहीं खाता और यदि किसी मनुष्य की स्थित–प्रज्ञता इतनी बढ़ जाय कि वह मरणकाल में भी इसी अवस्था में रह सके तो उसे चाहे वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी हो ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है।

इति द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः

अब भोगैश्वर्यदायक अनुष्ठान रूप कर्म तथा कर्मयोगी का कर्म इन दोनों में भेद स्पष्ट करने के लिये तृतीयाध्याय का आरम्भ होता है।

अर्जुन पूछता है कि हे कृष्ण! एक ओर तो आप कहते हैं 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः' (गीता २.४९) दूसरी ओर मुझे धनुष–बाण उठाकर नरसंहार के लिये आज्ञा दे रहे हैं और मेरी स्वजन–हितकारिणी बुद्धि को क्लैव्य तथा अनार्यजुष्ट कश्मल कह रहे हैं, यह क्या गोरख–धन्धा है?

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥

हे केशव! तव कर्मणः बुद्धिः ज्यायसी मता चेत् तत् माम् किम् घोरे कर्मणि नियोजयसि।

हे केशव! यदि तुम्हारा सिद्धान्त यह है कि कर्म से बुद्धि का स्थान बड़ा है तो मुझे इस नाना नरगजाश्व–संहार रूप नृशंस कर्म में क्यों जोत रहे हो।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिम् मोहयसि इव। तत् एकं निश्चित्य वद येन अहं श्रेयः आप्नुयाम्।

खिचड़ी–सी मिलीजुली बातें कहकर मेरी बुद्धि को और उलझन में डाल रहे हो। मुझे वह एक पक्की बात बताओ जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँ।

श्रीकृष्ण बोले—

श्रीकृष्ण उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

हे अनघ! अस्मिन् लोके पुरा मया द्विविधा निष्ठा प्रोक्ता, ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्।

हे अर्जुन! मैं सांख्य–योग दोनों ही मार्ग जानता हूँ। इससे पहिले आवश्यकतानुसार मैंने सांख्य–योग दोनों मार्गों की भिन्न–भिन्न जन्मों में व्याख्या की है। (आगे चलकर कहेंगे कि—'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुनि' (गीता ४।५)।

इस लोक में पिछले जन्मों में मैंने दो प्रकार की श्रद्धा का वर्णन किया है। सांख्य–पद्धति में ज्ञान–योग है, योग–पद्धति में कर्मयोग है। भाव यह है कि एक तो वे लोग हैं जो तर्कपूर्वक कर्त्तव्याकर्त्तव्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उत्तम कर्मों की ओर आते हैं और दूसरे वे हैं जो किसी परोपकारी महात्मा के साथ लगकर सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और धीरे–धीरे कर्म–अकर्म–विकर्म का तत्त्वज्ञान तथा क्या कैसे क्यों भी प्राप्त कर लेते हैं। दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं, दोनों एक–दूसरे के बिना अधूरे हैं। भेद केवल आनुपूर्वी का है। एक ज्ञानपूर्वक सत्कर्म में प्रवृत्त होते हैं, इनका नाम सांख्य–योगी है। दूसरे कर्म–पूर्वक ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं, इनका नाम कर्मयोगी है। सो सांख्ययोगी ज्ञान द्वारा सद्गति पाते हैं, कर्मयोगी कर्म द्वारा।

परन्तु हे अर्जुन! इस सारे गोरखधन्धे को समझने के लिये हम कर्म शब्द का किस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं यह समझना आवश्यक है। इसमें भी पहिले यह जानना आवश्यक है कि कर्म का अर्थ क्या नहीं है, सो पहिले वही सुनो—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

पुरुषः कर्मणाम् अनारम्भात् नैष्कर्म्यम् न अश्नुते, संन्यसनाद् एवं च सिद्धिम् न समधिगच्छति।

सब से पहिली बात तो यह समझ लो कि निष्कर्म होने का अर्थ निकम्मा–कर्महीन–भाग्यवादी बनकर हाथ पर हाथ धरकर बैठना नहीं है और न ही निष्कर्म का अर्थ 'उलटा–सीधा कुछ भी करो। किन्तु संन्यास–वृत्ति से भगवदर्पण करके करो। भावना आसक्ति की नहीं हो बस इतना ही पर्याप्त हैं।' सो यह भी नहीं। पागलखाने में पागल लोग जो कुछ करते हैं बिलकुल निष्काम–निर्लेप–अनासक्त

भाव से करते हैं। परन्तु वह संन्यास–योग नहीं। फलासक्ति छोड़कर शुभ–कर्म करना निष्कर्मता है, कर्महीनता अथवा आसक्तिहीनता दोनों कर्मयोग के लिये पर्याप्त नहीं। सो नैष्कर्म्य का अर्थ निकम्मापन नहीं।

और सच पूछो तो पूर्णतया निकम्मा कोई चाहे तो भी नहीं रह सकता। क्योंकि—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

कश्चित् क्षणमपि जातु अकर्मकृत् नहि तिष्ठति सर्वः हि प्रकृतिजैः गुणैः अवशः कर्म कार्यते।

इस संसार में कोई एक क्षणभर भी कभी कर्म किये बिना नहीं रह सकता सबके सब को प्रकृति जन्य गुण भूख–प्यास आदि बेबस कर के काम करवाते हैं? यहाँ तक कि कोई चाहे कि मैं सोता ही रहूँ तो उसे भी मादक द्रव्यादि सेवन रूप कर्म करना ही पड़ता है और निद्रा में भी श्वास–प्रश्वास क्रिया चालू रहती है।

हाथ–पैर आदि कर्मेन्द्रियों को क्रियारहित करना ही नैष्कर्म्य नहीं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

यः विमूढात्मा कर्मेन्द्रियाणि संयम्य मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते स मिथ्याचारः उच्यते।

जो भ्रान्तमति मनुष्य कर्मेन्द्रियों को जबरदस्ती से वश में करके मन से इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता रहता है, ऐसा मनुष्य मिथ्याचारी कहलाता है। यहाँ मिथ्याचारी का अर्थ पाखण्डी नहीं समझना। पाखण्डी दूसरों को धोखा देता है। किन्तु मिथ्याचारी अपने–आपको धोखा देता है। आँख फोड़ ली तो रूप के विकारों से बच गए। भला चोर तो मनरूपी दुर्ग में सुरक्षित है, बाहर से फाटक बन्द करने से क्या लाभ। अतः इस प्रकार का मनुष्य विमूढात्मा है।

'नैष्कर्म्य' किस को नहीं कहते, यह बताकर किसे कहते हैं यह बताते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

हे अर्जुन! यः तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते स असक्तः विशिष्यते।

हे अर्जुन! जो इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करके कर्मेन्द्रियों से पूरा काम लेता है वही कर्मयोगी 'नैष्कर्म्यवान्' इस विशेषण से विशिष्ट होता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

त्वम् नियतम् कर्म कुरु कर्म हि अकर्मणः ज्यायः, अकर्मणः च ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिध्येत्।

हे अर्जुन! तू परमात्मा तथा शिष्ट पुरुषों द्वारा नियत अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यादि तथा स्वयम् अपने आप चुनाव द्वारा अपने लिये नियत किया हुआ ब्राह्मणत्वादि-साधक कर्म अवश्य कर। कर्महीनता से कर्मशीलता बड़ी है और अगर कहीं तूने मूर्खतावश सर्वथा कर्महीन होने का दावा कर लिया तब तो अन्त को भोजन, जल, निद्रादि का सेवन भी तो तुझे नहीं करना होगा क्योंकि ये भी कर्म हैं। और तब तेरी शरीरयात्रा भी न चलेगी।

इसलिये नैष्कर्म्य का अर्थ है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयम् लोकः कर्मबन्धनः, हे कौन्तेय त्वं मुक्तसंगः तदर्थम् कर्म समाचर।

हे कौन्तेय! यज्ञ-निमित्तक कर्म से अन्यत्र और कोई कर्म करे तो मनुष्य कर्म-बन्धन में पड़ जाता है। अत: 'उस कर्म के बदले में क्या पारितोषिक मिलेगा' इस आसक्ति से रहित होकर उसके निमित्त कर्म कर।

वि० वि०—यहाँ पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि यज्ञ नाम किस का है। प्राय: लोग अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ-रूपकों को यज्ञ समझते हैं। यह भयंकर भूल है। इनका नाम तो द्रव्य-यज्ञ है। इनका उद्देश्य है ज्ञान-यज्ञ। फिर ज्ञान-यज्ञ भी अधूरा है। वह तो कर्म से पूरा होता है। इसीलिये कहा—'कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:' परन्तु पहिले तो यह समझना है कि यह द्रव्य-यज्ञ वस्तुत:

यज्ञ है ही नहीं। यह तो काव्य है। तब आप कहेंगे कि क्या ये अग्निहोत्रादि कर्म तुच्छ हैं? तो मैं पूछूँगा कि क्या काव्य तुच्छ है। इन अग्निहोत्रादि कर्मों का मूल्य उतना ही है जितना काव्य का। न उससे कम न उससे अधिक। वाल्मीकि-रामायण काव्य है, क्या वह तुच्छ है? काव्य का उद्देश्य है—**रामादित् प्रवर्त्तितव्यम् न रावणादिवत्।** किन्तु क्या रामायण पढ़ लेने मात्र से उद्देश्य-सिद्धि हो गई? कदापि नहीं। जब तक रामायण में यह पढ़कर कि—'रघुकुल रीति चली यह आई। प्राण जाय पर वचन न जाई' मनुष्य वचन पर दृढ़ रहना नहीं सीख जाते तब तक काव्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। इसी प्रकार अग्निहोत्र द्वारा जब तक हम यह नहीं सीख जाते कि—'जिस प्रकार समिधा स्थूल अग्नि के लिये अपने आप को अर्पण करके दीप्ति उत्पन्न करती है, इसी प्रकार दीक्षा और तप रूप अग्नि के अर्पण करके मनुष्य भी जीवन का उद्देश्य पूर्ण करता है।' तब तक अग्निहोत्र का कुछ लाभ नहीं। ये जो यज्ञों में नाना प्रकार के पशु आये हैं ये रूपक के पात्र मात्र हैं। इसीलिये यजु० ३९.४ में लिखा है है 'पशूनां रूपम् अशीय' हे प्रभो! आप की कृपा से मैं पशुओं के शुभ गुणों का रूप अपने अन्दर धारण करूँ। दीक्षा तथा तप को अग्नि स्पष्ट कहा है—'दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा' यजु० ४.७। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण में अग्निहोत्र को स्पष्ट शब्दों में काव्य कहा है (शतपथ ब्राह्मण ११.५.६)।

अतएव ये अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ तो यज्ञरूपक हैं। अग्निहोत्र सत्य के श्रद्धा में हवन का रूपक है (शत० ११.३.५-४)।

इसी प्रकार अश्वमेध राष्ट्र का रूपक है—'राष्ट्रं वा अश्वमेध:' (शतपथ ब्राह्मण १३.१.६.३)।

अब प्रश्न उठता है कि यदि अग्निहोत्र से अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञरूपक हैं तो यज्ञ किसका नाम है? इसका उत्तर व्याकरण शास्त्र से लीजिये। यज्ञ शब्द यज धातु से बना है। यज के तीन अर्थ हैं—देवपूजा, संगतिकरण और दान। वस्तुत: संगतिकरण ही यज्ञ है। देवपूजा और दान से ही संगतिकरण होता है। इस संसार में जितने संगठन हैं, सब लेन-देन का परिणाम हैं। देने वालों को देव कहते

हैं 'देवो दानात्' (निरुक्त, दै० ४.१५) अब जब देव कुछ देते हैं तो लेने वाला बदले में उनकी पूजा करता है। सो कुटुम्ब से लेकर मानव राष्ट्र तक जितने संगठन हैं, वे यज्ञ हैं और उनमें परस्पर व्यवहार कैसा होना चाहिये यह दिखाने वाले रूपकों का अर्थात् अग्निहोत्रादि का नाम इसीलिये यज्ञ है कि वे वास्तविक यज्ञ का अभ्यास कराते हैं। इन यज्ञों का वास्तविक यज्ञों से वही सम्बन्ध है जो युद्ध से परेड का। परेड के बिना कोई सेना युद्ध नहीं जीत सकती। परन्तु परेड का युद्ध नकली युद्ध है। सिखाने का साधन मात्र है। असली यज्ञ तो जड़ देवताओं की जड़ पूजा तथा चेतन देवताओं की चेतन पूजा का नाम है। यज्ञ के तीन अङ्ग हैं—

१. देवताओं की पूजा।

२. संगठित पूजा।

३. निष्काम पूजा।

आज सारी यज्ञ-प्रक्रिया उटली हो गई है। भूमि एक जड़ देवता है, उसकी पूजा खाद से होनी चाहिये, किन्तु हम धरती को प्रणाम करके फूल चढ़ाते हैं। मनुष्य-चेतन देवता है। उसको मकान और वस्त्र आदि जड़-पदार्थों की पूजा में लगा दिया है, उसकी पूजा तो चरित्र निर्माण है।

फिर यह पूजा संगठित रूप से होनी चाहिये। जैसे विद्यादान का कार्य है। यदि मनुष्यों को विद्यादान का कार्य व्यक्तियों की लहर पर छोड़ दिया जाय तो अवस्था यह होगी कि जब लहर उठी विद्या दे दी, जब न उठी पड़े रहे। जिसकी ओर मौज आ गई, उस कुपात्र को भी विद्या दे दी। किसी छोटी-सी बात से चिड़ गए तो पात्र को भी न दी। इसलिये राष्ट्र के बन्धन से सबको शिक्षा मिले।

फिर इस महान् यज्ञ में हर कार्यकर्त्ता कर्त्तव्य-पालन का रस लेना सीखे, पारितोषिक के पीछे न भागे। पारितोषिक उसके पीछे भागे, यह है यज्ञविद्या। जिसे कृष्ण महाराज यहाँ सिखाने चले हैं, जिसे सीखकर अर्जुन ने समझ लिया कि ये शत्रु मेरे स्वजन हैं या परजन—पराये, यह विचारने का मेरा अधिकार नहीं, मैं तो क्षत्रिय-समाज नामक यज्ञ की समिधा हूँ, अन्याय से लड़ना मेरा व्रत है। फिर उसके बदले में कुछ मिले या न मिले, मुझे तो उसका पालन

करना है। यही बात इस अध्याय में स्पष्ट की गई है। जो मनुष्य व्यक्तिगत सुख-दुःख का विचार न करके लोक-कल्याणार्थ काम करता है, उसे न रक्षा का बन्धन है, न मारने का, लोक-कल्याण के लिये—यज्ञ के लिये—संगतिकरण के लिये कार्य हो रहा है तो फिर स्वजनता का बन्धन उसे नहीं रोक सकता। जब कर्म यज्ञार्थ किये जाते हैं तो यज्ञ-पूर्ति के अतिरिक्त सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं। हाँ, यज्ञ-पूर्ति पर पारितोषिक-प्राप्ति का बन्धन उसे आगे कर्म करने से रोकता है, इसलिये कहा कि यज्ञार्थ-लोक-कल्याणार्थ कर्म की मुक्तसङ्ग होकर फलासक्ति से रहित होकर—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

पुरा प्रजापतिः सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टवा उवाच अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वः इष्टकामधुक् अस्तु।

प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करते हुए यज्ञ उसके साथ ही उत्पन्न कर दिया। क्योंकि इस संसार में कोई भी प्रजा बिना मैथुन के अर्थात् दो के संगतिकरण के नहीं होती। यदि पति-पत्नी को ज्ञान शौर्य उदारता आदि फल देकर उसका आराध्य बन जाता है और पत्नी उसके इन गुणों की आराधना के निमित्त अपना शरीर देकर उसकी पूजा करती है तब वह यज्ञ है। कुछ भी हो यज्ञ का मुख्य लक्षण संगतिकरण उसके साथ लगाकर प्रजापति ने कह दिया कि हे प्रजा! तेरी उत्पत्ति से पहिले तेरे माता-पिता ने गर्भाधान रूप यज्ञ किया था। यदि वह विधिहीन असृष्टान्न श्रद्धा-विरहित था तो वह तामस यज्ञ था, परन्तु था यज्ञ। सो इस यज्ञ के द्वारा ही तुम शासन करो, जितनी इसमें यज्ञरूपता आती जायेगी उतना ही यह तुम्हारे लिये कामधेनु होता जायेगा। यह यज्ञ सारे ब्रह्माण्ड में हो रहा है। यह अगले श्लोक में बतायेंगे।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥

देवान् अनेन भावयत ते देवा वः भावयन्तु परस्परम् भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ।

देव दो प्रकार के हैं। एक चेतन देव। जैसे माता, पिता, गुरु,

पुरोहित, राजा आदि। उनकी पूजा करो। उन्हें अपनी श्रद्धा प्रेम तथा सेवा से इतना प्रसन्न करो कि जिससे वे तुम्हारी उचित अभिलाष पूरी करें तथा वे तुम्हारी भावना करें अर्थात् वे पारितोषिक रूप में तुम्हें सद्बुद्धि तथा सन्मार्ग प्रदान करके तुम्हारी अभिलाषाओं को तुम्हारे पुरुषार्थ से तुम्हारे ही द्वारा पूरी करवाएँ।

इसी प्रकार जड़ देवता सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, मेघ आदि इनकी पूजा दो प्रकार की होती है। एक क्षतिपूर्ति द्वारा एक अनुकरण द्वारा। जैसे पृथिवी की पूजा दो प्रकार की होती है। एक खाद देकर दूसरे उसके क्षमा उर्वरात्व आदि गुणों का अनुकरण करके तथा जिस प्रकार यह जड़-पदार्थ अपने स्वामी परमेश्वर के पूर्णतया आज्ञानुवर्ती होकर चलते हैं इसी प्रकार उस स्वामियों के स्वामी का पूर्णतया अनुकरण करना। इसी प्रकार देव और भक्त दोनों ही परस्पर भावना द्वारा परम श्रेय को प्राप्त होओगे।

परन्तु इस यज्ञ का स्वरूप पूर्णतया 'एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्' इस सोलहवें श्लोक में जाकर खुलेगा। जहाँ छोटे यज्ञ को बड़े यज्ञ के अर्पण द्वारा ब्रह्माण्ड-यज्ञ अर्थात् महा विष्णु तक का तत्त्व खुल जायेगा। परन्तु इस सारे यज्ञ-चक्र में जो मौलिक सिद्धान्त काम कर रहे हैं उनमें से एक मुख्य सिद्धान्त यह है—'जिससे कुछ ले, उसे किसी न किसी रूप में अवश्य लौटा दे'। यह सिद्धान्त यहाँ इन शब्दों में प्रकट किया गया है—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् हि दास्यन्ति तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय यः भुङ्क्ते सः स्तेनः एव।

लोक-कल्याण की भावना से संगठित होकर पूजा किये हुए देव तुम्हें अभीष्ट भोग-प्रदान करेंगे। उनके दिये के बदले में उन्हें कुछ दिये बिना जो भोग करता है उसे डाकू ही समझो।

वि०वि०—इसे जड़-चेतन दोनों देवों में लगा लो। धरती से हम अन्न लेते हैं, उसे खाद के रूप में, जो हमने उससे छीना है वह वापिस न किया जाय तब तक हम डाका मार रहे हैं। इसलिये खेती धर्म है और खान खोदना डाका। आज हम नाना वैज्ञानिक उपायों

से लाखों मन कोयला धरती माता से छीन रहे हैं। जब तक उन गढ़ों में फिर से पैदा करने का उपाय न कर लिया जाय तब तक यह कोयला खोदना डाके से हम नहीं। इसी प्रकार गुरु से विद्या लें और सेवा न करें तो यह डाका है।

जिस यज्ञ का अब तक वर्णन हुआ है और जिसके लिये कहा है कि प्रजापति ने हर प्रजा के साथ यज्ञ की सृष्टि की है। उसका स्वरूप अगले श्लोक में और स्पष्ट है।

वेद में लिखा है **'केवलाघो भवति केवलादी'** (ऋ० १०.११७.६) इसी भाव को गीता ने इन शब्दों में दोहराया है—**'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'** वेद ने कहा—जो अकेला भोजन खाता है वह निरा पाप खाता है। गीता ने कहा जो केवल अपने लिये भोजन पकाते हैं, वे केवल पाप की हण्डिया पकाते हैं। बस इसका उलटा है—यज्ञशेष खाना। ब्राह्मण लोक-कल्याण के लिये अपना समय ज्ञानोपार्जन तथा ज्ञान-दान में लगाता है तथा अपने भोजन में से थोड़ा-सा वैश्व-देव-बलि के लिये निकालता है, यह वैश्व-देव-बलि इसका प्रतीक है कि ब्राह्मण सदा याद रक्खे कि यह जो मैं निश्चिन्त होकर ज्ञानोपार्जन कर रहा हूँ, इस निश्चिन्तता के लिये मैं राजा, प्रजा सब का यहाँ तक कि प्राणिमात्र का ऋणी हूँ। मुझे लोक-कल्याण के लिये जीना है और जीने के लिये खाना है। इसी प्रकार क्षत्रिय अन्याय निवारण के व्रत के लिये जीता है और जीने के लिये खाता है। वैश्य प्रजा का दारिद्र्य-निवारण करने के लिये जीता है और जीने के लिये खाता है। शूद्र किसी-न-किसी व्रतधारी की सेवा के लिये जीता है और जीने के लिये खाता है। उनका भोजन यज्ञ से बचा हुआ भाग है, इससे उलटे असुर लोग खाने के लिये जीते हैं और जीने के लिये स्वार्थवश कभी किसी की सेवा भी कर लेते हैं। सो लोक-सेवा के लिये जीना और जीने के लिये खाना यज्ञशेष खाना है। इसके विपरीत खाने के लिये जीना और जीने के लिये सेवा करना भोजन-शेष सेवा है। सेवा-शेष भोजन यज्ञ है, भोजन-शेष सेवा केवल पाप की हण्डिया है, इसलिये कहा—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्विषैः मुच्यन्ते ये तु आत्मकारणात् पचन्ति ते तु अघम् भुञ्जते।

यज्ञ से बचा हुआ खाने वालों को सब पाप छोड़ जाते हैं। किन्तु जो केवल अपने निमित्त भोजन पकाते हैं वे निरा पाप खाते हैं।

अब यज्ञ-चक्र का वर्णन करते हैं। इन अगले दो श्लोकों को इकट्ठा समझकर व्याख्या करने से ही इनका आशय स्पष्ट होगा, परन्तु पहिले इनका अक्षरार्थ देकर फिर दूसरे श्लोक की व्याख्या में सारे रहस्य का प्रकाश करेंगे।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

अन्नात् भूतानि भवन्ति पर्जन्यात् अन्नसम्भवः। पर्जन्यः यज्ञात् भवति यज्ञः कर्मसमुद्भवः।

प्राणिमात्र अन्न से सत्ता प्राप्त करते हैं। अन्न की सत्ता बादल से होती है। बादल यज्ञ से अर्थात् नाना शक्तियों के परस्पर सहयोग से सत्ता प्राप्त करता है और यज्ञ एक लक्ष्य को सामने रखकर किये जाने वाले भिन्न-भिन्न यहाँ तक कि परस्पर विरोधी कर्मों से उत्पन्न होता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

कर्म ब्रह्मोद्भवम् विद्धि ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम् (विद्धि) तस्मात् सर्वगतम् ब्रह्म नित्यम् यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

कर्म वेद से उत्पन्न होता है ऐसा जान और वेद अक्षरों से उत्पन्न होता है यह जान। इस प्रकार सर्वव्यापक वेद नित्य यज्ञ के सहारे खड़ा है।

वि०वि०—इन दो श्लोकों में सबसे अधिक मार्मिक शब्द हैं सर्वगतम् ब्रह्म। ब्रह्म नाम इस प्रकरण में मन्त्र का है। मन्त्र दो प्रकार के हैं—एक—'पुस्तकगत', दूसरा—'सर्वगत'। ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद के मन्त्र 'ग्रन्थ-गत' मन्त्र हैं, किन्तु उनके अनुसार जो कार्य ब्रह्माण्ड के जिस क्षेत्र में हो रहा है, वह सर्वगत मन्त्र है। संसार का हर क्षेत्र कोई न कोई अन्न उत्पन्न कर रहा है। इसीलिये उसका नाम क्षेत्र, अर्थात् खेत है। उदाहरणार्थ मोटर का कारखाना एक क्षेत्र

है। और मोटर इसका अन्न है। छापाखाना नाम के क्षेत्र में पुस्तक नाम का अन्न पैदा होता है और विद्वानों के मस्तिष्क में मूल ग्रन्थ नाम का अन्न पैदा होता है। उस क्षेत्र के लोग उस अन्न पर जीते हैं, किन्तु उस क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं का परिश्रम वे बादल हैं, जिनकी वर्षा से वह क्षेत्र हरा-भरा होता है। वह परिश्रम बिखरा हो तो व्यर्थ है, किन्तु उनमें पूर्ण सहयोग हो, तब उस यज्ञ अर्थात् सहयोग से वह बादल बनता है। सहयोग में हर व्यक्ति को जो कर्म करना है उसी से यज्ञ की उत्पत्ति है और उस व्यक्ति के कर्म में जो नियमबद्ध शृङ्खला है वही सर्वगत ब्रह्म है। और उस शृङ्खला की हर कड़ी एक मन्त्राक्षर है। इसलिये यह सर्वगत वेद-यज्ञ अर्थात् परस्पर सहयोग के सिर पर खड़ा है।

अब यदि व्यक्ति यज्ञ की नियत की हुई शृङ्खला को तोड़ दे तो अक्षर भंग हो गया और यदि सर्वहित की भावना को व्यक्ति हित पर बलिदान करदे तब तो मन्त्र ही भंग हो गया। इसलिये कहा—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

यः एवम् प्रवर्तितम् चक्रम् इह न अनुवर्तयति। हे पार्थ! सः अघायुः इन्द्रियारामः मोघम् जीवति।

हे अर्जुन! इस वेद द्वारा 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्यादि मन्त्रों में बताए हुए चक्र का जो अपने जीवन में ठीक तदनुसार आचरण द्वारा बर्त्ताव नहीं करता है। हे पार्थ! वह पाप-प्रिय मनुष्य व्यर्थ ही जीवन बिताता है।

वि०वि०—यहाँ जीवन-चक्र दो हैं—एक हर यज्ञ की अपनी कार्य-शङ्खला, दूसरे छोटे यज्ञ का बड़े यज्ञ के लिये बलिदान।

एक मनुष्य अन्न खाता है, वह रुधिर बनकर उसके सारे शरीर में चक्कर काटता है। इस चक्कर की शृङ्खला कहीं भंग हुई तो अक्षर भंग हुआ। इसी प्रकार व्यक्ति का बलिदान कुटुम्ब के लिये यह चक्र कहीं टूटा और राष्ट्र को व्यक्ति के लिये और विश्व-राष्ट्र को एक राष्ट्र के लिये बलिदान कर दिया तो मन्त्र भंग हो गया। ऐसे मन्त्र भंग करने वाले इन्द्रियों के विषयों में रमने वाले पाप-बुद्धि का जीना व्यर्थ है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

यस्तु मानवः आत्मरतिः आत्मतृप्तः आत्मन्येव च सन्तुष्टः स्यात् तस्य कार्यं न विद्यते।

इन्द्रियाराम पुरुष तो अघायु हो जाता है। इन्द्रियों के विषयों का भोग जब उसे आसक्ति में ग्रस लेता है, तब वह उन वासनाओं की तृप्ति के लिये अघायु अर्थात् पापयुक्त उपायों पर भी उतारू हो जाता है, किन्तु जो अपने अन्दर ही रति अर्थात् सुख ढूँढता है, तो इन्द्रियाराम के स्थान में आत्माराम होता है उसको तो भावनाओं की तृप्ति करनी है, वह उसे अपने अन्दर ही मिल जाती है। इसलिये वह अपने अन्दर ही तृप्त हो जाता है और इससे अधिक वह कुछ माँगता नहीं। इसलिये उस तृप्ति के कारण और इच्छा न रह जाने से वह अपने अन्दर ही सन्तुष्ट हो जाता है और उसे कोई मार्गभ्रष्ट करने वाला कार्य शेष नहीं रह जाता।

'मैं सेवा करता हूँ, इसलिये सबको मेरा सेवक होना चाहिये नहीं तो मैं इन सबसे बदला लूँगा', यह कृताभिमान-जन्य आसक्ति है। 'मैं किसी से कोई अपना काम नहीं करवाता', इसी शेखी में लोक-कल्याण के काम बिगाड़ देना, यह अकृताभिमान रूप आसक्ति है, किन्तु सच्चा यज्ञ करने वाला तो लोक-कल्याण के कार्य को आगे ले जाता है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

इह तस्य न एव कृतेन कश्चन अर्थः न अकृतेन (कश्चन अर्थः) अस्य सर्वभूतेषु कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः च न।

न तो उसे इससे कुछ मतलब है कि मेरी सेवा के बदले में किसी ने मेरे साथ क्या किया और न ही यह शेखी मारने में आसक्ति है कि मैंने जो कुछ किया, अकेले किया। लोकसेवा में यदि कोई उसकी सहायता करे तो स्वागत, न करे तो उत्साह-भंग नहीं और यह भी नहीं कि मुझे दूसरों से इतनी सहायता मिलेगी तब आगे बढ़ूँगा, मेरी प्रगति दूसरे की आर्थिक सहायता पर ही आश्रित है। सहायता न मिलेगी तो भी काम करूँगा। करने के पश्चात् पारितोषिक न मिले

तो भी करूँगा। यदि कोई सहायता करने आएँगे तो उनका स्वागत करूँगा, अपने स्वावलम्बीपन के घमण्ड में उनका अपमान नहीं करूँगा। यह अनासक्त-सेवक की मनोवृत्ति होती है।

अब प्रश्न उठता है कि कर्मयोग में मुख्यता अनासक्ति की है अथवा पुण्यापुण्य का स्थान मुख्य है। निष्कामभाव से लोक-पीड़ा हो तो वह तो और भी बुरी। कर्म तो पुण्य ही करना चाहिये, किन्तु अनासक्तभाव से। अनासक्त पुण्य से आसक्तियुक्त पुण्य का स्थान छोटा है, किन्तु है वह कर्मयोग की सीमा में। यदि कोई कीर्ति-लोभ से अथवा धनलोभ से प्रजा का कल्याण करता है, रोगियों की सेवा करता है अथवा भूखों को अन्न देता है, तो वह पूर्ण कर्मयोगी नहीं किन्तु तमोगुणी से तथा दुष्ट मनुष्य से तो अच्छा है। किन्तु वही कर्म निष्काम भाव से अनासक्त होकर करे तो पूर्ण कर्मयोगी है, किन्तु यदि दुष्टभाव से लोक-पीड़ा कर कर्म करे तब तो वह दुष्ट है अनार्य है, इसलिये कहा—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

तस्मात् सततम् असक्तः कार्यम् कर्म समाचर, पूरुषः असक्तः हि कर्म आचरन् परम् आप्नोति।

इस श्लोक में सबसे मार्मिक शब्द कार्यम् है। क्योंकि आगे चलकर यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गई है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि॥ —गीता १६।२४

अर्थात् कार्य तथा अकार्य के विवेक में शास्त्र प्रमाण हैं। इसलिये हे अर्जुन! शास्त्र के विधान में कहे हुए कर्म को ठीक-ठीक जानकर वैसा कर।

सो इसलिये स्पष्ट है कि क्या कार्य है क्या अकार्य, यह पहिले समझकर फिर उस कार्य-कर्म को आसक्त होकर करे। इसलिये श्लोक का अर्थ यों हुआ—इसलिये हे अर्जुन! तू कार्य अर्थात् करने योग्य कर्म को निरन्तर असक्त होकर किया कर। असक्त होकर पुण्य कर्म करने वाला मनुष्य परम पद को अर्थात् परमात्म-साक्षात्कार तथा प्रभु-प्राप्ति को प्राप्त होता है।

'सततम्' इसलिये कहा कि थोड़ा-सा भी असावधान होने से आसक्ति आ घुसती है और ज्यों-ज्यों उत्तम कर्मों के फल, रूप, ऐश्वर्य प्राप्ति होती है, आसक्ति का भय बढ़ता जाता है। इसलिये कहा सावधान।

जिन्होंने ऐसा किया उनका दृष्टान्त देकर बात को और स्पष्ट करते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

(पुरा) जनकादयः कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिताः। लोकसंग्रहम् एव सम्पश्यन् अपि कर्त्तुम् अर्हसि।

हे अर्जुन! देखो प्राचीनकाल में जनकादि इतने सिद्ध पुरुष हुए कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी उनके पास ज्ञान लेने आते थे। यह सिद्धि उन्होंने कर्मयोग के बल पर ही प्राप्त की। फिर हर मनुष्य को यह भी विचारकर चलना चाहिये कि मेरे इस आचरण का लोक पर क्या प्रभाव होगा। इस भावना को लोक-संग्रह भावना कहते हैं।

तुम आज यदि युद्ध नहीं करोगे तो क्षात्र-धर्म नष्ट हो जायेगा और संसार का हर भीरु सिपाही युद्ध-क्षेत्र में वैराग्य का बहाना करके भागना चाहेगा। इसलिये प्रथम तो क्षात्र-धर्म का त्याग स्वयम् तुम्हें उचित नहीं, फिर तुम इतने बड़े पद पर प्रतिष्ठित हो तथा ऐसे उच्च राजवंश में जन्मे हो, कि तुम्हारी देखा-देखी सब ही सन्मार्ग को छोड़कर मैदान से भागने लगेंगे। इसलिये लोक-संग्रह की भावना से भी तुम्हें युद्ध करना आवश्यक है।

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

श्रेष्ठः यत् यत् आचरति इतरो जनः तत् तत् एव (आचरति) सः यत् प्रमाणम् कुरुते लोकः तत् अनुवर्तते।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, संसार का साधारण मनुष्य भी वैसा-वैसा ही करता है। जिस वस्तु को वह प्रमाण मानकर, आदर्श मानकर चलता है, संसार उसी आदर्श का अनुसरण करता है। अर्जुन! तुम मुझको ही देखो—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

हे पार्थ! मे त्रिषु लोकेषु किञ्चन कर्त्तव्यम् नास्ति। किञ्चन अवाप्तव्यम् अनवाप्तम् नास्ति, च कर्मणि वर्त्त एव।

हे अर्जुन! मुझे अब तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, कोई पद जो मुझे प्राप्त करना था और प्राप्त नहीं कर चुका और उसे पाने के लिये मैं कार्य-कर्म करता हूँ, यह बात भी नहीं। फिर भी मैं अपने कर्त्तव्य कर्म यथावत् करता ही हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

हे पार्थ! यदि हि अहम् अतन्द्रितः कर्मणि जातु न वर्तेयं सर्वशः मनुष्याः मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते।

हे अर्जुन! यदि मैं अप्रमादी होकर अपने कर्त्तव्य कर्म का विधिवत् पालन न करूँ तो सब ओर बहुत मनुष्य मेरे मार्ग पर चलने लगेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

अहम् चेत् कर्म न कुर्याम् इमे लोकाः उत्सीदेयुः, संकरस्य च कर्ता स्याम्, इमाः प्रजाः उपहन्याम्।

हे अर्जुन! यदि मैं अपने कर्त्तव्य कर्मों का यथावत् पालन न करूँ तो ये लोक नष्ट हो जावेंगे। मैं संसार में नाना प्रकार के वर्ण-संकर तथा आश्रम-संकर आदि दोषों का कर्त्ता हो जाऊँगा और इस सारी प्रजा की हत्या मुझे लगेगी। इसलिये—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ २५॥

हे भारत! कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः यथा कुर्वन्ति लोकसंग्रहम् चिकीर्षुः विद्वान् असक्तः तथा कुर्यात्।

हे अर्जुन! जिन शुभ-कर्मों को अविद्वान् लोग फल में आसक्त होकर करते हैं, लोक-संग्रह की इच्छा वाला विद्वान् उन्हें असक्त होकर करे। उदाहरण के लिये सन्ध्योपासन आत्मशुद्धि के लिये किया जाता है। परन्तु साधारण पुरुष तो मर्यादा-पालन, लोक-दिखावा, ख्याति-प्राप्ति आदि भावनाएँ भी इसमें मिला लेते हैं। उधर कृष्णचन्द्र सरीखे महात्मा लोग तो जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से इस दर्जे तक पहुँच सकते हैं कि उन्हें आत्मशुद्धि के लिये भी सन्ध्योपासन की

आवश्यकता न रहे। परन्तु तो भी प्रजा के सामने मर्यादा-पालन का आदर्श स्थापित करने के लिये उन्हें सन्ध्योपासन नहीं छोड़ना चाहिये। यही बात वे अर्जुन से कहते हैं कि इसीलिये मैं अपने सब कर्म ठीक-ठीक पालन करता हूँ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

अज्ञानाम् कर्मसङ्गिनाम् बुद्धिभेदम् न जनयेत्, विद्वान् युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत्।

जो सन्ध्या, नमाज़ आदि अनुष्ठानों में नाना प्रकार की फलाकांक्षाओं में आसक्त होकर लगे हुए हैं उन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिये उनके अनुष्ठानों का खण्डन इस प्रकार से न करे कि उन्हें इन कर्मों में ही श्रद्धा न रहे और उनकी धार्मिक बुद्धि ही नष्ट हो जाय। किन्तु उन्हें यह समझावे कि इन कर्मों का करना निष्फल है जब तक इनमें दिये हुए उपदेशों पर आचरण न किया जाय और यह बात भी कोरे तर्कवाद से न समझावे किन्तु स्वयं युक्त अर्थात् निष्काम बुद्धि से युक्त होकर स्वयम् अपने आचरण द्वारा उन्हें उपदेश दे, जिससे उनकी इन कर्मों में प्रीति तथा इनका सेवन बढ़े इस प्रकार उनसे करवाये (जुष प्रीतौ सेवायां च)।

कर्म शब्द के दो अर्थ हैं। मुख्य अर्थ है—लोकसेवा, सत्यभाषण, इन्द्रियजयादि। दूसरा अर्थ है इन भावनाओं को दृढ़ करने के लिये नियत सन्ध्या, नमाज़ आदि।

इन दोनों ही प्रकार के कर्मों को फलासक्ति की भावना से करने वाले अज्ञानी तथा कर्मसंगी कहलाते हैं तथा विद्वान् दोनों ही प्रकार के कर्म निष्कामभाव से करता है और इसीलिये दूसरों से करवा सकता है। उसके निष्काम कर्मों को देखकर उन कर्मों के प्रति सब की प्रीति उत्पन्न होती है और सब इन कर्मों का सेवन करने लगते हैं, यह 'जोषयेत्' इस शब्द का अर्थ है।

हे अर्जुन! जीवात्मा तो दर्पणवत् निर्लेप निस्संग है, जब वह प्रकृति की ओर झुकता है तो प्रकृति के गुणों से प्रतिबिम्बित होकर मैं यह कर रहा हूँ, ऐसा समझने लगता है, जब कि उसे समझाना तो यह चाहिये कि मैं प्रकृति से इस प्रकार कार्य करवा रहा हूँ।

जब तक उस पर इस प्रकार प्रकृति का राज्य रहता है तब तक विषयासक्ति अतएव फलासक्ति बनी रहती है। इसलिये कहा कि—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

अहंकारविमूढात्मा प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि कर्माणि, अहम् (एषाम्) कर्ता इति मन्यते।

जिस मनुष्य को देहादि प्राकृत पदार्थों में अहम् बुद्धि हो जाती है, वह इस अहंकार से आत्मा के स्वामित्व को भुलाकर प्रकृति के गुणों से किये जाने वाले कर्मों के विषय में इनका कर्त्ता मैं हूँ, इस प्रकार समझने लगता है।

किन्तु—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

हे महाबाहो! गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित्तु गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते।

हे महाबाहो! अमुक कर्म जो मैं कर रहा हूँ, वह प्रकृति के अमुक गुण में बँधा होने के कारण कर रहा हूँ और मुझमें जो गुण दीख रहे हैं, वे वास्तव में मेरी कैवल्यावस्था (मुक्तावस्था) के गुण नहीं, किन्तु प्रकृति के गुण हैं। इस प्रकार के तत्त्व को पूर्णतया जानने वाला फिर उन गुणों में आसक्त नहीं होता। अर्थात् फिर ऐसी अवस्था आ जाती है कि प्राकृतिक पदार्थ उसके गुण ग्रहण करते हुए उसके आज्ञानुवर्ती होकर चलते हैं, वह प्राकृत पदार्थों का आज्ञानुवर्त्ती होकर नहीं चलता।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

(ये) प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः गुणकर्मसु सज्जन्ते, कृत्स्नवित् तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् न विचालयेत्।

जो लोग प्रकृति के गुणों से मोहित होकर नाना प्रकार के भोगैश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त धर्माचरण करते हैं, वे धर्म तो करते हैं, किन्तु प्रकृति के गुणों और उनकी प्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले कर्मों में फँसे रहते हैं। परन्तु ऐसे फलासक्त सकाम शुभ-कर्म करने वालों

अधूरा ज्ञान रखने वालों को भी पूर्ण ज्ञान रखने वाला उन शुभ-कर्मों से डिगाये नहीं। अर्थात् फलासक्ति को दूर करे, शुभ-कर्मों में अनुराग को नहीं। वे यदि इज़्ज़त के लिये सच बोलते हैं तो इज़्ज़त का मोह छुड़ाये सच बोलने की आदत नहीं।

हे अर्जुन! तूने कहा था 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' तो फिर अब—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य निराशीः निर्ममः भूत्वा विगतज्वरः युध्यस्व।

जब तू कहता है कि मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरणागत को शासन कीजिये तो तू अब अपनी पूरी आत्मिक शक्ति से, जो तेरी मुझ पर श्रद्धा है उस के बल से, स्वजन मोह को जीतकर और सारे कर्मों के बुरे-भले का उत्तरदायित्व मुझ पर छोड़कर तथा फलाशा से विहीन होकर बिना झिझक के युद्ध कर।

तू ही नहीं और भी—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

ये मानवाः श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः मे इदं मतं नित्यं अनुतिष्ठन्ति, ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते।

हे अर्जुन! यह राजर्षियों का अनासक्ति योग का सिद्धान्त जिसे मैंने परम्परा से प्राप्त किया है और स्वयं भी मनन द्वारा निर्णय किया है, इस पर जो ईर्ष्यारहित तथा श्रद्धासहित होकर आचरण करते हैं तो श्रद्धा के बल से ही वे कर्मफल की आसक्ति से छूट जाते हैं अर्थात् 'श्रीकृष्ण हमारे गुरु तथा नेता है' इस श्रद्धा से भी जो इस मार्ग का अनुसरण करेंगे, भले ही उन्होंने इसका स्वयं मनन न किया हो अथवा वे युक्ति से इसका प्रतिपादन न भी कर सकते हों—फलासक्ति उनका भी पीछा छोड़ देती है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

ये तु अभ्यसूयन्तः मे एतत् मतम् न अनुतिष्ठन्ति तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः नष्टान् विद्धि।

हे अर्जुन! जो दम्भी राजा लोग श्रद्धा के स्थान में ईर्ष्यावश इस मेरी सीख को नहीं मानते उन सर्वज्ञान की चेतनारहित पुरुषों को तू नष्ट हुआ जान। मैं आज फिर से महाभारत राष्ट्र की स्थापना में लगा हुआ हूँ, किन्तु ये दुष्ट तो आप भी डूबेंगे और भारत राष्ट्र को भी ले डूबेंगे। महाभारत राष्ट्र की तो कल्पना भी वे क्या करेंगे, उन्हें तो अपने भोगैश्वर्य के लिये नरबलि देने में संकोच नहीं, ऐसे अन्धविश्वासी मूढ़ों से बच उनके मार्ग पर मत चल।

फिर यह तो सोच कि इस समय तो स्वजन मोह में तू कह रहा है कि कौरव राज्य ले लें, मैं 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' पर चलूँगा—भीख माँगकर खा लूँगा, परन्तु ये दुष्ट कौरव जीत गए तो तुझे भीख भी नहीं माँगने देंगे। तेरे सामने तेरा, तेरी पत्नी और पुत्र बन्धुओं का असह्य अनादर करेंगे। इन्हें किसी का भय भी न होगा। द्यूत-सभा में तो तुम युधिष्ठिर की वचन-रक्षार्थ चुप थे किन्तु इन्हें भय तो था परन्तु जब तू युद्ध के मैदान से भाग जायेगा तो विजय-मदोन्मत्त कौरव तेरा वह अपमान करेंगे कि यह सारी वैराग्य-चौकड़ी भूल जायेगी और तेरी क्षात्र प्रकृति जागेगी, किन्तु साथ ही पश्चात्ताप भी होगा कि हाय मैंने समय पर युद्ध न किया। फिर तू क्रुद्ध होकर—झख मारकर लड़ेगा भी और हारकर मरेगा भी। इसलिये लड़ना है तो अब लड़ जब कि विजय पाने का पुण्य अवसर तेरी प्रतीक्षा कर रहा है। हे अर्जुन! तू अपनी क्षात्र प्रकृति को कहाँ तक दबाएगा।

इसलिये सुन—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

ज्ञानवान् भी अपने जन्मजात तथा अभ्यास-पुष्ट स्वभाव के अनुरूप काम करता है। मनुष्य का स्वभाव अन्त में जीतता है। ज़बरदस्ती का क्षणिक दबाव क्या कर लेगा?

हे अर्जुन! इस समय तेरा क्षात्र-धर्म ज्ञान से दूर हो गया है सो नहीं, किन्तु स्वजन-मोह से दबा हुआ है, सो इस रागावेश को जीत।

यह इस समय वैराग्योदय नहीं हुआ, किन्तु विषयासक्ति की भाँति स्वजनासक्ति जागी है, सो सुन—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ, तयोः वशं न आगच्छेत्, तौ हि अस्य परिपन्थिनौ।

हे अर्जुन! तूने उर्वशी की रति-याचना यह समझकर छोड़ दी थी कि मैं कामेन्द्रिय के मोह में कैसे फसूँ, आज तेरा वह ज्ञान और आत्म-संयम कहाँ भाग गया, विषयासक्ति केवल कामासक्ति का ही तो नाम नहीं। इन्द्रिय इन्द्रिय के पीछे राग-द्वेष लगे हुए हैं। स्त्री के आलिंगन का राग-सुख तो जीत लिया, परन्तु 'आचार्याः, पितरः, पुत्राः, पितामहाः, मातुलाः, श्वशुराः, श्यालाः, सम्बन्धिनः' इनके मोह का नाम भी राग है। न्याय तथा क्षात्र-धर्म के हेतु इन राग-द्वेष दोनों को जीत। ये मनुष्य को सदा उलटे मार्ग में ले-जाने वाले परिपन्थी हैं।

हे अर्जुन! जिस प्रकार वसिष्ठ की अद्भुत क्षमा से प्रभावित होकर क्षात्र-धर्म से भी ब्राह्मण धर्म ऊँचा है, यह समझकर विश्वामित्र ने निरन्तर तप से अभ्यासपूर्वक क्षात्र-धर्म परित्याग करके और न जाने किन-किन कठिन परीक्षाओं से गुज़रकर ब्राह्मण-पद उपार्जन किया था, वह मार्ग तू नहीं पकड़ रहा। वह परित्याग ज्ञानपूर्वक था स्वजन-मोहपूर्वक नहीं। यह त्याग तो स्वजन-मृत्यु-जन्य दुःख-भय से किया जा रहा है। सो 'दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।' (गीता १८.८)

विश्वामित्र का मार्ग रणक्षेत्र में खड़े होकर स्वजनों की दुहाई देकर नहीं पकड़ा जा सकता। वह तो तपोवन में अभ्यास-जन्य-मार्ग है अब तू अपने क्षात्रधर्म मार्ग पर चल, क्योंकि क्षणिक आवेश में—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

लोभवश अथवा मोहवश क्षणिक रूप से स्वीकार किया हुआ पर-धर्म चाहे उसका क्षणिक नाटक कितना भी सुन्दर क्यों न हो

तो भी अच्छा नहीं और अग्निसाक्षिक यज्ञोपवीत काल में व्रत धारणपूर्वक लिया हुआ तथा गुरुकुल में निरन्तर अभ्यास द्वारा सुदृढ़ स्वधर्म देखने में बेडौल भी हो तो भी स्थायी होने के कारण उस क्षणिक क्षणभङ्गुर नाटक से अच्छा है। आज यदि रणक्षेत्र में युद्ध करते हुए तेरी मृत्यु भी हो जाय तो अच्छी, क्योंकि वह स्वधर्म-पालनार्थ हुई है। और यह जो वैराग्य के कथावाचक का रूप तूने क्षणभर के लिये धारण किया है यह तुझ से निभेगा नहीं (प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति) और सिवाय विडम्बना और जग हँसाई के तुझे कुछ मिलेगा नहीं। इसलिये स्वधर्म में मरना श्रेयान् है और परधर्म क्षणभङ्गुर होने के कारण तथा काय-क्लेश-भय से अङ्गीकार किये जाने के कारण भयावह अर्थात् खतरनाक है।

अब अगले श्लोकों में आसक्ति का मूल कारण क्या है, इसका निरूपण किया है। आसक्ति का मूल कारण यहाँ काम और क्रोध को बताया है। इनमें भी काम-पूर्ति में व्याघात होने पर क्रोध होता है ('कामात् क्रोधोऽभिजायते' २.६२) इसलिये क्रोध का जन्मदाता होने के कारण काम मुख्य है, परन्तु यहाँ काम का अर्थ थोड़ा विस्तृत लेना, काम नाम यद्यपि मुख्य रूप से उपस्थेन्द्रिय के विकार-जनक भाव का है। परन्तु वह तो मुख्य होने के कारण रूढ़ि से काम कहलाने लगा है। वस्तुतस्तु 'कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः'॥ इस मनु (२।२) वाक्य में कामात्मता तथा अकामता इन दोनों शब्दों में ही काम शब्द का विस्तृत अर्थ में प्रयोग है। काम का अर्थ है—किसी भी इन्द्रियार्थ की अति प्रबल वेग से कामना जो उसे आतुर कर दे। जब आतुरता आती है तो शुचि-अशुचि साधन का विवेक धुँधला होते-होते लुप्त हो जाता है। यही बात अगले श्लोकों में कही है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

हे वार्ष्णेय! अथ केन प्रयुक्तः अयम् पूरुषः अनिच्छन् अपि बलात् इव नियोजितः पापम् चरति।

हे वार्ष्णेय! फिर यह तो बताओ कि यह पुरुष इच्छा न रहते हुए भी ज़बरदस्ती से दबाकर जोता गया सो किस की प्रेरणा से पाप करता है?

अब कृष्ण उत्तर देते हैं—

श्रीकृष्ण उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

एषः कामः एषः क्रोधः, (एषः) रजोगुणसमुद्भवः (एषः) महाशनः महापाप्मा एनम् वैरिणम् विद्धि।

यह जो काम, अर्थात् इन्द्रिय सुखों में विशेषकर उपस्थेन्द्रिय के भोग में दृढ़ अनुराग है और इसके व्याघात से उत्पन्न होने वाला क्रोध है, यह रजोगुण से पैदा होता है, यह बड़ा सर्वभक्षी है, यह बड़ा पापी है, इसे अपना वैरी जान।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

यथा धूमेन वह्निः आव्रियते यथा च मलेन आदर्शः आव्रियते यथा उल्वेन गर्भः आव्रियते तथा तेन इदम् आवृतम्।

जैसे अग्नि धूएँ से ढक जाती है, जैसे दर्पण मैल से ढक जाता है, जैसे गर्भ आवरक झिल्ली से ढक जाता है, वैसे यह संसार भर का ज्ञान साधन उस काम से ढक जाता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

हे कौन्तेय! ज्ञानिनः नित्यवैरिणा एतेन दुष्पूरेण कामरूपेण अनलेन च (ज्ञानिनः) ज्ञानम् आवृतम्।

हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन! यह काम ज्ञानी का नित्य वैरी है। यह एक आग है, जिस का पेट भरना कठिन है, क्योंकि जितना भोग भोगो कामाग्नि और बढ़ती है ('हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते') इसने ज्ञानी के ज्ञान को ढाँप रक्खा है।

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानम् उच्यते एषः एतैः ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् विमोहयति।

इस काम के तीन अधिष्ठान हैं—इन्द्रिय, मन और बुद्धि अर्थात् विवेकशक्ति। यह ज्ञान को ढककर इन तीन के द्वारा मति भ्रष्ट करता

है अर्थात् उसकी इन्द्रियाँ यहाँ आसक्ति हो वहाँ अविद्यमान गुणों की कल्पना कर लेती हैं। मन उसकी स्मृति से कल्पना के महल खड़े करता रहता है और विवेक शक्ति बुरे काम को भी अच्छा सिद्ध करने के लिये युक्तियाँ ढूँढने लगती है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

हे भरतर्षभ! तस्मात् त्वम् आदौ इन्द्रियाणि नियम्य एनं हि ज्ञानविज्ञाननाशनम् पाप्मानम् प्रजहि।

इसलिये हे भरतवंश के श्रेष्ठ पुरुष अर्जुन! तू पहिले इन्द्रियों को वश में करके पदार्थों के यथार्थ-ज्ञान और उनके चिन्तन तथा मनन से लब्ध विज्ञान दोनों को नष्ट करने वाले इस पापी को मार डाल। हे अर्जुन! इस आत्मा की पदवी को तो पहिचान।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

इन्द्रियाणि पराणि आहुः, इन्द्रियेभ्यः मनः परम् (आहुः) मनसः तु बुद्धिः परा, यो बुद्धेः परतः तु सः (आत्मा)।

जड़-पदार्थ में इन्द्रियाँ नहीं होती। इसलिये जड़ से इन्द्रियों का स्थान बड़ा है। इन्द्रियों से मन का स्थान बड़ा है। मन से विवेक-शक्ति का स्थान बड़ा है, क्योंकि मन से लब्ध ज्ञान का सदुपयोग तो विवेक-शक्ति ही करती है, किन्तु विवेक-शक्ति से भी परे वह है, जो 'मैं विवेक करता हूँ' यह अनुभव करता है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

हे महाबाहो! एवम् (आत्मानम्) बुद्धेः परम् बुद्ध्वा आत्मानम् आत्मना संस्तभ्य कामरूपम् दुरासदम शत्रुम् जहि।

हे महाबाहो! इस प्रकार विवेककर्त्ता विवेक-बुद्धि से भी परे कोई शक्ति है, यह विचार कर आत्मा का मैं स्वामी हूँ, बुद्धिरूप-दासी मनरूप दासी-दास तथा इन्द्रियरूप दासानुदासों से बड़ा हूँ। इस प्रकार के आत्मबोध द्वारा वश में लाकर इस कठिनाई से वश में आने वाले कामरूपी शत्रु को मार डाल।

इति तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीकृष्ण उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

इमं अव्ययं योगम् अहम् विवस्वते प्रोक्तवान्, विवस्वान् मनवे प्राह, मनुः इक्षवाकवे अब्रवीत्।

इस योग को मैंने विवस्वान् को बताया, विवस्वान् ने मनु को बताया, मनु ने इक्ष्वाकु को बताया। इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षि लोग जानते हैं।

विवस्वान् नाम सूर्य का है, किन्तु इस प्रकरण में विवस्वान् नाम के कोी राजर्षि थे जिनके पुत्र मनु को प्रजा ने प्रथम राजा चुना था। उनके गुरु कोई ब्राह्मण रहे होंगे सम्भवतः उनका नाम वसिष्ठ था। नहीं तो सूर्य-वंश के गुरु वसिष्ठ कैसे हो सकते हैं? सो कृष्णचन्द्र जी किसी पूर्व जन्म में वसिष्ठ ऋषि थे, उस समय उन्होंने विवस्वान् नामक क्षत्रिय को वसिष्ठ रूप में यह विद्या दी। उनके पुत्र मनु को प्रजाओं ने वेद की राजनीति विद्या में पारंगत तथा पूर्ण क्षात्र-गुण-सम्पन्न समझकर प्रथम राजा चुना।

अब मनु के पिता का नाम विवस्वान् गुण-लब्ध नाम था, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि वेद में सम्पूर्ण राजनीति विद्या का उपदेश सूर्य के दृष्टान्त से दिया है, इस विद्या में पारंगत होने के कारण, प्रसन्न होने के कारण गुरु वसिष्ठ ने उसे विवस्वान् का नाम दिया। सो वही उसका नाम प्रसिद्ध हो गया अथवा बालकपन में उसके सूर्य समान गुणों के कारण उन्होंने उसका नाम विवस्वान् रख दिया। वस्तुतः विवस्वान् तथा मनु दोनों ही उपाधि हैं क्योंकि अश्वमेध के पारि-प्लवाख्यान में हर-एक अश्वमेध के यजमान को भिन्न-भिन्न दिवसों में मनु वैवस्वत तथा यम वैवस्वत नाम दिया जाता है, जिससे स्पष्ट है कि ये व्यक्ति विसेष के नाम हैं, क्योंकि यह नाम सूर्य-सदृश गुणों के कारण दिया गया था। इसलिये इसके पर्यायवाची सूर्य आदि भी इस वंश के साथ लगा दिये जाते हैं। अब प्रश्न है कि वसिष्ठजी

का नाम यहाँ क्यों नहीं लिया गया। सो यह राजधर्म जिस राजर्षि परम्परा से आया, उसका नाम यहाँ दिया गया। वसिष्ठजी का नहीं। क्योंकि वे तो इस वंश के गुरु हैं ही। इसलिये यहाँ अहम् का अर्थ वसिष्ठ है, ऐसा समझना। अतएव योग-वासिष्ठ नाम से जो योग प्रसिद्ध है वह वस्तुतः यही है, ऐसा समझना चाहिये।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

राजर्षयः एवम् परम्परा-प्राप्तम् इमम् (योगं) विदुः, हे परन्तप! सः योगः इह महता कालेन नष्टः।

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षि जानते आये हैं। हे परंतप! वह योग अब बहुत समय से नष्ट हो चुका है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

सः एव अयम् पुरातनः योगः, मे भक्तः सखा च असि इति अद्य मया ते प्रोक्तः एतद् हि उत्तमम् रहस्यम्।

वही यह पुराना योग है। तू क्योंकि मेरा भक्त है और सखा है, इसलिये आज मैंने तुझे बताया है। यह एक बहुत बड़ा रहस्य है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

भवतः जन्म अपरम् विवस्वतः जन्म परम्, त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति कथं विजानीयाम्?

हे श्रीकृष्ण! आपका जन्म पिछला है और विवस्वान् का जन्म पहिला है। मैं यह कैसे जानूँ कि आदि समय में आपने इस उपदेश का प्रवचन किया?

श्रीकृष्ण उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ५॥

हे अर्जुन! मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि तानि सर्वाणि

अहं वेद त्वं न वेत्थ।

हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत जन्म बीत चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ ६॥

अव्ययात्मा अजः अपि सन् भूतानाम् ईश्वरः अपि सन् स्वाम् प्रकृतिम् अधिष्ठाय आत्ममायया सम्भवामि।

हे अर्जुन! यद्यपि मैं अनादि हूँ, इसलिये अजन्मा हूँ तथा नित्य एकरस रहनेवाला जीवात्मा हूँ तथा पाँचों भूत मुझे विवश नहीं कर सकते। मैं उनका स्वामी हूँ, वे मेरे स्वामी नहीं तथापि अपने परोपकारी स्वभाव से प्रेरित होकर मैं योगिजनोपार्जित अपनी निर्माण-शक्ति से जन्म ग्रहण करता हूँ। अर्थात् मेरा यह जन्म भोगार्थ नहीं है, किन्तु अन्य लोगों को मोक्ष-मार्ग का उपदेश देने के लिये है। इसलिये अपवर्गार्थ है।

योग-दर्शन का सूत्र है—'भोगाऽपवर्गार्थम् दृश्यम्' अर्थात् प्रकृति के दो उद्देश्य हैं—एक जीवों को नाना प्रकार के भोग दिलाना, जब तक जीवात्मा में सूक्ष्म से सूक्ष्म भी भोगवासना रहेगी तब तक भोगार्थ जन्म होगा। परन्तु जब जीवात्मा अपनी कैवल्यावस्था में अर्थात् शुद्ध अपनेपन में पहुँच जाता है तब नाना नैमित्तिक कारणों से दबी हुई स्वाभाविक परोपकार की इच्छा शुद्ध रूप में प्रकट होती है और वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! आपकी कृपा से लब्ध इस पवित्र मार्ग का मैं कब अन्य सब जीवों को उपदेश करूँ, तब भगवान् अवधि की समाप्ति पर उसे अवसर देते हैं कि अपनी परोपकारेच्छा की पूर्ति के लिये उचित स्वयम् प्रार्थित स्थान में जन्म ले। इसी परोपकारेच्छा से प्राप्त जन्म को आत्म-माया-जन्य जन्म कहा है। सो वहाँ मैं अपनी निर्माण-शक्ति से जन्म लेता हूँ।

वैसे तो सब ही जन्म अपने कर्मों का फल है, इसलिये आत्ममाया-जन्य कहला सकते हैं, किन्तु परोपकारार्थ जन्म तो माँगकर इस प्रकार लिया जाता है, जिस प्रकार वीर पुरुष किसी वीरोचित कार्य के लिये सेनापति से माँगकर वीर-सेना का अवसर लेते हैं, इसलिये कहा गया 'आत्ममायया'।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

हे भारत! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं अपनी सृष्टि करता हूँ अर्थात् लोक-कल्याणार्थ परमात्मा से माँगकर जन्म लेता हूँ।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि यह वचन भगवान् के हैं अथवा श्रीकृष्ण के। इसके उत्तर में कहा जायेगा कि श्रीकृष्ण के। क्योंकि यदि श्रीकृष्ण अपने को भगवान् समझते तो गीता के अन्त में—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ॥ (गीता १८।६१-६२)

इस प्रकार न कहते। यहाँ कहा गया है कि हे अर्जुन! ईश्वर सबके हृदय में विराजमान है, तू उसकी शरण में जा। सो यह श्लोक (७वाँ) श्रीकृष्ण ने एक योग-शक्ति सम्पन्न जीवात्मा के रूप में कहे हैं, परमात्मा के रूप में नहीं।

यह जन्म मुक्तात्मा किस उद्देश्य से माँगकर भगवान् से प्राप्त करते हैं, सो आगे कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ ८॥

उत्तम उद्देश्य की पूर्ति में लगे हुए साधु पुरुषों की रक्षा के लिये (साध्नोति कार्याणि इति साधुः) तथा दुःखदायी कर्मों में प्रवृत्त दुष्टों के विनाश के लिये अतएव धर्म की स्थापना के लिये मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ (तथा इसी प्रकार मदुपलक्षित अन्य मुक्त जीव भी स्वेच्छया जन्म लेते हैं)।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

हे अर्जुन! यः एवम् मे दिव्यम् जन्म कर्म च तत्त्वतः वेत्ति स देहम् त्यक्त्वा पुनः (साधारणम्) जन्म न एति (यतः) स माम् एति।

हे अर्जुन! अन्य जो भी जीव मेरे इस प्रकार के लोक-कल्याणार्थ प्रार्थनालब्ध दिव्य जन्म को तथा उस जन्म में किए गए दिव्य कर्मों

को ठीक-ठीक जान लेता है, वह निष्काम कर्मों की महिमा से साधारण भोग-जन्य जन्म फिर नहीं पाता। क्योंकि वह मुझे पहुँच जाता है, अर्थात् दिव्य जन्म पाने वाले जीवों की श्रेणी में पहुँच जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
ब्रहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

ब्रहवो वीतरागभयक्रोधाः मन्मया माम् उपाश्रिताः ज्ञानतपसा पूताः मद्भावम् आगताः।

अन्य बहुत से जीव राग, भय, तथा क्रोध का त्याग करके मेरे बताए मार्ग पर तन्मयता से चलते हुए और इन अर्थों में मेरे आश्रित होते हुए अर्थात् जैसे मैं प्रभु-भक्त हूँ, ऐसे सच्चे प्रभु-भक्त बनते हुए ज्ञान तप से पवित्र होकर मेरे पद को पा गए अर्थात् लोकोद्धारक कहलाए।

ये यथा मां प्रपध्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

तान् अहम् तथैव भजामि, हे पार्थ! सर्वशः मनुष्याः माम् अनुवर्त्तन्ते।

हे अर्जुन! इस युग में मैं परम्परा-प्राप्त राजर्षि-सेवित कर्मयोग का प्रचार करना चाहता हूँ। मैंने खण्डशः जर्जरी-भूत इस भारतवर्ष में महाभारत साम्राज्य की स्थापना का बीड़ा उठाया है इस पवित्र यज्ञ में जो जिस अवस्था में मेरी शरण में आता है, मैं उसका उसी रूप में उपयोग ले लेता हूँ अर्थात् मैं किसी से घृणा नहीं करता। हे अर्जुन! इस घृणा के अभाव तथा उत्साहवर्धन के कारण चारों ओर मनुष्य इस कार्य में मेरे अनुयायी बन गये हैं (और तू साथी होकर उस निष्काम सेवा के मार्ग को छोड़ रहा है और स्वजन-हत्या की दुहाई दे रहा है।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

इह कर्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः देवताः यजन्ते, हि मानुषे सोफे कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति।

हे अर्जुन! कर्मयोग चाहे सकाम हो, चाहे निष्काम, किन्तु वह अवश्य फल देता है। सो वे लोग नाना प्रकार के कर्मों की सफलता

के लिये नाना देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मानव-दृष्टि में कर्मयोग से बहुत शीघ्र सिद्धि मिलती है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्॥ १३॥

मया गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यम् सृष्टम्, (अस्मिन् युगे) तस्य कर्तारम् अपि माम् अव्ययम अकर्त्तारम् विद्धि।

हे अर्जुन! धर्म के स्रष्टा दो प्रकार के होते हैं। एक तद्गुण कर्त्ता, एक अव्यय कर्त्ता। वर्तमान युग में लोग जन्म के मिथ्याभिमान में पड़कर चातुर्वर्ण्य के असली स्वरूप को भूल गए। चातुर्वर्ण्य का असली स्वरूप तो गुण-कर्म विभाग पर आश्रित है। उस गुण-कर्म विभाग पर आश्रित का वर्तमान युग में मैं स्रष्टा हूँ, इसीलिये मैंने दुर्योधन के घर भोजन स्वीकार न करके विदुर के घर भोजन किया और तुम जानते हो कि जन्म के मिथ्याभिमान में पड़कर शिशुपाल मुझे गोप कहता था, क्षत्रिय नहीं मानता था। किन्तु मैं तो इस जन्म के आधार पर चातुर्वर्ण्य को नहीं मानता और न भगवान् कृष्ण द्वैपायन मानते हैं, क्योंकि इस चातुर्वर्ण्य का असली कर्त्ता तो वेद का कर्त्ता भगवान् है। वह इस गुण-कर्म-विभागशः चातुर्वर्ण्य का अव्यय कर्त्ता है। मैं यद्यपि इस युग में इस गुण-कर्मानुसारिणी वर्णव्यवस्था का कर्त्ता माना जाता हूँ, परन्तु वस्तुतः मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ, मैं तो पुनरुज्जीवित करने वाला होने के कारण कर्त्ता कहलाता हूँ। इसका अव्यय कर्त्ता प्रभु है, मैं नहीं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १५॥

मां कर्माणि न लिम्पन्ति मे कर्मफले स्पृहा न इति यः अभिजानाति स कर्मभिः न बध्यते।

जो मनुष्य यह समझ लेता है कि कर्मों का लेप मुझ पर नहीं होता, क्योंकि मेरी कर्मफल में आसक्ति नहीं है, वह कर्मों के बन्धन में नहीं आता।

ऊपर के श्लोकों में यह स्पष्ट है कि गीता में कर्म शब्द का मुख्य अर्थ वह कर्म है, जिसे किसी मनुष्य ने चातुर्वर्ण्य कर्मों में से अपने लिये चुनकर—उस व्रत में दीक्षित होकर उस व्रत के पालनार्थ

ग्रहण किया हो। हाँ, इन कर्मों को जो धन कीर्ति ऐश्वर्य आदि में आसक्त हुए बिना करता है, वह मुक्त हो जाता है, क्योंकि आसक्ति से मोक्ष का नाम ही तो मोक्ष है, शेष रहा शरीर–बन्धन से मोक्ष सो वह भी तो शुभ–कर्मों का फल है, उसमें आसक्त नहीं होना चाहिये। इसीलिये कहा—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥

पूर्वैः अपि मुमुक्षुभिः एवम् ज्ञात्वा कर्म कृतम् तस्मात् त्वम् पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् कर्म एव कुरु।

अब से पहिले भी मुमुक्षुओं ने यह जानकर कर्म किया। इसलिये तू भी अब से पहिलों ने और उससे भी पहिलों ने जो कर्म किया वह कर्म ही कर अर्थात् क्षात्रधर्म का पालन स्वजन–सुख में आसक्त हुए बिना कर, यह आसक्ति से मुक्ति पाना ही मुमुक्षुओं का मोक्ष–मार्ग है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

हे अर्जुन! कर्म किम् अकर्म किम् इति अत्र कवयः अपि मोहिताः। यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे तत कर्म ते प्रवक्ष्यामि।

कर्म क्या है, अकर्म क्या है? इस विषय में बड़े–बड़े सूक्ष्मदर्शी भी धोखा खा जाते हैं। मैं तुझे वह कर्म बताऊँगा जिसे जानकर तू इस अशोभनीय स्वजन–मोह से छूट जायेगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

कर्मणः हि अपि बोद्धव्यम् विकर्मणः च बोद्धव्यम् अकर्मणः च बद्धोव्यम् कर्मणः गतिः गहना।

मनुष्य को कर्म का भी ज्ञान प्राप्त करना है। जैसे क्षत्रिय का धर्म है—आततायी को मारना, यह कर्म का ज्ञान है। विकर्म को भी जानना है, जैसे कोई पागल आततायी हो जाय तो उसको बाँधना तथा चिकित्सा करनी, किन्तु प्राणदण्ड नहीं देना, किन्तु यदि भूल से उसे प्राणदण्ड दे दिया तो यह विकर्म हुआ। इस विकर्म अर्थात् विपरीत कर्म का भी ज्ञान होना चाहिये। फिर अकर्म का भी ज्ञान

होना चाहिये। यदि कोई आलस्य–वश अकर्मण्य होकर पड़ा रहा है तो यह अनुचित अकर्मण्यता है किन्तु यदि कोई मनुष्य क्षमा करने से सुधर सकता हो तो उसे दण्ड न देना शुभ अकर्मण्यता है। इसका ज्ञान अकर्म का ज्ञान है। कर्म, अकर्म तथा विकर्म इन तीनों का ज्ञान ठीक–ठीक होना चाहिये। इस प्रकार कर्म, अकर्म, विकर्म तीनों का यथार्थ–ज्ञान होने से कल्याण होता है। इस कर्म की गति का ठीक ज्ञान होना बड़ा कठिन है। इसीलिये कहा 'कहना कर्मणो गतिः'।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

यः कर्मणि अकर्म पश्येत् अकर्मणि च कर्म पश्येत् सः मनुष्ये, बुद्धिमान् स युक्तः सः कृत्स्न–कर्मकृत्।

हर शुभ कर्म किसी अवस्था विशेष में अशुभ कर्म हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि कोई सिपाही राष्ट्र के किसी दुर्ग की अथवा नाके की रक्षार्थ पहरा दे रहा हो तो उस समय सन्ध्योपासन की वेला प्राप्त होने पर सिपाही का सन्ध्योपासन में लीन हो जाना घोर अशुभ है सो इस कर्म में कब अकर्मता आ गई, यह जो जानता है तथा अकर्म में कर्म को जानता है जैसे शत्रु अपनी रक्षा के लिए गौवें आगे करके राष्ट्र का नाश करने आवे तो उस समय गोहत्या रूप अशुभ कर्म में कर्त्तव्य अर्थात् शुभ–कर्मत्व आ जाता है जैसे अर्जुन के लिये अन्याय का पक्ष लेकर सामने आये। गुरु तथा पितामह का वध अकर्म में कर्म हुआ, जो इस तत्त्व को देख ले, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् मनुष्य है। उसे ही युक्तियुक्त मनुष्य समझना और वह पूर्ण कार्य करता है, क्योंकि उसने कर्म के पूरे रूप को—उत्सर्गापवाद दोनों को जान लिया।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः तम् ज्ञानाग्नि–दग्ध–कर्माणम् बुधाः पण्डितं आहुः।

हे अर्जुन! मनुष्य को कर्म से अकर्म में तथा अकर्म से कर्म में आसक्ति घसीट ले जाती है। राष्ट्र पर शत्रुओं के आक्रमण होने पर शत्रु की ढाल बनी हुई गौवों को मारना यद्यपि देखने में अकर्म है,

किन्तु वास्तव में भविष्य में आने वाले लाखो गो-भक्तों और गौवों के वध को बचाने का साधन होने के कारण वह प्रत्यक्ष अकर्म गोवध वास्तव में कर्म है, किन्तु यह बात गोरक्षा में आसक्त होने वाले को नहीं सूझती, इसलिये जिस मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यारम्भ काम संकल्प अर्थात् व्यक्तिगत सुख-दुःख की कामना के संकल्प से वर्जित होते हैं, उसे यह यथार्थ-ज्ञान हो जाता है कि जो कर्त्तव्य दीखता है वह कब परित्याज्य है और ज कर्म अकर्त्तव्य दीखता है वह कब किन अवस्थाओं में ग्राह्य है इसलिये उसके कर्मों में फलासक्ति का अंश यथार्थ-ज्ञानरूपी अग्नि से जलकर भस्म हो जाता है और वह हर कर्म को विवेक युक्त सीमा तक करता है, इस प्रकार के ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्मा मनुष्य को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ २०॥

(यः) कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा नित्यतृप्तो निराश्रयः (तिष्ठति) स कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि किञ्चित् न एव करोति।

जो कर्मफल में आसक्ति को छोड़कर नित्य तृप्त रहता है तथा जिसका सुख किसी वासना की पूर्ति पर आश्रित नहीं, 'मैं कर्त्तव्य-पालन कर रहा हूँ', इस आत्मिक सन्तोष से ही वह नित्य तृप्त रहता है। ऐसा मनुष्य हर कार्य में प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं कर रहा। जैसे जल्लाद किसी राज्य द्वारा दण्डित व्यक्ति के प्राणहरण करता हुआ भी हत्या के अपराध का भागी नहीं।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

यतचित्तात्मा निराशीः त्यक्त-सर्वपरिग्रहः केवलं शारीरम् कर्म कुर्वन् किल्बिषम् न आप्नोति।

जिसने चित्त को तथा आत्मा को इतना नियमिन्त्रत कर लिया है कि अब उसे व्यक्तिगत रूप से कोई आशीर्वाद माँगने का प्रयोजन नहीं रहा, जिसने सब व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति में आसक्ति को इतना जीत लिया है कि वह शरीर से यन्त्र के समान कर्त्तव्य-पालनार्थ भोजनादि शारीरिक कर्म करता है रसना आदि के स्वाद में आसक्त होकर कर्म नहीं करता। उस त्यक्त-सर्वपरिग्रह मनुष्य तक

पाप पहुँच ही नहीं पाता, क्योंकि पाप के मूल आसक्ति को ही उसने दूर कर दिया।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

यदृच्छालाभ-सन्तुष्टः द्वन्द्वातीतः विमत्सरः सिद्धौ असिद्धौ च समः कृत्वा अपि न निबध्यते।

सन्तुष्ट रहता है, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से जो परे है, जो ईर्ष्यारहित है, जिसे सिद्धि मदान्ध नहीं बना सकती असिद्धि निराशा से निढाल नहीं कर सकती। वह कार्य करके भी आसक्ति के बन्धन में नहीं बँधता। आसक्ति दो प्रकार की है, सुख की प्राप्ति में तथा दुःख से बचने में। किन्तु द्वन्द्वातीत मनुष्य को सुख का प्रलोभन तथा बड़े-से-बड़े दुःख यहाँ तक कि मृत्युभय भी कर्त्तव्य-पथ से नहीं डिगा सकते, जिसे डिगाना हो उसे रस्सी बाँधकर नीचे गिराया जाता है, परन्तु द्वन्द्वातीत पर तो किसी रस्सी का फन्दा ही नहीं पड़ता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

ज्ञानावस्थितचेतसः गतसङ्गस्य मुक्तस्य यज्ञाय कर्म आचरतः समग्रम् (कर्म यज्ञे) प्रविलीयते।

कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म का ज्ञान प्राप्त होने से जिसका चित्त व्यवस्थित हो गया है। अतएव जिससे फलासक्ति दूर हो चुकी है, उसे ही मुक्त पुरुष कहते हैं और क्योंकि वह जो कुछ करता है यज्ञ के लिये अर्थात् लोक-कल्याण के लिये करता है, व्यक्तिगत वासनाओं की पूर्ति के लिये नहीं, इसलिये उसके सब कर्म यज्ञ में धुल जाते हैं, उसके व्यक्तित्व को कहीं बन्धन में नहीं बाँध सकते, इसीलिये वह मुक्त है।

अब वह यज्ञ क्या है? यह सविस्तार वर्णन करते हैं। यज्ञ के दो रूप हैं—एक सामान्य, दूसरा विशेष। सो पहिले सामान्यरूप दिखाते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ब्रह्मार्पणम् तेन ब्रह्म-कर्म-

समाधिना ब्रह्म एव गन्तव्यम्।

यज्ञ का कोई भी विशेषरूप हो, किन्तु उसमें जो कर्म हैं, वे ब्रह्म को अन्तिम ध्येय बनाकर किये जावें। यह कर्म मात्र की ब्रह्म के साथ समाधि अर्थात् एकाग्रतारूप समन्वय यज्ञ–सामान्य का रूप है। इसके द्वारा हर कर्म ब्रह्म के अर्पण होता है क्योंकि जीव के पास अपना तो कुछ भी नहीं, जो कुछ है उस पर ब्रह्म का है, उस की प्राप्ति के लिये प्रत्येक मनुष्य जो कर्म विशेष 'मैं इस लोक–कल्याणकारी काम को अपने जीवन में अवश्य पूरा करूँगा,' इस प्रकार व्रतरूपेण वरण करता है वह ब्रह्माग्नि है। उसमें ब्रह्मणा अर्थात् वेदोक्त विधान से, उस पर ब्रह्म के दिये हुए प्राण, धन आदि समस्त पदार्थों को ब्रह्म के लिये आहुति करता है। तो वह अपने सर्वस्व को ब्रह्म–हविः बनाता है। हविः शब्द दो धातुओं से बन सकता है 'हुं दानाऽदनयोः' तथा 'ह्वेञ् आह्वाने'—(ये युध्यमाना अवसे हवन्ते ऋ० २–१२–९)। सो हवि का अर्थ हुआ पूजार्थ श्रद्धा–पूर्वक अर्पण की हुई अपनी प्यारी वस्तु अथवा किसी को अपने पास बुलाने के लिए तय्यार की हुई उसकी प्यारी वस्तु। सो प्रभु को यही प्यारी वस्तु है कि हम अपनी प्यारी वस्तु उसकी प्रजा की सेवा के लिये अर्पण कर दें। सो जितना कुछ भी अपने प्यारे वैभव का भाग हमने प्रभु–प्राप्त्यर्थ प्रभु की प्रजा के कल्याणार्थ अर्पण कर दिया वही ब्रह्म–हविः है, इसमें दोनों ही व्युत्पत्तियाँ समाविष्ट हैं।

बस इस प्रकार हमारा जो कर्म ब्रह्मार्पण हुआ वह ब्रह्म–कर्म–समाधि हेतु से यज्ञ हुआ, उसका फल यही होगा कि यदि हम सकाम कर्म करेंगे तो कामना–द्वारा धीरे–धीरे बढ़ती हुई श्रद्धा के बल पर आगे बढ़ते हुए एक दिन आसक्ति के बन्धन से मुक्त हो जावेंगे। इसका नाम मुक्ति है। जरामरण बन्धन से मुक्ति, आसक्ति से मुक्ति का फल है, वह जब प्रभु समझगें कि अपनी योग्यता से हमने पा ली तब साधारण जरामरण के बन्धन से छूट जावेंगे, किन्तु लोक–कल्याणार्थ दिव्य जन्म (गीता ४–९) तो सहस्रों बार प्राप्त होगा ही।

अब रहा प्रश्न कि वह दुःख मुफ्त जीवों को क्यों मिलेगा? सो जब तक लोक–कल्याणार्थ कर्म करते हुए प्राप्त होने वाली पीड़ा में एक लोकोत्तर आनन्द अनुभव करने की शक्ति जब तक जीवात्मा

उपार्जन नहीं कर लेता तब तक वह मुक्त होता ही नहीं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—यदि दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों को पहली कक्षा के छोटी–छोटी राशियाँ जोड़ने, घटाने के प्रश्न दे दिये जावें तब उन्हें दुःख होता है और जब अध्यापक ऐसा प्रश्न दे, जिसे सुलझाने में उन्हें दो–तीन घण्टे एकाग्रचित्त होकर परिश्रम करना पड़े, तब वह अपने को धन्य मानते हैं। इसी प्रकार मुक्तात्मा जब दिव्य जन्म लेकर लोक–कल्याणार्थ श्रम करते हुए नाना प्रकार के कष्ट पाते हैं, तब वे पराकाष्ठा का आनन्द अनुभव करते हैं। इसलिये उन्हें दुःख होता ही नहीं, उल्टा सुख अनुभव होता है। बस, इसी अवस्था का नाम मुक्ति है और यही निष्काम यज्ञ का फल है।

अब यज्ञ–सामान्य का वर्णन करके यज्ञ–विशेषों का वर्णन करते हैं।

दवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अपरे योगिनः दैवम् एव यज्ञम् परि उपासते अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञेन एव यज्ञम् उपजुह्वति।

एक योगी वे हैं जो अपने चारों ओर विद्यमान देवों के साथ संगतीकरण करके दैव–यज्ञ की उपासना करते हैं अर्थात् अपने चारों ओर विद्यमान सूर्य–चन्द्रादि जड़–देवताओं से, उनकी संगति में रहकर प्रकाश, प्रताप, सोम्यता आदि गुण सीखते हैं अथवा अपने चारों ओर रहने वाले चेतन देवता अर्थात् उत्तम पुरुषों के चरित्र से उत्तम चरित्र प्राप्त करते हैं। दूसरे वे लोग हैं जो अग्निहोत्र अश्वमेधादि कल्प–सूत्रकारों द्वारा कल्पित यज्ञों, उनकी व्याख्या तथा तदनुकूल आचरण द्वारा ब्रह्माग्नि अर्थात् वेदाग्नि अथवा परमात्मा रूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् वे कर्मकाण्डी लोग जो इन यज्ञों की वेदानुकूल व्याख्या सुनाकर यजमानों को उन पर आचरण करना सिखाते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति अन्ये शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।

सबसे पहिला अभ्यास यहाँ से योगी योग–कर्म का आरम्भ करते

हैं, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को संयम की अग्नि में हवन करना है। इसलिये कोई कान आदि इन्द्रियों को संयम की अग्नि में हवन करते हैं। संयम दो प्रकार का है, अप्रिय शब्द को सुनकर सहन करना तथा प्रिय शब्द से भी कान को हटा लेना यह श्रोत्र का संयम है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों का जानना।

इस प्रकार संयम से इन्द्रियों को वश में करके फिर योगी लोग शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में हवन करते हैं, उसी मधुर शब्द में अथवा रूप में आसक्त होकर मनुष्य अपना सर्वस्व नाश कर लेते हैं, किन्तु वैज्ञानिक लोग शब्द अथवा रूप में आसक्त न होकर इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा लोक-कल्याणार्थ नाना तत्त्वों का अध्ययन करते हैं। एक रूपवती वेश्या के शरीर में जघन्य रोगों ने क्या क्या विकार उत्पन्न किये हैं, यह अध्ययन करते समय वैज्ञानिक रूप का तथा गुप्त से गुप्त अङ्गों का अति सूक्ष्म निरीक्षण करता है, परन्तु फिर भी कामासक्त न होकर नाना प्रकार के चिकित्सा सम्बन्धी तत्त्वों का आविष्कार करता है। इसका नाम है शब्दादि विषयों का इन्द्रियाग्नि में हवन करना। यह सब परब्रह्म की प्रजा के कल्याणार्थ है, इसलिये प्रभु-प्रीत्यर्थ है यही इस यज्ञ-विशेष में ब्रह्म-कर्म-समाधि नामक यज्ञ का वह सामान्य रूप है जिसका २४वें श्लोक में वर्णन कर आए हैं।

फिर इस प्रकार के संयम से प्राप्त विज्ञान से नाना प्रकार का सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है, उसके वश में लाने के लिये।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

अपरे सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति।

दूसरे सम्पूर्ण इन्द्रिय कर्मों को तथा प्राण-चेष्टाओं को आत्म-संयम-योग नामक अग्नि में हवन करते हैं, अग्नि ज्ञान से प्रदीप्त होता है।

इस संसार में सदा एकरस आनन्द का भण्डार जो अनश्वर है, वह ब्रह्म है। यह ज्ञान प्रभु-प्राप्ति की अभिलाषा को प्रदीप्त करता है। प्रभु के प्रति स्वाभाविक प्रेम मनुष्य में, दुःख में प्रादुर्भूत होता

है, इसलिये जो पराए दुःख को अपना दुःख समझने के अभ्यास को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं उनके हृदय में निरन्तर जाज्वल्यमान अग्नि में आत्माहुति करने से आत्मसंयम नामक अग्नि प्राप्त होता है, उसमें सर्वस्वाहुति करने वाले को विज्ञान से प्राप्त ऐश्वर्य नहीं बाँध सकता। इसलिये यह यज्ञ की अगली सीढ़ी है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

(केचित्) द्रव्ययज्ञाः (केचित्) तपोयज्ञाः तथा अपरे योगयज्ञाः (अपरे) च स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः संशितव्रताः यतयः।

कई घृत पुरोडाश आदि द्रव्यों से यज्ञ-रूपक रूप अग्निहोत्र, पौर्णमासादि यज्ञ करने वाले, कई लोक-कल्याणार्थ तपोमय साधना में प्रवृत्त तपोयज्ञ, कई योग-साधन में लगे योगयज्ञ, कई स्वाध्याय द्वारा ज्ञानयज्ञ करने वाले पैनी धार का व्रत धारण करने वाले लोग हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥

(केचित्) अपाने प्राणम् जुह्वति तथा अपरे प्राणे अपानम् जुह्वति।(ते इदम् कर्म) प्राणायामपरायणाः प्राणापानगती रुद्ध्वा (कुर्वन्ति)।

नए शुद्ध वायु का नाम प्राण है तथा अन्दर की गन्दगी को बाहर निकालने वाले वायु का नाम अपान है, सो कई लोग अवस्थानुसार जब शरीर में मल-संचय हो जाय तो प्राण-शक्ति को अपान-शक्ति में हवन करते हैं जिससे अपान-शक्ति बलवान् होकर मल को बाहर फैंक देती है। इस क्रिया का थोड़ा-बहुत ज्ञान मनुष्यमात्र को है, जब गुद-मार्ग में मल अटक जाय तो जो ज़ोर लगाया जाता है, जिसे हिन्दी में किनछना तथा पंजाबी में किल्हना कहते हैं तो उस समय मनुष्य प्राण का अपान में हवन करता है, परन्तु मल निकालने के तो मूत्र, प्रस्वेद, नासिका, कर्ण आदि अनेक मार्ग हैं उन सब में प्राणायाम द्वारा शक्ति पहुँचा कर छिपे हुए मल को बाहर निकालना किसी प्राणायाम के विशेषज्ञ से ही सीखा जा सकता है, फिर जो पाचनादि शक्तिवर्धक क्रियायें हैं उन को अपान-शक्ति द्वारा मल-क्षय करने

के पश्चात् बलवान् बनाकर सदा प्रथम भूख लगे, खाया हुआ पचे, चित्त प्रभुल्लित रहे, आनन्द के मारे रोमांच हो जाय यह अपान का प्राण में हवन है; सो प्राणायाम की श्वास लेना तथा श्वास छोड़ना इन दोनों गतियों को वश में करके कई लोग प्रयोजनानुसार प्राण का अपान में तथा अपान का प्राण में हवन करते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वे ऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

अपरे नियताहाराः प्राणेषु प्राणान् जुह्वति एते सर्वे अपि यज्ञविदः यज्ञ–क्षपित–कल्मषाः।

कोई दूसरे ऐसे हैं जो आहार विद्या को यथावत् जानकर किस इन्द्रिय की शक्ति, किस भोजन से बढ़ेगी यह जानकर उसी के अनुसार अपना आहार नियत करते हैं तथा इस प्रकार प्राण अर्थात् इन्द्रियों में तत्तत् प्राणवर्धक आहार को हवन करते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय में प्राण डालते हैं उसे जानदार बना देते हैं। ये सब ही यज्ञ विद्या के जानने वाले हैं, इनके सब दोष यज्ञ द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

वे यज्ञ द्वारा कैसे नष्ट हो जाते हैं, यह अगले श्लोकार्ध में बताते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

यज्ञशिष्टामृतभुजः सनातनम् ब्रह्म यान्ति अयज्ञस्य अयं लोकः नास्ति कुतः अन्यः।

ये सब यज्ञ करने वाले यज्ञ–शेष रूपी अमृत खाते हैं। इसलिये सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन! यज्ञ न करने वाले को यही लोक प्राप्त नहीं होता तो परलोक किस प्रकार प्राप्त होगा।

यह श्लोक गीता के सबसे महत्त्वपूर्ण श्लोकों में से एक है। ऊपर के श्लोक में वर्णित प्राणों का प्राण में नियताहार द्वारा यज्ञ ले लीजिये। शरीर के सब अङ्गों को उचित आहार पहुँचाने के लिये हो सकता है कि अस्वादु से अस्वादु भोजन भी करना पड़े तथा स्वादु से स्वादु भोजन भी परित्याग करना पड़े, यह बात वही कर सकता है जो अनासक्त होकर भोजन करे। फिर भोजन कर्त्ता मुख को क्या मिला? कुछ नहीं। किन्तु जब भोजन का हरएक ग्रास ब्रह्म–कृपा

का फल समझकर खाया जाता है तो उसमें जो स्वामी की आज्ञा–पालन का आनन्द है वही इस यज्ञ का शेष है और वह अनादि अनन्त प्रभु के भजन से ही प्राप्त होता है इसलिये इन सब ही यज्ञों में ''इदन्न मम'' 'यह मेरा नहीं' कहते–कहते मनुष्य के पास प्रभु–कृपा के सिवाय कुछ भी नहीं बचता। यही यज्ञ–शेष अमृत है, हर भोजन के रस से बढ़कर भोजन दाता भगवान् की भक्ति का रस है, वही यज्ञ–शेष है, वही अमृत है। इस अनासक्त भक्ति द्वारा यज्ञ करने वाले इस लोक को सुखमय बना देते हैं, तब उनका परलोक तो स्वयम् सुखमय बन जायेगा।

यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इसलिये है कि इससे मीमांसकों में प्रचलित अदृष्टवाद की जड़ कट जाती है। वर्तमान युग के मीमांसक रानी और मरे हुए घोड़े का परस्पर सम्बन्ध अश्वमेध में कराना ठीक समझते हैं। केवल कलियुग में इसे वर्जनीय मानते हैं, इसी प्रकार गधे को मारकर हवन करने से ब्रह्मचारी के व्रत–भंग का प्रायश्चित्त मानते हैं, जब उनसे पूछा जाता है कि यह क्या लीला है? तो कहते हैं कि मन्त्रपूर्वक ऐसा विधि–विहित आचरण करने से एक अदृष्ट पैदा होता है, जिससे उसका कल्याण होता है। भला यह क्या प्रायश्चित्त हुआ कि एक तो ब्रह्मचारी ने व्रत–भंग किया, दूसरे गधा मारा गया। यह तो कपड़ा धोने के लिये कीचड़ मलने के समान उपहसनीय कर्म हुआ, किन्तु अदृष्ट के जादू के सामने कोई युक्ति नहीं चलती, वे कहते हैं कि देखो कात्यायन ने स्पष्ट कहा है 'अवकीर्णिनो गर्दभेज्या' अर्थात् व्रत–भंग करने वाला ब्रह्मचारी गर्दभेज्या अर्थात् गधा–यज्ञ करे, परन्तु सोचना तो चाहिये कि गधा–यज्ञ किसे कहते हैं? गधा बहुत सीधा सादा भोजन करता है तथा अत्यन्त परिश्रमी होता है, इसी प्रकार व्रत–भंग करने वाला भोजन की मात्रा कम करता जाय तथा स्वाध्याय और व्यायाम की मात्रा बढ़ाता जाय, अन्ततोगत्वा एक दिन वह ब्रह्मचारी बन जायेगा।

यजुर्वेद ३९.४ में स्पष्ट कहा है कि 'पशूनां रूपम्' अर्थात् यज्ञ में पशुओं के गुण का अनुकरण करना होता है। परन्तु इन मध्यकालीन मीमांसकों ने तो 'पशूनाम् मांसम्' बना डाला जिसका वेद में कहीं प्रमाण नहीं। यह सब अदृष्टवाद का ठीक अर्थ न समझने की लीला

है, शतपथ में लिखा है—'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' अर्थात् विद्वान् प्रत्यायनीय की उपासना कहते हैं जो परोक्ष है, अदृष्ट है, प्रत्यक्ष प्रतीक की नहीं। यही अदृष्ट शब्द का ठीक अर्थ है, इस प्रकार गधा-यज्ञ करने से अर्थात् भोजन की मात्रा कम करने तथा श्रम की मात्रा बढ़ाने से ब्रह्मचारी का यह लोक सुधर जाता है, वह व्रत-भंग से बच जाता है, फिर इस लोक में सुधार होने से परलोक भी सुधर जाता है, किन्तु मध्यकालीन मीमांसक इस लोक को तो कुछ गिनते ही नहीं, इस लोक में कितनी ही भद्दी अश्लील घृणित क्रिया क्यों न हो, यज्ञ का फल अदृष्ट का सुधार है। परन्तु गीता कहती है यज्ञ न करने वाले का यही लोक नहीं सुधरता फिर परलोक क्या सुधरेगा? इससे स्पष्ट है कि गीता ने तो यज्ञ का मर्म जाना, किन्तु मध्यकालीन मीमांसकों ने कुछ नहीं जाना। इसलिये इस श्लोक का विशेष महत्त्व है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

एवम् ब्रह्मणो मुखे बहुविधाः यज्ञाः विततः तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।

इसी प्रकार द्रव्य-यज्ञ से आत्म-संयम-योग पर्यन्त अनेक यज्ञों का विस्तार ब्रह्म अर्थात् वेद के मुख में हुआ है, परन्तु वह सब कर्म-जन्य है, इसलिये कर्म बिना निस्तार नहीं और तू क्षात्र धर्म को छोड़कर अकर्मण्य होकर पड़ा है। इसलिये कर्महीन मत बन। हाँ, स्वजनों में आसक्ति छोड़कर निष्काम भाव से क्षात्र धर्म का पालन कर इसी से तुझे मोक्ष-लाभ होगा।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

हे परंतप! ज्ञानयज्ञः द्रव्यमयाद् यज्ञात् श्रेयान्, हे पार्थ! सर्वं कर्म अखिलम् ज्ञाने परिसमाप्यते।

हे परंतप अर्जुन! अग्निहोत्रादि द्रव्य-यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेयान् है अर्थात् अधिक कल्याणकारी है। क्योंकि कर्मयोग के लिये पहिले कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान आवश्यक है और यह अग्निहोत्रादि यज्ञ-नाटक अन्ततोगत्वा है तो इसीलिये कि घर-घर में सबको कर्त्तव्य

का ज्ञान हो जाय, सो कर्मकाण्ड के सब यज्ञ-यागादि की निरपवाद रूप से परिसमाप्ति अन्त को सम्यग् ज्ञान देने में ही तो है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

तत् (ज्ञानम्) प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया च विद्धि तत्त्वदर्शिनाः ज्ञानिनः ते ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति।

उस यथार्थ ज्ञान को तू विद्वानों के चरणों में सिर झुका कर, प्रश्न पूछ कर, सेवा करके पा। तत्त्वदर्शी, ज्ञानी लोग तुझे सच्चे तत्त्व-ज्ञान का उपदेश देंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

हे पाण्डव! यत् ज्ञात्वा (त्वम) पुनः एवम् मोहम् न यास्यसि येन अशेषेण भूतानि आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि।

हे पाण्डव! जिस तत्त्व को जानकर फिर तू स्वजन-मोह में न फँसेगा। हे अर्जुन! तू भी क्षत्रिय है और मैं भी। सब अन्याय-ग्रस्त प्राणी तुझ पर और मुझ पर आश्रित हैं। मैं यह नहीं भूला हूँ तू भूल गया है। मुझे क्षात्र धर्म याद आ रहा है, तुझे स्वजन मोह सता रहा है। हे अर्जुन! देख ये संसार भर के अन्याय पीड़ित प्राणी तुझ पर और मुझ पर दृष्टि लगाए हुए हैं। इन सबका भविष्य तेरे और मेरे हाथ में है इसलिये तू मुझ में और अपने में मेरे और अपने व्यक्तित्व को मत देख प्राणिमात्र के हित को निहित देख।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ ३६॥

अपि चेत् सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृत्तमः असि, ज्ञानप्लवेन एव सर्वम् वृजिनम् संतरिष्यसि।

यदि तू संसार भर के सब पाप-कर्मियों में सबसे बड़ा पापकर्मी है तो भी निष्काम भाव से लोक-सेवा अर्थात् यज्ञमय जीवन सर्वश्रेष्ठ जीवन है। इस ज्ञान की नौका पर सवार होकर तू सारी पाप की बाढ़ से पार उतर जायेगा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

हे अर्जुन! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मसात् कुरुते तथा शानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते।

हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि इन्धनों को राख का ढेर बना देता है, उसी प्रकार यज्ञ के लिये अर्थात् मानव-समाज के सामूहिक हित के लिये निष्काम बलिदान का ज्ञान सब पाप कर्मों को भस्मसात् कर देता है, क्योंकि जब लोकहित की भावना ने स्वार्थ की भावना को भस्म कर दिया तो पापकर्मों की जड़ ही कट गई।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

हे अर्जुन्! ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह न विद्यते, तत् योगसंसिद्धः कालेन स्वयं आत्मनि विन्दति।

हे अर्जुन! इस 'समुदाय के लिये व्यक्ति का बलिदान' रूपी ज्ञान के सदृश दूसरी कोई पवित्र वस्तु नहीं है। परन्तु यह ज्ञान केवल उपदेश से नहीं मिलता जब मनुष्य कर्मयोग में प्रवृत्त होकर इस प्रकार का बलिदान करता है तो समय पाकर उसे स्वयं इस ज्ञान की पवित्रता का साक्षात्कार हो जाता है और बड़े से बड़ा पापी भी इस मार्ग पर चलकर अपने अन्दर एक चमत्कार पाता है।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

श्रद्धावान् ज्ञानं लभते, तत्परः संयतेन्द्रियः (साक्षात्कार-जन्यम्) ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण शान्तिं अधिगच्छति।

हे अर्जुन! आरम्भ में तो दूसरों के अनुभव से श्रद्धा पाकर ही मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु जब वह जितेन्द्रिय होकर उस ज्ञान को आचरण में लाने में तत्पर हो जाता है तो शीघ्र ही उसे श्रद्धाजन्य शान्ति से भी बढ़कर साक्षात्कार-जन्य शान्ति प्राप्त हो जाती है, क्योंकि वह अनुभव से ज्ञान पा लेता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

अशः च अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति, संशयात्मनः न अयम् लोकः, न परः, न च सुखम् अस्ति।

जिसके पास साक्षात्कार-जन्य ज्ञान तो हो नहीं और ईमानदार आप्त पुरुषों पर श्रद्धा करने की भी नम्रता न हो तथा रात-दिन 'पता नहीं यह ठीक है या यह ठीक है' इस प्रकार के तर्क-वितर्क में ही लगा रहे, वह संशयात्मा पुरुष नष्ट हो जाता है। संशयात्मा पुरुष का न यह लोक बनता है न परलोक। इसीलिये उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४१॥

हे धनञ्जय! योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयं आत्मवन्तं कर्माणि न निबध्नन्ति।

हे अर्जुन! जिसने श्रद्धावान् होकर अपने कर्मों को निष्काम कर्मयोग द्वारा प्रभु अर्पण कर दिया, जिसकी धरोहर थी उसको संन्यस्त कर दी अर्थात् यथावत् सौंप दी। उसके पश्चात् जिसे साक्षात्कार द्वारा कर्मयोग की महिमा का ज्ञान होने से उसके संशय छिन्न-भिन्न हो गये और अनासक्ति के अभ्यास से कौन-सा कर्म कहाँ तक करना उचित और कब अनुचित है, यह जानकर उस ज्ञान को कार्य में परिणत करने के लिये आत्म-बल प्राप्त हो गया। उसे कोई कर्म बाँध नहीं सकता। जब हिंसा कर्त्तव्य है, तब अहिंसा उसे बाँध नहीं सकती और जब अहिंसा कर्त्तव्य है तो बदले की भावना उससे हिंसा नहीं करा सकती, वह अपनी लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर किसी साधन भूत कर्म के बन्धन में न आकर व्यावसायात्मिका बुद्धि से साध्य की ओर अग्रसर होता जाता है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

हे भारत! तस्मात् अज्ञानसम्भूतम् एनम् हृत्स्थम् संशयम् ज्ञानासिना छित्त्वा योगम् आतिष्ठ, उत्तिष्ठ।

हे भारत! इस समय तेरे ज्ञान को स्वजन-मोह नामक हृदय के आवेग ने दबाया हुआ है, इसलिये तू क्षणिक अज्ञान के दबाव में आ गया है। इस हृदय में जमे हुए अज्ञान-जन्य संशय को ज्ञानरूप तलवार से काट कर क्षात्रधर्मोचित कर्मयोग पर डट जा।

इति चतुर्थोऽध्यायः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चिम्॥ १॥

हे कृष्ण! कर्मणाम् संन्यासम् पुनः योगं च शंससि, यत् एतयोः श्रेयः तत् मे सुनिश्चितम् ब्रूहि।

हे कृष्ण! एक ओर तो आप कर्म-संन्यास की प्रशंसा करते हैं, दूसरी ओर कर्मयोग की। इन दोनों में जो मेरे लिये अधिक कल्याणकारी हो वह सुनिश्चित रूप से मुझे बताइये।

श्रीकृष्ण बोले—

श्रीकृष्ण उवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

संन्यासः कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ, तयोः तु कर्मयोगः कर्मसंन्यासात् विशिष्यते।

संन्यास और कर्मयोग दोनों ही परम कल्याण के करने वाले हैं किन्तु यदि इन दोनों में भी कौन बड़ा है यह जानना है। तो जान लो कि कर्मयोग का स्थान कर्म-संन्यास से विशिष्ट है।

इस प्रसंग में कर्म-संन्यास उस मनोवृत्ति का नाम है, जिसका फल अनासक्त कर्मयोग है। यह मनोवृत्ति जड़ पदार्थ के इतने निकट है कि कर्म-संन्यासी तथा जड़ पदार्थ में भेद ही कर्मयोग उत्पन्न करता है। जो मनुष्य कर्म-संन्यासी होकर कर्मयोगी बनेगा वह किसी कर्म को जो कि साधन भूत है साध्य के घातक अंश तक नहीं करेगा। भोजन साधन है, स्वास्थ्य साध्य है, तो जितनी मात्रा में जिस प्रकार का भोजन आवश्यक है उसी प्रकार का अन्यूनानतिरिक्त मात्रा में लेना तब ही सम्भव है जब भोजन करने वाले की न किसी रस में आसक्ति हो और न किसी मात्रा में। इसी प्रकार स्वास्थ्य लोक-कल्याण का साधन है, लोक-कल्याण के लिये प्राण-विसर्जन आवश्यक हो तो वह भी कर देना चाहिये और यदि स्वास्थ्य-रक्षा न हो तो साधारण

रूप से लोक-कल्याण हो ही नहीं सकता। बस आसक्ति का लक्षण है 'साध्य-प्रतिपक्षि-साधने पक्षपातः'। सो उस पक्षपातरहित अवस्था को प्राप्त करने के लिये जिस मनोवृत्ति की अपेक्षा है उसका अगले श्लोक में वर्णन करते हैं।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

यो न द्वेष्टि न कांक्षति स नित्यसंन्यासी ज्ञेयः, हे महाबाहो! निर्द्वन्द्वो हि बंधात् सुखम् प्रभुच्यते।

जिसे किसी वस्तु से द्वेष नहीं, किसी की आकांक्षा नहीं, उसे नित्य-संन्यासी जानना चाहिये। हे महाबाहो! शीतोष्ण-सुख-दुःखादि-द्वन्द्वरहित मनुष्य बन्धन से मोक्ष सुगमता से प्राप्त कर लेता है।

यह मनोवृत्ति मनुष्य को कर्मयोगी बनाने के लिये परमावश्यक है, किन्तु कर्मयोग के बिना इस मनोवृत्ति वाला मनुष्य जड़ पदार्थ है। इसके विपरीत यदि वह कार्य कर्म में लगा हुआ है तो साध्य का प्रेम ही उसे साधन में आसक्ति से बचा लेगा, इसीलिये पहिले श्लोक में कहा कि कर्मयोग का स्थान कर्म-संन्यास से विशिष्ट है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

बालाः सांख्योगौ पृथक् वदन्ति पण्डिताः न, एकम् अपि सम्यक् आस्थितः उभयोः फलम् विन्दते।

सांख्य का अर्थ है लक्ष्य का स्वरूप तथा उस तक पहुँचने के साधनों का अन्यूनानतिरिक्त गिनती से बिलकुल गिना गिनाया रूप। सो यदि उसे कुछ करना ही नहीं तो गिनती किस काम की और यदि काम करना है तो गिने गिनाए क्रम के बिना होगा कैसे, इसलिये सांख्य और योग को एक समझना पाण्डित्य है तथा इन दोनों को पृथक् कहना बालकपन है। कोई बुद्धिमान् इन एक दूसरे के परम पूरकों को पृथक् नहीं कह सकता। जिसने कार्यक्रम की शृङ्खला गिनी है—सांख्य प्राप्त किया है उसने यह कर्मयोग के लिये ही तो किया है और यदि कर्मयोग में लगा है तो फिर कार्यक्रम की ठीक-ठीक प्रक्रिया नापनी ही होगी। इसलिये एक को पकड़ने पर दूसरे तक पहुँचना अनिवार्य है, नहीं तो उसने सम्यक् रूप से लक्ष्य को पकड़ा

ही नहीं। इसलिये सम्यक् अर्थात् ठीक रूप से एक में आस्था होने पर दूसरे का फल मिल कर ही रहेगा।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

यत् स्थानं सांख्यैः प्राप्यते तत् योगैः अपि गम्यते यः सांख्यं योगं च एकम् पश्यति सः पश्यति।

मानव समाज के कल्याण रूप जिस स्थान पर सांख्य पहुँचते हैं वहीं कर्मयोगी पहुँचते हैं, इसलिये जो इन दोनों को जानता है, वही ठीक जानता है, वही तत्त्वदर्शी है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

हे महाबाहो! संन्यासः तु अयोगतः आप्तुम् दुःखम्, योगयुक्तः मुनिः नचिरेण ब्रह्म अधिगच्छति।

हे महाबाहो! बिना कर्मयोग के संन्यास की मनोवृत्ति पाना कठिन है, क्योंकि उसने ठीक मनोवृत्ति प्राप्त की है वा नहीं इसकी परीक्षा तो कर्मयोग में ही होती है। कर्मयोग के क्षेत्र में प्रवेश किये बिना संन्यास में मिथ्या सन्तोष का अति प्रबल भय बना रहता है। दूसरी ओर कर्मयोग में भूलों की नित्य पड़ताल होते रहने से योग-मुक्त मुनि अतिशीघ्र ब्रह्म को पा जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

योगयुक्तः विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन् अपि न लिप्यते।

कर्मयोगी की अवस्था क्या हो जाती है उसका वर्णन करते हैं। कर्मयोग में युक्त मनुष्य विशुद्धात्मा हो जाता है, क्योंकि उसने विषयों से पराजित अपने आत्मा को लड़ाई लड़कर फिर वापिस जीत लिया है। इसका प्रमाण यह है कि वह जितेन्द्रिय हो गया है। इन्द्रियाँ उसका कहना मानती हैं, वह इन्द्रियों का नहीं। दूसरा गुण उसमें यह आ गया है कि वह प्राणि-मात्र के आत्मा जैसा अपने आत्मा को बना चुका है अर्थात् उनके सुख दुःख का उसे उसी प्रकार अनुभव होता है मानो वह सुख दुःख सीधे उसे प्राप्त हुए हों। ऐसा पुरुष कर्म करता

हुआ भी लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह किसी एक व्यक्ति के हित में आसक्त नहीं है, किन्तु सर्वभूतात्मा भूतात्मा है।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥ ८॥

तत्त्ववित् युक्तः पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् च न एव किंचित् करोमि इति मन्येत।

तत्त्ववित्=सांख्ययुक्त योगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, सांस लेता हुआ, मैं कुछ स्वयम् नहीं कर रहा हूँ, परम कल्याणकारी भगवान् की कठपुतली मात्र हूँ, ऐसा समझे।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि च 'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते' इति धारयन्.........।

प्रलाप करता हुआ, किसी पदार्थ का विसर्जन करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँख खोलता हुआ, आँख बन्द करता हुआ—इन सब ही अवस्थाओं में मेरी इन्द्रियाँ, जिस विषय का ज्ञान पाने मैंने उन्हें भेजा है वहाँ अपना काम कर रही हैं, यह धारणा करता हुआ पुरुष।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

यः कर्माणि ब्रह्मणि आधाय सङ्गम् त्यक्त्वा करोति स अम्भसा पद्मपत्रम् इव पापेन न लिप्यते।

जो पुरुष 'मैं ब्रह्म की आज्ञानुसार उसका निमित्त मात्र बनकर काम कर रहा हूँ, इसमें मेरा कुछ नहीं, इस प्रकार ब्रह्मार्पण करके सङ्ग को छोड़कर कर्म करता है वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार जल में रहता हुआ कमलपत्र?'

कारण यह कि वह 'तत्त्ववित्' यथा 'युक्तः' है। पाप में प्रवृत्ति दो ही कारणों से होती है। एक अज्ञानी (असांख्य) होने से दूसरी व्यक्तिगत सुख में आसक्त होने से। किन्तु वह लोक-कल्याण में युक्त है तत्त्ववित् है तथा सङ्ग छोड़ चुका है, अब लेप किधर से हो?

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

योगिनः कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैः इन्द्रियैः अपि सङ्गं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति।

योगी लोग शरीर से भोजनादि, मन से तर्क वितर्कादि, बुद्धि से कर्त्तव्या-कर्त्तव्य विवेचन तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से पुस्तक-दर्शन, शास्त्र-श्रवण, आरोग्यकारक शीतादिस्पर्श, स्वास्थ्य-कारक मधुरादि रसज्ञान, स्फूर्त्तिदायक हविर्गन्धादि का आघ्राण, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों से गुरु-सेवादि तथा अन्य कर्मेन्द्रियों से आरोग्य-वर्धक मल-विसर्जनादि सब ही कर्म तो करते हैं, किन्तु एक तो यह कर्म वे लोग आत्मा की विशुद्धि के लिये करते हैं दूसरे उसके बदले में फल की आसक्ति छोड़कर करते हैं।

इसका परिणाम यह है कि—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

युक्त कर्मफलम् त्यक्त्वा नैष्ठिकीं शान्तिम् आप्नोति, अयुक्तः फले सक्तः कामकारेण निबध्यते।

कर्मयोगी फल-प्राप्ति के लिये हाय-हाय न करने के कारण स्थिर शान्ति प्राप्त करता है, इसके विपरीत योगरहित मनुष्य नाना प्रकार की कामनाओं में आसक्त होने के कारण कामना द्वारा बाँध लिया जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥

वशी देही सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य नवद्वारे पुरे नैव कुर्वन् न कारयन् सुखम् आस्ते।

जिस देही ने अपने आपको वश में करके ब्रह्म में आधान कर लिया है—जो सर्वथा ब्रह्मार्पण हो चुका है, वह इस देह रूप नवद्वार वाली नगरी में न कुछ करता है न करवाता है। सब कुछ फिर उससे ब्रह्म करवाता है, तब इस प्रकार वह सुखपूर्वक (इस नगरी में) बसता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान् कर्त्ता बन जाता है।

न कर्तुत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥

प्रभुः लोकस्य न कर्तृत्वम् न कर्माणि न कर्मफल-संयोगं सृजति स्वभावस्तु प्रवर्तते।

मनुष्य स्वतन्त्र कर्त्ता है। इसलिये शुभाशुभ कर्मों का कर्त्तव्य न वह कर्म जो उसने करने के लिये अपने सामने रक्खे हैं न उन कर्म-फलों के साथ संयोग जिनसे प्रेरित होकर संसार काम कर रहा है, कोई भी इनमें से प्रभु ने नहीं रचा। हर व्यक्ति का अपना स्वभाव है, जो संसार में चल रहा है, इसलिये अभ्यास द्वारा अपना अपना स्वभाव बदलना होगा, तब ही हम ब्रह्मार्पण होकर ब्रह्म प्रेरणा से काम करेंगे। अभी तक तो कामनाओं की प्रेरणा से चलते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

विभुः कस्यचित् पापम् न आदत्ते न एव सुकृतम्, ज्ञानम् अज्ञानेन आवृतम् तेन जन्तवः मुह्यन्ति।

वह परमात्मा न तो किसी के पापों को अपने ऊपर लेता है न किसी के पुण्य छीनता है फिर भी लोग 'परमात्मा हमारे पापों के बदले अवतार लेकर कष्ट भोगेगा अथवा हमारे अमुक मन्त्रोच्चारण से अमुक पुण्यात्मा के पुण्य नष्ट होकर वह भी नष्ट हो जायेगा' इस प्रकार के मिथ्याविश्वास में पड़े रहते हैं। हमारे सब पाप पुण्य का फल हमको ही भोगना है, परन्तु यह ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसलिये प्राणी मोह-जाल में फँस जाते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

येषाम् तु आत्मनः तत् अज्ञानम् ज्ञानेन नाशितम् तेषाम् परम् ज्ञानम् आदित्यवत् प्रकाशयति।

परन्तु जिनके आत्मा पर पड़ा हुआ वह अज्ञान का आवरण ज्ञान से नष्ट कर दिया जाता है उनको वह परम ज्ञान अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान सूर्य के समान स्वयम् प्रकाशित हो जाता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

तद्बुद्धयः तदात्मानः तन्निष्ठाः तत्परायणाः ज्ञाननिर्धूत–कल्मषाः अपुनरावृत्तिम् गच्छन्ति।

हे अर्जुन! जो लोग इस मोह में फँस जाते हैं वे धर्म से निवृत्त तथा मोह की ओर आवृत्त हो जाते हैं, परन्तु परमात्मा का परम ज्ञान प्राप्त करके उसमें ही बुद्धि लगाए हुए तदात्मता प्राप्त किये हुए अर्थात् दृढ़ निष्ठावाले लोग उसी को परम शरण समझकर जिस प्रकार तू क्षात्र धर्म को छोड़कर मोह की ओर झुक गया है इस प्रकार फिर कभी मोह मार्ग की ओर आवृत्त नहीं होते, क्योंकि ज्ञान से उनकी पाप–बुद्धि निर्धूत हो जाती है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

पण्डिताः विद्याविनय–सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि श्वपाके च एव समदर्शिनः।

हे अर्जुन! परमात्मा के न्यायदण्ड के सामने और अतएव न्याय–भक्त प्रभु–प्रेमी क्षत्रिय के सामने सब अपराधी समान हैं। विद्वान् लोग न्याय करते समय विद्या–विनय–सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और कुत्तों के लिये भोजन पकाने वाले चाण्डाल इन सबको एक दृष्टि से देखते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

येषां साम्ये मन स्थितम् तैः इह एव सर्गः जितः, ब्रह्म हि समम् निर्दोषम् तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः।

जिनका मन इस प्रकार निष्पक्षपात रूप से समान न्याय करने में स्थित है, उन्होंने इस लोक में ही सृष्टि–विजय कर लिया। ब्रह्म निष्पक्षपात तथा समदर्शी है, इसलिये उसका अनुकरण करने वाले भी ब्रह्म पर आश्रित हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

ब्रह्मवित् स्थिरबुद्धिः असम्मूढः ब्रह्मणि स्थितः प्रियम् प्राप्य न प्रहृष्येत् अप्रियम् प्राप्य च न उद्विजेत्।

हे अर्जुन! परमात्मा के न्याय पर विश्वास रखने वाला ब्रह्मवित् न्याय करते समय प्रियवस्तु के उपहार आदि को प्राप्त करके फूले नहीं तथा कर्त्तव्य–पालन में अप्रिय काम करना पड़े तो ग्लानि न माने। उसे मोहरहित तथा स्थिर–बुद्धि होकर न्याय करना चाहिये (इसलिये स्थिर–बुद्धि होकर अन्याय के पक्षपाती भीष्म, द्रोणादि को मारने का अप्रिय कर्त्तव्य–पालन कर)।

हे अर्जुन! हर पदार्थ का एक बाह्य प्रभाव है और एक वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा उसके गुण दोष बताने वाला परीक्षण तथा चिन्तन–जन्य सूक्ष्म ज्ञान है। जो मनुष्य नींबू के खट्टे स्वाद में आसक्त रहेगा, वह उसके उन गुण दोषों को किस प्रकार जानेगा, जिन्हें एक वैद्य अथवा रसायन–शास्त्र वेत्ता जानता है। बाह्य–स्पर्श–जन्य सुख का अनुभव इन्द्रियों में होता है, वैज्ञानिक–तत्त्वज्ञान–जन्य अथवा परोपकार–जन्य सुख अन्तरात्मा में। तू तो इस समय स्वजन–परित्राण–जन्य स्थूल सुख में फँसा है, किन्तु न्याय–रक्षार्थ दुष्ट–वध–जन्य सुख तो आत्मा ही में अनुभव किया जा सकता है, इसलिये सुन—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा आत्मनि यत् सुखम् विन्दते सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अक्षयम् सुखम् अश्नुते।

पदार्थों के बाह्य स्पर्श अर्थात् इन्द्रिय–सन्निकर्ष–जन्य स्थूल ज्ञान में जो आसक्त नहीं रहता, वह जो सुख प्राप्त करता है, उस सूक्ष्म सुख–ज्ञान से वह मैं परमात्मा का शासन पूरा कर रहा हूँ, ऐसा अनुभव करता है और जब इस प्रकार उसका आत्मा बाह्य स्पर्शयोग से छूटकर ब्रह्मयोग में समाहित हो जाता है, एकाग्र हो जाता है तब अक्षय सुख के भण्डार ब्रह्म से युक्तात्मा होने के कारण वह अक्षय सुख पाता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

ये तु संस्पर्शजा भोगाः ते हि आद्यन्तवन्तः दुःखयोनयः एव

युधः तेषु न रमते।

जो भोग इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष–जन्य हैं उनका क्योंकि आदि भी है और अन्त भी। इसलिये वे क्षणभङ्गुर होने के कारण वियोग में अति दुःखदायी होते हैं। बुद्धिमान् उनमें नहीं रमता।

शक्नोतीहव यःसोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

यः शरीरविमोक्षणात् प्राक् इह एव काम–क्रोधोद्भवं वेगं सोढुम् शक्नोति स नरः युक्तः स सुखी।

जो मनुष्य शरीर छूटने से पहिले इस संसार में काम क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को रोकने में समर्थ होता है उसे ही युक्त जानना, वही सुखी होता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

यः अन्तःसुखः यः अन्तरारामः तथा यः अन्तर्ज्योतिः एव स योगी ब्रह्मभूतः ब्रह्मनिर्वाणम् अधिगच्छति।

जो मनुष्य सुख अन्दर ही ढूँढता है, जिसका विश्रान्ति धाम अन्दर ही है तथा जिसे अन्दर ही ज्योति प्राप्त होती है वह योगी, जिस प्रकार अग्नि–प्रविष्ट लोह–गोलक अग्निमय हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य–प्रतिबिम्वित दर्पण सूर्य–भाव को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाण पाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

क्षीणकल्मषाः छिन्नद्वैधाः यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ऋषयः ब्रह्मनिर्वाणम् लभन्ते।

जिन की पाप–बुद्धि क्षीण हो चुकी है, द्वैध अर्थात् संशय छिन्न हो चुके हैं, अपने आप जिन्होंने वश में कर लिया है, वे प्राणि–मात्र के हित में लगे हुए ऋषि ब्रह्म–निर्वाण को प्राप्त होते हैं, क्योंकि सर्वभूत–हित में रति उन्हें सर्वभूत–शरण्य भगवान् से नित्य सम्बन्ध करा देती है।

कामक्रोधवियुक्तानां यत नां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

काम–क्रोध विमुक्तानां यतचेतसां विदितात्मनाम् यतीनाम् अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते।

जो काम क्रोध से छूट गए हैं, जिनका चित्त वश में है, जिन्होंने आत्मा को पहिचान लिया है, उन यतियों के ही सामने ब्रह्म निर्वाण उपस्थित होता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह् यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥

बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा चक्षुः च भ्रुवोः अन्तरे (कृत्वा) नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा।

बाह्य स्पर्शों को बाहिर रोक कर नेत्र को दोनों भौहों के बीच एकाग्र करके (अति गम्भीर चिन्तन की यही मुद्रा है) और नाक के बीच चलने वाले प्राण तथा अपान को सम करके।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिः मोक्षपरायणः विगतेच्छा–भय–क्रोधो यः मुनिः स सदा मुक्तः एव।

ऊपर जो योगाभ्यास की प्रक्रिया बताई है, उसके द्वारा जिसने इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को वश में कर लिया है, जो आसक्ति से मोक्ष को अपना अन्तिम ध्येय समझता है, जिसकी सर्वभूत–हित के अतिरिक्त कोई इच्छा नहीं, दुष्टकर्म से भय के अतिरिक्त भय नहीं तथा अपने अपराधों के अतिरिक्त क्रोध नहीं, ऐसा जो मुनि है सो सदा मुक्त ही है।

हे अर्जुन! आज इस युग में मेरे सहस्त्रों अनुयायी हैं उनमें तू भी एक है (भक्तोऽसि मे सखा चेति ४–३)। वे देंखे कि मैं कितना सुखी हूँ और कितनी शान्ति मुझे प्राप्त है, इससे उनका उत्साह बढ़ेगा और उन्हें भी वह शान्ति प्राप्त हो जायेगी, इसलिये कहता हूँ—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

माम् यज्ञतपसाम् भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरम् सर्वभूतानां सुहृदम् ज्ञात्वा शान्तिमृच्छति।

मैं अपने यज्ञ और तपों का फल इसी लोक में प्राप्त कर रहा हूँ। आज के जितने भी लोक-नायक हैं, मैं उनका महानायक हूँ। यह लोकनायकता मुझे इसीलिये प्राप्त हुई है कि मैं प्राणि-मात्र का सुहृद् हूँ, इस प्रकार मेरे हृदय की शान्ति को देखकर वे भी प्राणि-मात्र के हितैषी बनकर अनासक्ति-योग से शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। जो भी इस मार्ग से चलता है, वह शान्ति पाता है।

इति पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १ ॥

यः कर्मफलम् अनाश्रितः कार्यम् कर्म करोति स संन्यासी च योगी च न निरग्निः न च अक्रियः।

कर्मयोग में तीन भाग हैं शुभ कर्मों को करना, अशुभ कर्मों को न करना यह कर्मयोग की पहिली सीढ़ी है। फिर वे शुभ कर्म दो प्रकार के हैं—एक सकाम, दूसरा निष्काम। निष्काम शुभ कर्म यह पूरा कर्म-काण्ड है। अग्नि का अर्थ है लोक-कल्याण के लिये कार्य करने का व्रत। उस व्रत को फल-कामना से निभाना सकाम कर्म-काण्ड है, निष्काम भाव से करना संन्यास-युक्त योग है। इसीलिये कहा कि कर्मफल के आश्रय न रहकर जो करणीय कर्म करता है, वह संन्यासी भी है योगी भी। एक मनुष्य ने शुभ व्रत धारण किया तो वह अग्नियुक्त है, परन्तु यदि कोी दिन रात व्रत का स्मरण ही करता रहे, अग्निहोत्रादि नाटकों में ही लगा रहे, उन उपदेशों पर आचरण कुछ न करे, वह क्रियावियुक्त है। फिर वह अग्नि भी निष्काम हो तथा क्रिया भी साथ हो तब वह संन्यासी भी है, योगी भी। अग्निहीन तथा क्रियाहीन न संन्यासी है न योगी। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सबसे पहिले कार्याकार्य-विवेक आवश्यक है। इसलिये कर्म के साथ 'कार्यम्' यह विशेषण लगाया गया। सकामता और निष्कामता का प्रश्न उनके पश्चात् उपस्थित होता है, निष्कर्ष यह है कि—

१. अकार्य कर्म कभी न करना।

२. कार्य कर्म सकाम होकर भी करना।

३. कार्य कर्म निष्काम भाव से करना। यह सर्वश्रेष्ठ अवस्था है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २ ॥

हे पाण्डव यं संन्यासम् इति प्राहुः तम् योगम् विद्धि नहि

असंन्यस्त-संकल्पः कश्चन योगी भवति।

हे पाण्डव! जिसे 'संन्यास' ऐसा कहते हैं उसे ही तुम योग जानो, क्योंकि योगी का अर्थ है निरुद्ध-चित्त-वृत्ति और चत्तिवृद्धि-निरोध तब तक सम्भव नहीं जब तक विक्षेपादि के मूल फल की कामना को प्रभु-अर्पण करके फल-प्राप्ति की व्याकुलता को नष्ट न कर दिया जाय।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

योगम् आरुरुक्षोः मुनेः कर्म कारणम् उच्यते तस्य एव योगारूढस्य शमः कारणम् उच्यते।

हे अर्जुन! संन्यास की असली परीक्षा फल-प्राप्ति पर होती है। जब तक मनुष्य फल तक नहीं पहुँचता किन्तु ध्येय-प्राप्ति के शिखर पर चढ़ने की इच्छा रखता है तब तक उसके लिये ध्येय-प्राप्ति के लिये कर्म करना आवश्यक है, किन्तु ध्येय-प्राप्ति पर फल-प्राप्ति भी साथ ही होती है। तब अपने को सम्भालना कठिन होता है। उस समय शम उसे काम देता है। एक चतुर वैद्य एक आसाध्य समझे जाने वाले रोगी की चिकित्सा में लगा हुआ है, रोगी रोग-मुक्त हो गया। अब मान लीजिये कि वह रोगी से किसी फल की इच्छा नहीं रखता किन्तु ध्येय-प्राप्ति अर्थात् रोगी की रोग-मुक्ति से जो कीर्त्ति, अर्थ-लाभ, मित्र-सम्प्राप्ति आदि नाना फल उस पर स्वयम् टूट-टूटकर बरसते हैं उनका बोझा सहन करने के लिये उसे शम-शक्ति की अपेक्षा होती है।

अब वह शम किस प्रकार प्राप्त होता है सो आगे कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

यदा हि न इन्द्रियार्थेषु अनुषज्जते न कर्मसु (अनुषज्जते) तदा सर्वसंकल्प-संन्यासी योगारूढः उच्यते।

जिस प्रकार भूख मिट जाने पर भोज्य पदार्थों का थाल भरा हुआ सामने पड़ा हो तो भी खाने की इच्छा नहीं होती। इसी प्रकार पूर्वोक्त ब्रह्म-निर्वाण पाने वाले के सब सङ्कल्प सब प्रकार की भूख (शरीर-यात्रा के अतिरिक्त) मिट जाती है वह आप्त-काम हो जाता

है। इस सर्व-सङ्कल्प-संन्यास का ही नाम शम है। इसको प्राप्त हो जाने वाले पुरुष को उस समय योगारूढ़ कहते हैं।

हे अर्जुन! आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के द्वारा सुख पाने की इच्छा अन्ततोगत्वा परावलम्बन-परतन्त्रता ही तो है, इस प्रकार की परतन्त्रता में फँसा हुआ मनुष्य किसी न किसी तुच्छ वस्तु के सामने गिड़गिड़ाता है, यह गिड़गिड़ाने की अवस्था समाप्त होनी चाहिये।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

आत्मानम् आत्मना उद्धरेत् आत्मानं न अवसादयेत्। हि आत्मा एव आत्मनः बन्धुः आत्मा एव आत्मनः रिपु।

इसलिये इस दीनता से बचने के लिये अपना उद्धार अपने बल से करे। अपने आपको भोग-वासना के वश में होकर कभी जड़ पदार्थों के सामने नीचा न दिखावे। मनुष्य का अपना आप ही उसका बन्धु है और अपना आप ही उसका शत्रु है।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

येन आत्मना एव आत्मा जितः तस्य आत्मनः आत्मा बन्धुः अनात्मनस्तु शत्रुत्वे आत्मा एव शत्रुवत् वर्त्तेत।

जिसने अपने आप के द्वारा जड़ पदार्थों से लड़कर उन्हें परास्त करके अपने आपको जीत लिया है उसका इस युद्ध में अपना आप ही बन्धु है और जब जड़ पदार्थ जो आत्मा नहीं है आत्मा के साथ शत्रु का बर्त्ताव कर रहा होता है, उस समय वास्तव में अपना आप ही अपना शत्रु होता है। लोग प्रायः कहते हैं कि मैं तो इस गन्दे स्थान में नहीं जाता था। आँखें मुझे घसीट कर ले गईं। वे यह भूल जाते हैं कि जड़ आँखों की क्या मजाल कि चेतन को घसीट कर ले जावें। बैरन आँखें नहीं अपनी विषयासक्ति है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुख-दुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य शीतोष्णसुखदुःखेदु तथा मानापमानयोः परमात्मा समाहितः।

जिसने अपने आपको इन्द्रियों की दासता से छुड़ा लिया है, उसका चित्त प्रशान्त रहता है और जिस प्रकार स्थिरदर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब भी स्थिर और स्पष्ट दीखता रहता है, इसी प्रकार प्रशान्त चित्त में शीतोष्ण, सुख-दुःख, मानापमान आदि सब द्वन्द्वों के बीच एकरस परमात्मा का आनन्द एकाग्र समाहित रूप से प्रतिफलित होता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा विजितेन्द्रियः कूटस्थः समलोष्टाश्म-काञ्चनः योगी युक्तः इति उच्यते।

जिसकी तृप्ति का साधन उसके अन्दर ही उपस्थित है अर्थात् नानाविध ज्ञान प्राप्त करना तथा उस पर विविध चिन्तन द्वारा उसे विज्ञान रूप देना; किंच उसमें चित्त एकाग्र होने से जिसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं तथा जो ज्ञान के परम शिखर भगवान् में सदा स्थित रहता है। जिसके लिये मिट्टी का ढेला, पत्थर तथा सोना सब एक समान तुच्छ हैं। इस अवस्था को पहुँचा हुआ योगी युक्त कहलाता है, उसे किसी जड़ पदार्थ के सामने गिड़गिड़ाना नहीं पड़ता।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु साधुषु पापेषु अपि च समबुद्धिः विशिष्यते।

हितैषी, मित्र, शत्रु, उदासीन, दो के बीच में विवाद-निर्णेता मध्यस्थ, दुनिया भर का द्वेष का पात्र (जो हम से द्वेष करे वह शत्रु तथा हम जिससे द्वेष करें वह द्वेष्य कहाता है) बन्धु, सज्जन तथा पापी इन सबके प्रति जिसकी हितकामना बुद्धि एक समान है वह विशिष्ट योगी है।

साधना का स्थान—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

रहसि स्थितः एकाकी यतचित्तात्मा निराशीः अपरिग्रहः योगी आत्मानम् सततम् युञ्जीत।

एकान्त में स्थित, अकेला, चित्त और आत्मा को वश में किये हुए, कामना रहित, सामग्री के बोझ से रहित योगी अपने आपको सदा एकाग्र करता रहे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

शुचौ देशे आत्मनः न अत्युच्छ्रितं न अतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् स्थिरम् आसनम् प्रतिष्ठाप्य।

पवित्र स्थान में सबसे नीचे वस्त्र उस पर मृगचर्म और उसके ऊपर कुशासन बिछाकर न अत्यन्त ऊँचा न अत्यन्त नीचा इस प्रकार का स्थिर आसन जमा कर।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

तत्र आसने उपविश्य यतचित्तेन्द्रियक्रियः मनः एकाग्रम् कृत्वा आत्मविशुद्धये योगं युञ्ज्यात्।

फिर वहाँ उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रिया वश में करके आत्म-शुद्धि के लिये योग की साधना करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

कायशिरोग्रीवम् समं अचलं धारयन् स्थिरः (भूत्वा) दिशः अनवलोकयन् च स्वं नासिकाग्रं सम्प्रक्ष्य।

शरीर, सिर और ग्रीवा को एक समान अर्थात् आगे वा पीछे झुका न हो इस प्रकार निश्चल धारण करता हुं स्थिर होकर चारों ओर दिशाओं को न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करके—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

युक्तः प्रशान्तात्मा विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः मनः संयम्य मच्चितः मत्परः आसीत।

युक्त पुरुष प्रशान्तात्मा रहे। किसी से डरे नहीं। ब्रह्मचारि-व्रत का पालन करे और मन को संयम में करके मेरा अनुयायी सदा इस

बात में चित्त लगावे कि मैंने किस प्रकार प्रभु-भक्ति से शान्ति तथा निर्भयता प्राप्त की है और मैं जिस प्रकार कर्त्तव्य-पालन में तत्पर हूँ, वैसे ही मेरा अनुकरण करने में तत्पर हो जाय।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

एवं सदा आत्मानं युञ्जन् नियतमानसः योगी निर्वाणपरमां मत्संस्थाम् शान्तिम् अधिगच्छति।

इस प्रकार अपने आपको सदा समाहित करता हुआ मन को वश में करने वाला योगी उस शान्ति को प्राप्त कर लेता है जो योग-साधन द्वारा मेरे अन्दर विद्यमान है और अन्त में उसे निर्वाण-रूप अन्तिम ध्येय की प्राप्ति होती है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

हे अर्जुन! अत्यश्नतः तु योगः न अस्ति न च एकान्तम् अनश्नतः (योगः अस्ति) न च अति-स्वप्नशीलस्य (योगः अस्ति) जाग्रतः च न एव योगः अस्ति।

हे अर्जुन! अत्यन्त खाने वाले को योग सिद्ध नहीं होता और बिलकुल खाना परित्याग करने वाले को भी योग सिद्ध नहीं होता। रात दिन सोते रहने वाले को भी योग सिद्ध नहीं होता तथा सदा जागते रहने वाले को भी योग सिद्ध नहीं होता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

युक्ताहारविहारस्य कर्मसु युक्तचेष्टस्य युक्तस्वप्नावबोधस्य योगः दुःखहा भवति।

जिसका आहार विहार युक्तियुक्त हो जिसकी कर्म चेष्टाएँ युक्तियुक्त हों। विशेष कर जिसका सोना तथा जागना युक्तियुक्त हो, उसी के लिये योग-माग दुःखनाशक सिद्ध होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

यदा चित्तं विनियतम् आत्मनि एव अवतिष्ठते सर्वकामेभ्यः

निःस्पृहः तदा युक्तः इति उच्यते।

जब चित्त वश में आया होने पर आत्मा के ही शासन में खड़ा रहता है, उस समय सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह मनुष्य 'युक्तः' इस प्रकार कहलाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

यथा निवातस्थः दीपः न इङ्गते यतचित्तस्य आत्मनः योगं युञ्जतः योगिनः सा उपमा स्मृता।

जिस प्रकार वायु के झोंके से सुरक्षित स्थान में रखा हुआ दीपक किंचित् मात्र भी काँपता नहीं बस चित्त वश में करने वाले आत्मा को समाधि में लगाने वाले योगी के लिये वही आदर्श है।

इसी श्लोक के भाव को लेकर शिवलिंग की कल्पना की गई है—न इङ्गते काँपता नहीं। चञ्चलता नहीं करता यही भाव दिखाने के लिये वह पत्थर का बना दिया गया है। देखिये तो दृष्टान्त कितना सुन्दर है। पवन में ज़रा-सा भी वेग आने पर दीप शिखा में भी अवश्य कम्पन होता है। इसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म काम क्रोधादि के विकार से आन्तरिक दीप-शिखा में अवश्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म कम्पन होता है। प्राणायाम द्वारा उसे स्थिर करने से आन्तरिक दीप-शिखा स्थिर हो जाती है। यही इस दृष्टान्त की सुन्दरता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

यत्र योगसेवया निरुद्धम् चित्तम् उपरमते यत्र च एव आत्मनि आत्मना आत्मानम् पश्यन् तुष्यति।

जहाँ योगाभ्यास द्वारा निरुद्ध चित्त मंजिल पर पहुँच गया ऐसा अनुभव करता है। जहाँ अपने अन्दर अपने आपको अथवा परमात्मा को देखता हुआ सन्तुष्ट होता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

यत् तत् आत्यन्तिकम् अतीन्द्रियम् बुद्धिग्राह्यम् सुखम् वेत्ति यत्र च एव स्थितः अयं तत्त्वतः न चलति।

वह जो एक रस रहने वाला, इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति पर बुद्धि-ग्राह्य सुख है, जिसको योगी जानता है और जिस सुख में स्थित होकर भी तत्त्वज्ञान से विचलित नहीं होता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥ २२॥

यम् लब्ध्वा च ततः अधिकं अपरम् लाभं न मन्यते यस्मिन् स्थितः गुरुणा अपि दुःखेन न विचाल्यते।

जिस सुख को पाकर योगी यह अनुभव करता है कि इससे बड़ा लाभ अब मुझे कोई नहीं मिल सकता, जिस सुख की अनुभूति से मनुष्य को भारी से भारी दुःख भी विचलित नहीं कर सकता।

तं विद्याद् दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥

तम् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितं विद्यात्, स योगः निर्विष्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः।

उस दुःख-स्पर्श-मात्र से वियोग का नाम योग है, इस प्रकार जाने। उस वैराग्यवान् चित्त वाले को उस योग का निश्चय से अभ्यास करना चाहिये।

संकल्पप्रभवान्कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा इन्द्रियग्रामं समन्ततः मनसा एव विनियम्य।

फल की कामना से उत्पन्न होने वाली सब कामनाओं को निःशेष रूप से छोड़कर तथा इन्द्रिय-समूह की विषय-वासना उत्पन्न होने से पहिले ही मन के द्वारा रोक कर।

शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

धृतिगृहीयता बुद्ध्या शनैः शनैः उपरमेत्। मनः आत्मसंस्थितं कृत्वा किंचित् अपि न चिन्तयेत्।

धैर्य से सम्भाली हुई बुद्धि से धीरे-धीरे शान्ति प्राप्त करे। मन को अपने वश में करके कुछ भी चिन्तन न करे अर्थात् शून्यता लावे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

अस्थिरम् चञ्चलम् मनः यतः यतः निश्चरति एतत् ततः ततः नियम्य आत्मनि एव वशम् नयेत्।

अपनी अस्थिरता के कारण यह चञ्चल मन जिधर निकल कर भागे उधर-उधर से इसे पकड़कर आत्मा ही में वश में लावे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

एनम् हि प्रशान्तमनसं शान्तरजसम् ब्रह्मभूतम् अकल्पषम् योगिनम् उत्तमम् सुखम् उपैति।

इस योगी का जब मन शान्त हो जाता है तथा सूर्य-प्रतिबिम्बित दर्पण के समान ब्रह्माभिमुख होने से वह दोष-रहित ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, उस समय फल-प्राप्ति के निमित्त इधर उधर दौड़ानेवाले रजो-गुण के शान्त हो जाने के कारण उसे उत्तम सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

एवं सदा आत्मानं युञ्जन् विगत-कल्मषः योगी सुखेन अत्यन्तं सुखम् ब्रह्मसंस्पर्शम् अश्नुते।

इस प्रकार अपने आपको योगाभ्यास में लगाता हुआ योगी कल्मष-रहित होकर बड़ी सुगमता से उस अत्यन्त सुख को पाता है, जिसे ब्रह्म—संस्पर्श कहते हैं। इन्द्रियों के विषयों से स्पर्श द्वारा उत्पन्न सुख इन्द्रिय-संस्पर्श-सुख कहलाता है, किन्तु आत्मा का परमात्मा के साथ अतीन्द्रिय सम्पर्क ब्रह्म-संस्पर्श कहलाता है। इसे योगी पूर्वोक्त विधि से सुख से पा लेता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः आत्मानं सर्वभूतस्थम् सर्वभूतानि च आत्मनि ईक्षते।

योग से अपने को वश में करने वाला योगी क्योंकि जीव-मात्र में समदर्शी हो जाता है, इसलिये प्राणि-मात्र की सेवा में अपने आपको

लगा हुआ और प्राणि-मात्र के दुःख को अपने में अनुभव करता है।

योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

यः सर्वत्र माम् पश्यति सर्वम् च मयि पश्यति तस्य अहम् न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।

हे अर्जुन! मैं तो मर जाऊँगा, किन्तु मैं प्राणि-मात्र की सेवा में लगा हूँ तथा इस युग के सब लोग मेरे आश्रित हैं। इस प्रकार जो भी प्राणि-मात्र की सेवा के लिये सर्वत्र पहुँचेगा तथा सब प्राणी जिस जिसके आश्रय होंगे उसने मेरे अनश्वर रूप को पा लिया। इस प्रकार से मेरा अनुकरण करने वालों के लिये मैं कभी नष्ट नहीं होऊँगा और वे मेरे लिये कभी नष्ट नहीं होंगे।

अगले श्लोक में यह आशय बिलकुल स्पष्ट हो गया है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

यः एकत्वम् आस्थितः सर्वभूतस्थितम् माम् भजति स योगी सर्वथा वर्तमानः अपि मयि वर्तते।

प्राणि-मात्र को सुख दुःख का अनुभव एक-सा होता है। इस एकता को जानकर जो मुझे प्राणि-मात्र की सेवा में उपस्थित समझकर मेरा भजन करता है अर्थात् मेरी अनुकरण रूप सच्ची सेवा करता है वह योगी किसी अवस्था में भी क्यों न हो वह मुझ पर आश्रित है क्योंकि अनुकरण ही भक्ति का सच्चा चिह्न है।

अगले श्लोक में तो भाव इतना स्पष्ट हो गया है कि सन्देह का स्थान ही नहीं रहा।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

हे अर्जुन! यः आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं यदि वा दुःखम् समं पश्यति स योगी परमः मतः।

हे अर्जुन! जो अपने आपको उपमान रखकर अर्थात् जैसा सुख दुःख मुझे होता है ऐसा ही सबको होता है यह समझकर समभाव से सबकी सेवा करता है उसे परम योगी माना गया है। मैं यही समदर्शी-भाव योगी कहलाता हूँ और शान्ति प्राप्त कर चुका हूँ, जो भी इस मार्ग से चलता है 'स मयि वर्तते' वह मुझ में रहता है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

हे मधुसूदन! यः अयम् साम्येन योगः त्वया प्रोक्तः अहम् (मनसः) चंचलत्वात् एतस्य स्थिराम् स्थितिम् न पश्यामि।

समलोष्टाश्मकाञ्चनः	(८)
समबुद्धिर्विशिष्यते	(९)
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्	(१३)
सर्वत्र समदर्शनः	(२९)
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति	(३२)

हे मधुसूदन! आपने ५ स्थलों पर सम शब्द द्वारा जिस साम्य-योग की ओर निर्देश किया है वह जमेगा कैसे, मन तो चञ्चल है। प्रति-क्षण इसकी राग-द्वेष की मात्रा बदलती रहती है। इस विषम मन से साम्य-योग किस प्रकार प्राप्त होगा। मुझे तो इस योग की स्थिति डाँवाडोल प्रतीत होती है।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

हे कृष्ण! मनः हि चंचलं बलवत् दृढम् प्रमाथि (च वर्त्तते) तस्य निग्रहम् अहम् वायोः इव सुदुष्करम् मन्ये।

हे कृष्ण! मन क्योंकि बड़ा चञ्चल है बड़ी ज़बरदस्त शक्ति से मनुष्य को बिलो डालता है, इसलिये उसका निग्रह मुझे ऐसा ही अति कठिन दीखता है, जैसे वायु का निग्रह।

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

हे महाबाहो! मनः असंशयम् दुर्निग्रहम् चलम्, तु हे कौन्तेय! अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते।

हे महाबाहो! मन बड़ा चंचल है, बड़ी कठिनता से वश में आता है, इसमें कोई संशय नहीं, किन्तु हे कौन्तेय! निरन्तर अभ्यास तथा बुराई के प्रति वैराग्य से यह अवश्य वश में आता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

असंयतात्मना योगः दुष्प्रापः इति मे मतिः वश्यात्मना यतता तु उपायतः अवाप्तुं शक्यः।

जिसने अपने मन का संयमन नहीं किया उसके लिये योग प्राप्त करना दुष्कर है। ऐसा मेरा विश्वास है, किन्तु जिसने कम से कम अपने आपको इतना वश में कर लिया हो कि वह सच्चे हृदय से प्राप्ति के लिये यत्न करे वह उपाय द्वारा योग-साधन को प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

हे कृष्ण! श्रद्धया उपेतः योगात् चलितमानसः अयतिः योगसंसिद्धिम अप्राप्य काम् गतिम् गच्छति?

हे कृष्ण! जो श्रद्धावान् हो किन्तु चञ्चलतावश उसका मन योग से विचलित हो जाय, ऐसा अजितेन्द्रिय मनुष्य योग-सिद्धि न पाकर किस गति को प्राप्त होता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

हे महाबाहो! कच्चित् ब्रह्मणः विमूढः अप्रतिष्ठः छिन्नाभ्रम् इव उभयविभ्रष्टः न नश्यति?

हे महाबाहो! कहीं प्रभु-भक्ति की राह में भटका हुआ बेठिकाना होकर फटे बादल के समान दोनों घरों से बेघर होकर नष्ट तो नहीं हो जाता।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

हे कृष्ण! एतत् मे संशयम् अशेषतः छेत्तुम् अर्हसि त्वद् अन्यः

अस्य संशयस्य छेत्ता न हि उपपद्यते।

हे कृष्ण! आपके लिये मेरे इस संशय को निःशेष रूप से काटना उचित है, आप से अतिरिक्त मुझे इस संशय का काटने वाला नहीं जँचता।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

हे पार्थ! तस्य न एव इह न अमुत्र विनाशः विद्यते, हे तात! कश्चित् कल्याणकृत् दुर्गतिम् न हि गच्छति।

हे पार्थ! न उसका इस लोक में नाश होता है, न परलोक में। हे तात! कल्याणमार्ग पर चलनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

योगभ्रष्टःपुण्यकृताम् लोकान् प्राप्य (तत्र) शाश्वतीः समाः उषित्वा शुचीनां श्रीमतां गेहे अभिजायते।

योगभ्रष्ट पुरुष (यदि इस जन्म में योगभ्रष्ट हो भी गया तो) मृत्यु के पश्चात् पुण्यात्माओं के लोक में जन्म लेकर निरन्तर चिरकाल तक वहाँ रहकर पवित्र श्रीसम्पन्न लोगों के घर में जन्म पाता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा धीमताम् योगिनां एव कुले भवति, यद ईदृशम् जन्म एतत् हि लोके दुर्लभतरम्।

अथवा वह (श्रीसम्पन्न से भी बढ़कर) धी-सम्पन्न योगियों के कुल में पैदा होता है, यह जो इस प्रकार का जन्म अर्थात् योगियों के कुल में जन्म है। यह उससे भी दुर्लभतर है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

हे कुरुनन्दन! तत्र (नवे जन्मनि) तम् पौर्वदेहिकम् बुद्धिसंयोगं लभते ततः च भूयः संसिद्धौ यतते।

हे कुरुनन्दन! उस नए दुर्लभतर जन्म को पाकर अपने पिछले

देह के निर्मल बुद्धि-संयोग को प्राप्त करता है, फिर और अधिक भाव से निष्काम-योग-प्राप्ति के लिये यत्न में लग जाता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

तेन एव पूर्वाभ्यासेन सः अवशः अपि ह्रियते। योगस्य जिज्ञासुः अपि शब्दब्रह्म अतिवर्तते।

अपने उस पूर्व जन्म के अभ्यास से वह बेबस होकर योग की ओर घसीटा जाता है और एक साधारण-सा जिज्ञासु होकर जो योग का ग्रन्थ पढ़ने बैठता है तो शब्द ब्रह्म को लाँघकर परब्रह्म से जा मिलता है अर्थात् शास्त्र के गूढ़ अर्थ उसे अनायासपूर्वक समझ में आने लगते हैं और अपने प्यारे ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

प्रयत्नाद् यतमानः तु संशुद्धकिल्विषः अनेक-जन्म-ससिद्धः योगी ततः पराम् गतिम् याति।

फिर यह आवश्यक नहीं कि उस जन्म में भी उसे सिद्धि-लाभ हो, फिर उससे भी उत्कृष्टतर जन्म मिला तो और फिर और अधिक यत्न करे, इस प्रकार लगातार प्रयत्न-पूर्वक श्रम करता हुआ अन्त को पूर्णतया दोषरहित होकर अनेक जन्मान्तरों के पश्चात् सिद्ध-पद लाभ करके परम गति को प्राप्त होता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

हे अर्जुन! योगी तपस्विभ्यः अधिकः ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः मतः योगी कर्मिभ्यः अपि च अधिकः तस्माद् योगी भव।

इस श्लोक का रहस्य समझने के लिये कर्मी और कर्मयोगी इन दो शब्दों में भेद समझना आवश्यक है, फिर सब निर्मल हो जायेगा। एक मनुष्य अध्यापक, सैनिक अथवा व्यापारी है। वह अध्यापन, न्याय-रक्षा अथवा व्यापार करते समय कर्मयोगी होता है। कर्मयोग के समय विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी उसका मन कर्त्तव्य-पथ से न डिगे, इसके लिये जो वह भजन कीर्तन जप याग अनुष्ठानादि कर्म करता है उस समय वह कर्मी होता है। सत्य आदि की महिमा स्वाध्याय

द्वारा जानता है, उस समय वह ज्ञानी होता है। अपने कर्त्तव्य-पालन में क्षमता उत्पन्न करने के लिये वह शीतोष्णादि-द्वन्द्व-सहन रूप तप करता है। इन सबकी परीक्षा अन्त में कर्मयोग में होती है। यदि वहाँ वह सत्य मार्ग से नहीं डिगा तो उसके ज्ञान, तप तथा कर्म सच्चे हैं अन्यथा नहीं।

इसलिये कहा—हे अर्जुन! योगी (=कर्मयोगी) का स्थान तपस्वियों से अधिक है, ज्ञानियों से भी अधिक माना गया है, कर्मियों से भी अधिक है। इसलिये तू योगी बन (और दुष्टों को मारकर क्षात्र कर्त्तव्य का पालन कर)।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

सर्वेषाम् योगिनाम् अपि यः श्रद्धावान् मद्गतेन अन्तरात्मना माम् भजते स मे युक्ततमः मतः।

हे अर्जुन! मैं सच्चे हृदय से उस प्रभु की शरण में जाता हूँ। जो मेरी तरह श्रद्धा से उस प्रभु का भजन करता है उसे तो मैं अपना भक्त मानता हूँ और जो केवल मेरे गीत गाते हैं उन्हें मैं खुशामदी मानता हूँ, जो मेरी भक्ति का अनुकरण करे, वह तो मेरा भक्त है और जो मेरे प्यारे प्रभु के गीत गाना छोड़कर मेरे गीत गाए वह मेरा क्या भक्त? इसलिये कहा कि योगियों में से भी जिस प्रकार मैं श्रद्धावान् होकर अन्तरात्मा से प्रभु का भजन करता हूँ, इसी प्रकार की अवस्था अपने अन्तरात्मा में उत्पन्न करके श्रद्धावान् प्रभु-भक्त उस पद को पाता है, जो पद मैंने पाया है। वह मेरी दृष्टि में युक्तम है।

इति षष्ठोऽध्यायः

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

हे पार्थ! मदाश्रयः योगं युञ्जन् मयि आसक्तमनाः यथा समग्रं माम् असंशयम् ज्ञास्यसि तत् शृणु।

हे अर्जुन! तू सदा कहता है (और भी मेरे बहुत से भक्त इसी प्रकार कहते हैं) कि हम तो परमात्मा पर-ब्रह्म आदि कुछ नहीं जानते, हम तो तेरे आश्रय हैं, तेरे ही सहारे योगाभ्यास तथा परमात्मा को जानेंगे। हे अर्जुन! भक्तों की इस प्रकार मुझ में आसक्ति अच्छी नहीं, क्योंकि आसक्ति से ही तो छूटना है, तू भी मुझ में आसक्त-मनाः है। इस आसक्ति से छूटने का उपाय मैं तुझे बताता हूँ, तू मेरे एक अंश को मत देख। मेरे समग्र रूप को देख। मुझ में तीन भाग हैं, एक तो यह मेरा देह, दूसरा जीवात्मा, तीसरा सबसे मुख्य परमात्मा जिसकी निष्काम-भक्ति द्वारा मैंने अपनी सत्ता उसमें समर्पित कर दी है। हे अर्जुन! मैं केवल दर्पण नहीं हूँ, मैं केवल दर्पण नहीं हूँ, मैं सूर्य-प्रतिबिम्बित दर्पण हूँ। तेरे तीन घटक हैं—देह+जीव+महाजीव। सो यदि तू मुझ में आसक्त है तो भक्ति द्वारा तू भी ब्रह्ममय हो जा। तब तूने मेरा समग्र रूप धारण किया। वह आसक्ति क्या जो मेरे अतिक्षुद्र अंश को तो पकड़ ले और मुख्य अंश को छोड़ दे। सो मेरा देहांश तो तेरे सारथि का काम कर रहा है। मेरा जीवांश अपने आपको परब्रह्म के समर्पण किये हुए है और वह परब्रह्म प्रति-क्षण मुझे अपना स्वरूप दिखा रहा है और बता रहा है कि मैं क्या हूँ। सो देह+जीव+महाजीव इनमें से जो महाजीव मुख्य है उसको भुलाकर मेरे अति तुच्छ अंश में आसक्ति की तो क्या किया? प्रेम करना है तो मेरे समग्र रूप से प्रेम कर वह समग्ररूप विस्तार से मैं तुझे बताऊँगा तब तेरे सब संशय दूर हो जावेंगे, सो जिस प्रकार यह होगा सो सून—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

अहं ते सविज्ञानम् इदम् ज्ञानं अशेषतः वक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा इह अन्यत् भूयः ज्ञातव्यम् न अवशिष्यते।

हे अर्जुन! स्थूल दृष्टि से उपदेश करता हुआ जो मैं दीखता हूँ उसको जानने से तुझे मेरा ज्ञान प्राप्त होगा, किन्तु मैं तो कुछ भी नहीं हूँ। उस सर्वशक्तिमान् परम कारुणिक प्रभु के हाथों में न्याय रक्षा के लिये निमित्त मात्र हूँ। मैं तो चित्र का एक छोटा-सा बिन्दु हूँ और वह चित्र का अनादि अनन्त विशाल भाग है। जब तू उसको तथा उसके चरणों में भक्ति-प्रणत मुझको देखेगा तब तुझे विज्ञान-सहित ज्ञान दीखेगा। आज मैं उस विज्ञान-सहित ज्ञान को निःशेष रूप से बताऊँगा, जिसे जानने के पश्चात् फिर कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहता।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

मनुष्याणाम् सहस्त्रेषु कश्चित् सिद्धये यतति, यततामपि सिद्धानाम् कश्चित् माम् तत्त्वतः वेत्ति।

हे अर्जुन! दुर्योधन, कंस, शिशुपाल, जरासंध सरीखे सैकड़ों मनुष्य तो मुझसे द्वेष करते हैं। मैं धर्मोद्धार तथा महाभारत-साम्राज्य स्थापना द्वारा धर्म-साम्राज्य-स्थापना रूप जिस महान् उद्देश्य को लेकर आया हूँ, उसे कुछ नहीं समझते। यहाँ तक कि समझने का यत्न भी नहीं करते। फिर जो यत्न करते हैं वे मुझ में आसक्त-मना होकर मेरे गीत गाने लगते हैं। मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह सब प्रभु-भक्ति के बल पर कर रहा हूँ, उसकी प्रेरणा से उसका निमित्त-मात्र बनकर कर रहा हूँ यह वे भूल जाते हैं। हे अर्जुन! जिन्होंने केवल मुझे जाना, उन्होंने मेरा कुछ नहीं जाना। जिन्होंने मेरे नेतृत्व के कारण रूप प्रभु-समर्पण को मेरे ईश्वर-प्राणिधान को जाना है उन्होंने ही मेरा तत्त्व जाना है। इसलिये कहता हूँ—सहस्त्रों मनुष्यों में कोई-कोई तो सिद्धि के लिए यत्न करता है और यत्न करने वालों में कोई मुझे तत्त्वतः प्रभु-सेवक के रूप में जानता है (अधिकांश तो मुझे ही प्रभु कहने लगते हैं)।

यह घटना महापुरुषों के साथ प्रायः घटित होती रहती है। गुरु गोविन्दसिंहजी महाराज के भक्त उन्हें परमेश्वर करने लगे तो उन्होंने

गर्ज कर कहा—

जो नर मोहे परमेश्वर उचरहिं, ते नर घोर नरक में पर हीं।
हम हैं परमपुरुष के दासा, देखन आए जगत तमाशा।

इसलिये जो महापुरुषों को प्रभु जानता है वह तत्त्वज्ञानी नहीं, तत्त्वज्ञानी वही है जो उन्हें प्रभु-भक्त तथा प्रभु-सेवक समझता है।

अब कृष्णचन्द्र महाराज के तीन घटक उन्हीं के शब्दों में सुनिये। प्रथम घटक—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

भूमिः आपः अनलः वायुः खम् मनः बुद्धिः अहंकारः इति च एव इयम् मे अष्टधा भिन्ना प्रकृतिः।

मेरे तीन घटकों से प्रथम जड़ प्रकृति है, जिसके ये आठ भाग हैं। भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँच भूत; छठा मन, सातवीं बुद्धि तथा आठवाँ अहंकार।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

हे महाबाहो! अपरा इयम्, इतः तु अन्यां मे जीवभूताम् पराम् प्रकृतिं विद्धि यया इदम् जगत् धार्यते।

हे महाबाहो! मेरे समग्र रूप को बनाने वाली दूसरी प्रकृति अर्थात् घटक यह है जो तेरे सामने प्रत्यक्ष है अर्थात् वह जीव जिसने पूर्व जन्म में विवस्वान् को योग का उपदेश दिया था और इस जन्म में विवस्वान् को योग का उपदेश दिया था और इस जन्म में तुझे उपदेश दे रहा हूँ। परन्तु अर्जुन! प्रभु-भक्तों का देह अथवा जीवन-कार्य तो कुछ भी नहीं वे सबसे बड़ा स्थान तो उस महाशक्ति को देते हैं, जिसके सामने वह अपने आपको तुच्छातितुच्छ मानते हैं। सो मैं तो 'अपरा इयम्' में आ गया। किन्तु मेरे समग्र रूप के घटकों में सबसे महत्त्वपूर्ण इस जीव से भी भिन्न एक परम प्रकृति है जो जीव-मात्र को जीवन देती है, जिसने इस सारे जगत् को धारण किया हुआ है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

सर्वाणि भूतानि एतद्योनीनि इति उपधारय (अधुना एषा परा प्रकृतिः कथयति) अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः तथा प्रलयः।

हे अर्जुन! सब प्राणि-मात्र का आदिम तथा अन्तिम घर यही है, यह निश्चय से जान। मेरे 'अहम्' का यह मुख्य भाग जो स्थूल-दर्शी लोगों से छिपा हुआ है तथा जिसे कोई-कोई तत्त्व-ज्ञानी ही जानते हैं (कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः) वह अपनी अपार अगम्य अगोचर शक्ति से मुझे सदा यह अनुभव कराता रहता है कि इस सम्पूर्ण जगत् का प्रभव-कारण तथा प्रलय-कारण मैं ही हूँ।

यदि कृष्ण अपने को परमात्मा कहते तो फिर 'एतद्योनीनि' के स्थान में 'मद्योनीनि' ऐसा कहते। अर्थात् सब भूत इससे पैदा हुए हैं, ऐसा न कहकर मुझ से पैदा हुए हैं, ऐसा कहते। सो यह 'एतत्' से 'अहम्' में बदलना अर्थात् पूर्वार्ध में 'एतद्योनीनि' और श्लोक के उत्तरार्ध में '**अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**' इस प्रकार कहना तभी ठीक समझ में आ सकता है, जब हम 'एषा परा प्रकृतिः कथयति' इतना अध्याहार कर लें।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

हे धनञ्जय! मत्तः परतरम् अन्यत् किंचित् न अस्ति, मयि इदम् सर्वम् सूत्रे मणिगणाः इव प्रोतम्।

हे धनञ्जय! मुझ से परे और कुछ नहीं है, यह सारा ब्रह्माण्ड मेरे अन्दर इस प्रकार गुँथा हुआ है, जैसे माला के, मणि के मालासूत्र में पिरोये रहते हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

हे कौन्तेय! अहम् अप्सु रसः अस्मि शशिसूर्ययोः प्रभा अस्मि सर्ववेदेषु प्रणवः अस्मि खे शब्दः अस्मि नृषु पौरुषम् अस्मि।

हे कौन्तेय! जल में रस मैं हूँ, चन्द्र सूर्य में प्रभा मैं हूँ, वेदों में प्रति-मन्त्र-रूप मणि को पिरोने वाला ओंकार मैं हूँ, आकाश में शब्द मैं हूँ, पुरुष में पौरुष भरने वाला मैं हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

अहं पृथिव्यां पुण्यः गन्धः अस्मि, विभावसौ च तेजः अस्मि, सर्वभूतेषु जीवनं अस्मि, तपस्विषु च तपः अस्मि।

हे अर्जुन! उत्तम शुभभावनोत्तेजक पुण्य सुगन्ध जिन्हें पुण्य-फल-रूप में मिलता है, सो मुझसे मिलता है। चाँद, सूर्य की शोभा तो हूँ ही, सूर्य तथा अग्नि में प्रताप भी मैं ही उत्पन्न करता हूँ। सब प्राणिमात्र की जीवन-सामग्री पहुँचाने वाला तथा सत्-पुरुषों में उत्साह भरने वाला मैं ही हूँ। तपस्वी लोग मेरे ही उपदेश तथा दृष्टान्त से तप करते हैं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

हे पार्थ! मां सर्वभूतानाम् सनातनम् बीजं विद्धि, अहम् बुद्धिमताम् बुद्धिः अस्मि तेजस्विनां तेजः अस्मि।

हे पार्थ! मैं प्राणि-मात्र का मूल निमित्त कारण हूँ अर्थात् प्रथम अयोनिज-रूप में उत्पन्न करता हूँ। बुद्धिमानों को आरम्भ में वेद के रूप में ज्ञान मैंने दिया। वेद का उपदेश पाकर ही तेजस्वी लोग तेजस्वी बने। इसलिये तेजस्वियों का तेज मैं हूँ।

बलं बलवतां चाऽहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

हे भरतर्षभ! अहम् बलवताम् कामरागविवर्जितम् बलम् अस्मि अहम् भूतेषु धर्माविरुद्धः कामः अस्मि।

हे भरतर्षभ अर्जुन! पशु-पक्षी अपने बल को काम-पूर्त्ति अथवा राग-पूर्त्ति में लगाते हैं। दीन-रक्षा के लिये बल-प्रयोग मैंने 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' (यजु० ३६।१८) आदि उपदेश देकर सिखाया तथा जिस प्रकार पशु-पक्षियों में माता, बहिन, पुत्री आदि का कोई विवेक नहीं होता, इसी प्रकार मनुष्य भी काम-पराधीन होकर पशुवत् व्यवहार करते, किन्तु मैंने ब्रह्मचर्य का उपदेश देकर मनुष्यों को धर्मयुक्त काम तथा धर्म-विरुद्ध काम इस दो प्रकार के कामों में विवेक करना सिखाया। इसलिये इस मानव-समाज में धर्म से अविरुद्ध काम मैं हूँ [श्रीकृष्णचन्द्र भी कह सकते हैं कि प्रभु का उपदेश प्रजा तक पहुँचाने वाला होने के कारण मैं भी वैसा ही हूँ (चीर्त्वा द्वादश वर्षाणि)]।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

ये चैव सात्त्विकाः राजसाः तामसाः च भावाः ते मत्त एव इति तान् विद्धि न तु अहम् तेषु, ते मयि।

'ये पदार्थ सात्त्विक हैं, राजस हैं या तामस है' यह विवेक तथा उन पदार्थों का क्या ठीक उपयोग है? यह सब ज्ञान मुझसे ही संसार को मिला है, ऐसा उनके सम्बन्ध में जानना, किन्तु मैं उनमें फँसा नहीं हूँ न उनके आश्रय में हूँ, वे मेरे वश में तथा मेरे आश्रय में हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाऽभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः मोहितम् इदम् सर्वम् जगत् एभ्यः परम अव्ययम् माम् न अभिजानाति।

सात्त्विक, राजस, तामस इन तीन गुणमय पदार्थों से मोहित यह सारा संसार इन सबसे परे अपरिवर्तनशील रूप से विद्यमान मुझे नहीं पहिचानता।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

एषा हि दैवी गुणमयी मम माया दुरत्यया, ये माम् एव प्रपद्यन्ते ते एताम् मायाम् तरन्ति।

हे अर्जुन! प्रभु ने मुझे यह उपदेश दिया है कि सूर्य, चन्द्रादि तथा अन्य नाना दिव्य-गुण-युक्त पदार्थों से बनी हुई यह जो मेरी त्रिगुणात्मक प्रकृति की ऐश्वर्यमयी माया अर्थात् रचना है इसका पार पाना अति कठिन है। जो इसके पीछे चलाने वाली शक्ति मैं हूँ, यह जानकर मेरी शरण में आते हैं, वे ही इस माया के पार उतरते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

मायया अपहृतज्ञाना आसुरम् भावमाश्रिताः दुष्कृतिनो मूढा नराधमाः माम् न प्रपद्यन्ते।

जो इस रचना रूप माया के फेर में पड़े रहते हैं और सामूहिक

कल्याणार्थ यज्ञ रूप कर्म न करके मेरा मेरा करने वाले आसुर भाव में पड़े हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति में जीवन बिताते हैं, जिनके मनुष्य जीवन का उद्देश्यभूत यज्ञभावनामय ज्ञान इस भौतिक संसार द्वारा अपहरण कर लिया जाता है, वे भाग्यहीन मूढ़ नराधम मेरी शरण में नहीं आते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

हे अर्जुन! चतुर्विधाः सुकृतिनः जनाः माम् भजन्ते। हे भरतर्षभ! (ते) आर्त्तः जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च।

हे अर्जुन! चार प्रकार के भाग्यशाली मेरा भजन करते हैं (यह उपदेश भगवान् ने मुझे दिया और मैं तुझे सुना रहा हूँ)। (देखो श्लोक ६ की व्याख्या)।

हे भरतर्षभ! वे चार इस प्रकार हैं—सबसे प्रथम आर्त्त अर्थात् दुःखी, फिर उस दुःख से छूटने का उपाय जानने की प्रबल इच्छा से वे जिज्ञासु हो जाते हैं, फिर जब सत्संग के प्रभाव से वे उन उपायों को जानकर अपने छूटने की सामग्री का संचय करते हैं वे अर्थार्थी हो जाते हैं और फिर जब सदुपाय द्वारा वे दुःख से छूटकर उस प्रभु की कृपा का साक्षात्कार कर लेते हैं, तब वे ज्ञानी हो जाते हैं। अन्त को जब वे यह जान लेते हैं कि सबका दुःख हमारा दुःख है, इसलिये सबको दुःख से छुड़ाना तथा सुख पहुँचाना प्रभु-भक्त का धर्म है, तब 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' (६.३२) देखने वाले परम योगी हो जाते हैं। इसलिये दुःख समस्त कल्याण का मूल है। जिन्हें न अपने दुःख का विचार है न पराये का, वे मूढ़ नराधम प्रभु की शरण में क्या जाएँगे, उन-सा दृष्टान्त अर्थात् अभागा कौन है?

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

तेषाम् नित्ययुक्तः एकभक्तिः ज्ञानी विशिष्यते अहम् हि ज्ञानिनः अत्यर्थम् प्रियः स च मम प्रियः।

हे अर्जुन! जो ज्ञानी है, वह परमात्मा के साक्षात्कार से उसकी सम्पूर्ण प्रजा के दुःख को अपना दुःख जानता है, इसलिये केवल उस समय दुःख से छूटने की जिज्ञासा नहीं होती जब वह स्वयम्

दुःखी होता है, किन्तु **'कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्ति-नाशनम्'** इस भावना के कारण प्राणि-मात्र के दुःख दूर करने तथा सुख प्रदान की प्रबल अभिलाषा से वह सदा ही प्रभु-स्मरण करता है। इसलिये वह नित्य युक्त है। उसकी भक्ति एक-रस-भक्ति होती है, उस भक्ति के कारण वह मुझे अत्यन्त प्रेम करता है। इसलिय मैं उसे प्रेम करता हूँ (हे अर्जुन! इसी प्रभु-प्रेम से मैं प्रभु का प्यारा बना हूँ, और तू भी अन्यायियों को मार कर प्रभु का प्यारा बन)।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

एते सर्वे एव उदाराः ज्ञानी तु मे आत्मा एव (इति) मे मतम्। स हि धर्मात्मा माम् एव अनुत्तमाम् गतिम् आस्थितः।

दुःखी, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी ये चारों ही उदार अर्थात् प्रकृतिमयी रचना से ऊपर उठने वाले हैं (उत्+आर=नाप के साथ ऊपर गति करने वाले), किन्तु ज्ञानी को तो साक्षात् मेरा अपना आप ही जानो, क्योंकि यह समझकर कि मुझसे बढ़कर कोई शरण देने वाला नहीं है, वह मुक्त पर ही आस्था करके रहता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

हे अर्जुन! वासुदेवः सर्वमिति ज्ञात्वा ज्ञानवान् बहूनां जन्मनाम् अन्ते माम् प्रपद्यते, स महात्मा सुदुर्लभः।

हे अर्जुन! देखो जिधर मैं जाता हूँ 'वासुदेवः कृष्णः' अर्थात् कृष्ण वसुदेव का पुत्र है यही आवाज़ सुनता हूँ, किन्तु यह तो भारी भूल है, घर-घर में बसने वाला वह प्रभु ही वसुदेव है और यह सारा ब्रह्माण्ड ही उसकी सन्तान है। इसलिये जो प्राणि-मात्र को वासुदेव अर्थात् परमात्मा की सन्तान समझता है, वह ज्ञानवान् जन्म-जन्मान्तर की साधना के पश्चात् इस अवस्था को पहुँचता है और इस प्रकार प्राणि-मात्र को प्रभु की सन्तान होने के नाते अपना भाई समझने वाला महात्मा अति दुर्लभ है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

तैः तैः कामैः हृतज्ञानाः तं तं नियमम् आस्थाय स्वया प्रकृत्या

नियताः अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते।

हे अर्जुन! नाना दिव्य गुणों के कारण सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, वायु, जल, विद्युत् आदि अनेक जड़ देवता इस संसार में हैं। नाना सांसारिक सुख भोगों की उन-उन कामनाओं से जिनका तत्त्वज्ञान अपहृत हो चुका, ऐसे अनेक भौतिक-विद्या के प्रेमी नाना प्रकार के तप और त्याग तथा विद्यानुराग से इन जड़ देवताओं के तत्त्वज्ञान में लगकर मुक्त चेतन को छोड़कर इन जड़ देवताओं की शरण में चले जाते हैं, क्योंकि उनकी विद्यानुराग की प्रकृति उन्हें इस ओर बाँधकर ले जाती है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

यो यः भक्तः यां यां तनुं श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति अहं तस्य तस्य ताम् एव अचलां श्रद्धाम् विदधामि।

जो जो भक्त जिस जिस जड़ देवता के तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिये उसके शरीर-विस्तार का अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वों का सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहते हैं और इस ज्ञानमयी पूजा में लगे रहते हैं वे जड़ प्रकृति के तत्त्व-ज्ञान रूपी लोकोपकारक कर्म में सहायक होते हैं, इसलिये मैं उनकी एकाग्रता-मय श्रद्धा की सिद्धि उन्हें प्रदान करता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

स तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनम् ईहते। ततः मया एव विहितान् तान् कामान् हि लभते।

तब उस एकाग्र श्रद्धा से वह विद्युत्, जल, वायु, लोह आदि उस जड़ देव की आराधना करने की चेष्टा करता है और नाना प्रकार के यन्त्रादि निर्माण करके मेरी कृपा से दिए हुए नाना सुख भोगों को प्राप्त होता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

तेषाम् अल्पमेधसाम् तत् फलम् तु अन्तवत् भवति देवयजः देवान् यान्ति मद्भक्ताः माम् अपि।

हे अर्जुन! प्रभु हमें उपदेश करते हैं कि अदूरदर्शी अल्पबुद्धि जड़ देवताओं के उपासकों का पाया हुआ वह फल बहुत शीघ्र अन्त को पहुँचने वाला होता है, जड़ देवों के उपासकों को जड़ देवताओं का ऐश्वर्य मिलता है और मेरे उपासक मुझे पा लेते हैं।

अर्थात् प्रभु-भजन बिना जो केवल विद्युत्-शास्त्र का अध्ययन करते हैं उन्हें नाना यन्त्र-कलाओं का सुख मिलता है, परन्तु वह सुख भी स्वार्थवृद्धि के कारण युद्ध का कारण बनकर अपना अन्त स्वयम् कर लेता है। जल देवता के वश में करने के अनेक नहरें बनकर अन्न तो खूब पैदा होता है, परन्तु अन्न-भोक्ताओं के कलह का कारण बनकर वह भी दुःख का हेतु हो जाता है, किन्तु जो इन जड़ देवताओं को प्रभु-पूजा का साधन बनाते हैं वे 'वासुदेवः सर्वम्' अर्थात् प्राणिमात्र घर-घर व्यापक प्रभु की सन्तान हैं। यह समझकर उस भौतिक ज्ञान को प्राणि-मात्र के कल्याण में लगाते हैं, इसलिये उनका फल अन्तवान् नहीं होता, क्योंकि वे अल्पमेधस् नहीं दूरदर्शी हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

अबुद्धयः मम अव्ययम् अनुत्तमम् परं भावम् अजानन्तः अव्यक्तम् माम् (जड-विवर्त-रूपेणावतारादिरूपेण वा) व्यक्तिम् आपन्नम् मन्यन्ते।

बुद्धिहीन लोग इस जड़ प्रकृति के रूप में अथवा अवतारादि रूप में मुझ अव्यक्त को व्यक्त रूप में आया हुआ मानते हैं, क्योंकि वे मेरे एकरस परम-शक्ति-मय उस तत्त्व को नहीं जानते जिससे उत्तम कोई नहीं (फिर किससे विवश होकर वह अवतार रूप में अथवा जड़ प्रकृति रूप में व्यक्त हो)। भाव यह है कि जो जड़ प्रकृति में रूप है, यह योग-सांख्योक्त अव्यक्त प्रकृति का ही व्यक्त रूप है, अखण्ड एकरस प्रभु तो व्यक्त रूप में आता ही नहीं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

योगमायासमावृतः अहम् सर्वस्य प्रकाशः न, अयम् मूढः लोकः

अजम् अव्ययम् माम् न अभिजानाति।

नाना भौतिक पदार्थों के संयोग वियोगमयी इस सृष्टि की रचना (योग-माया) से छिपा हुआ मैं हर किसी को प्रकाशित नहीं होता, यह मूढ़ संसार अजन्मा और एकरस मुझे नहीं पहिचानता। भाव यह कि जो रचना के रहस्यों में उलझे रहते हैं और रचयिता तक पहुँचते ही नहीं वे दुर्मेधस् तो नहीं किन्तु अल्पमेधस् अवश्य हैं, उन्हें विचारना चाहिये कि जब अल्पमेधस् होने पर भी इतना भौतिक ऐश्वर्य भोग मिलता है तो उस अखण्ड एकरस अजन्मा को पाने पर सर्वभूत दया होगी और वे पूर्णमेधस् लोग पूर्ण सुख पाएँगे।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

हे अर्जुन! अहं समतीतानि वर्त्तमानानि भविष्याणि च भूतानि वेद, माम् तु कश्चन न वेद।

हे अर्जुन! परमात्मा का मनुष्य-मात्र के प्रति क्या उपदेश है सो सुन—मैं भूतकाल में कितने प्रकार के प्राणी हुए हैं, वर्तमान में कितने प्रकार के प्राणी हैं और भविष्य में कितने प्रकार के प्राणी हो सकते हैं, यह जानता हूँ, किन्तु प्रकृति जड़ होने के कारण तथा जीव अल्पज्ञ होने के कारण मुझे पूर्ण रूप से कोई नहीं जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ २७॥

हे परंतप भारत! सर्वभूतानि इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्द्व-मोहेन सर्गे सम्मोहम् यान्ति।

हे शत्रुओं के तपाने वाले भारत अर्जुन! इस सृष्टि में इच्छा-द्वेष से उठने वाले शत्रु-मित्र प्रियाप्रिय आदि द्वन्द्वों के मोह के कारण प्राणि-मात्र मूढ़ावस्था में पड़े रहते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

येषाम् तु पुण्यकर्मणाम् जनानाम् पापम् अन्तगतम् भवति ते दढ़व्रताः द्वन्द्व-मोह-विनिर्मुक्ताः माम् भजन्ते।

हे अर्जुन! सुन प्रभु क्या कहते हैं—किन्तु जिन पुण्यकर्मा मनुष्यों

का पाप अन्त को पहुँच जाता है वे द्वन्द्वों में आसक्ति से छूटकर तथा लोक-कल्याणार्थ दृढ़व्रत होकर मेरी सेवा करते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

ये माम् आश्रित्य जरामरणमोक्षाय यतन्ति ते तत् कृत्स्नम् ब्रह्म अखिलम् अध्यात्मम् कर्म च विदुः।

हे अर्जुन! जो यौवन में आसक्त हैं उन्हें जरा दुःख देती है, जो जीवन में आसक्त हैं उन्हें मरण दुःख देता है, किन्तु जो यौवन तथा जीवन दोनों को प्रभु की प्रजा की निष्काम सेवा का साधन समझते हैं उन्हें जरामरण दोनों से उत्पन्न होने वाले दुःख से मोक्ष प्राप्त हो जाता है तथा प्रभु-प्रीत्यर्थ यौवन और जीवन दोनों का दान करने में प्रभु-सेवा-जन्य अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्द की प्राप्ति के लिये जो मेरे आश्रित होकर यत्न करते हैं, उन्होंने समझो मुमुक्षु के जानने योग्य जो ब्रह्मज्ञान है वह पूरा पा लिया और सम्पूर्ण अध्यात्म कर्म पा लिया।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

ये माम् साधिभूताधिदैवम् साधियज्ञम् च विदुः ते युक्तचेतसः माम् प्रयाणकाले अपि च विदुः।

ऊपर कह आये हैं कि 'माम् तु वेद न कश्चन' मुझे पूर्णरूप से कोी नहीं जानता, किन्तु मनुष्य के तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा इसमें है कि मरणकाल में भी उस आनन्दमय का ज्योतिर्मय प्रतिबिम्ब उसे आलोकित करता रहे, जिसके प्रकाश में मृत्यु भी भयकारण होने के स्थान में आनन्द-कारण बन सके वह ज्ञान क्या है, सो बताते हैं।

हे अर्जुन! जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ इन तीनों के सहित मुझे जानते हैं वे समाहित-चित्त लोग मृत्यु-काल में भी मुझे जान पाते हैं।

अब यह अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ क्या है? मरण काल में आनन्दमय गति कैसे प्राप्त होती है? यह अगले अध्याय में बताएँगे।

इति सप्तमोऽध्यायः

अथाष्टमोऽध्यायः

इस अध्याय में श्री वेदव्यासजी ने श्रीकृष्ण महाराज के मुख से अपने दर्शन–शास्त्र का स्वरूप दिखाया है। पहिले प्रश्नावली सुनिये—

अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

हे पुरुषोत्तम! तद् अध्यात्मम् किम्? कर्म किम्? अधिभूतम् किम् प्रोक्तम्? किम् च अधिदैवम् उच्यते?

हे पुरुषोत्तम कृष्ण! वह ब्रह्म क्या है? वह अध्यात्म क्या है? वह कर्म क्या है? वह अधिभूत क्या कहा गया है? और अधिदैव किसे कहा जाता है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

हे मधुसूदन! अस्मिन् देहे अत्र कः कथम् अधियज्ञः, प्रयाणकाले च नियतात्मभिः कथम् ज्ञेयः असि?

इस लोक में इस देह में कौन क्यों अधियज्ञ कहा गया है? तथा समाहितात्मा लोगों को तुझे मृत्यु काल में किस प्रकार जानना चाहिये।

श्रीकृष्ण इस प्रश्नाबली का उत्तर विवक्षाद्वैत द्वारा देते हैं। यहाँ हम विवक्षाद्वैत इस शब्द को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। देहली नगर में लाखों भवन हैं, उन सबकी पृथक् पृथक् सत्ता है। परन्तु जब हम देहली शब्द का उच्चारण करते हैं तो इन मकानों की पृथक् सत्ता का भास नहीं होता, सो देहली शब्द में सब मकान अद्वैत रूप में प्रकट किये गये हैं। इसी प्रकार जीवन+ईश्वर+प्रकृति इन तीनों की पृथक् सत्ता है और वह कल्पनागम्य है। कल्पनाजन्य नहीं। परन्तु इन तीनों को अभिन्न रूप से वर्णन करने के लिये—निमित्त कारण तथा उपादान कारण को एक रूप में कथन करने के लिये परब्रह्म यह नाम रख लिया गया है। इस पर कहते हैं—

श्री भगवानुवाच

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावः (च) अध्यात्मम् उच्यते, भूतभावोद्भवकरः विसर्गः (तु) कर्मसञ्ज्ञितः।

तीन अनादि जीव+ईश्वर+प्रकृति का समुदाय परम–अक्षर अथवा पर–ब्रह्म कहलाता है। इनमें से प्रकृति को निकाल दें, तो परम आत्मा तथा जीवात्मा इन दो का नाम अध्यात्म है। इनको अध्यात्म इसलिये कहते हैं कि इस संसार में नियन्त्रित गति तथा नियन्त्रक गति ये दोनों परमात्मा तथा जीवात्मा द्वारा होती हैं। जीव की गति परमात्मा से नियन्त्रित है परमात्मा की स्वनियन्त्रित। परन्तु सतत गति दोनों का सामान्य धर्म है, जो उन्हें गतिहीन जड़ जगत् से पृथक् करती है सो आत्मा का अर्थ है सतत गमन करने वाला (अत सातत्यगमने) प्रकृति में जितनी गति है वह या परमात्मा की प्रेरणा से अथवा जीवात्मा की गतिशीलता परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों का सामान्य धर्म है। इसलिये इन दोनों का जो सतत–गतिशीलता का यह स्वभाव है। इसी के कारण यह अध्यात्म अर्थात् प्रकृति पर अधिकार–पूर्वक सतत गति करने वाला संसार कहलाता है। अब भूत अर्थात् भूतकाल, भाव अर्थात् वर्तमान काल, उद्भव अर्थात् भविष्यत् काल इन तीनों को उत्पन्न करने वाले भगवान् के निष्काम जीव–कल्याणार्थ तथा जीव के सकाम निष्काम दोनों प्रकार के व्यवहार मिलकर कर्म कहलाते हैं। इस प्रकृति के विसर्ग का नाम कर्म है। यदि प्रकृति में कोई परिवर्तन न हो तो काल–गणना नहीं हो सकती। इसलिये हर काल–गणना किसी न किसी वर्तमान से पहिले और पीछे इस प्रकार होती है, यही कर्म है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

हे देहभृतो वर! क्षरो भावः अधिभूतम् पुरुषः च अधिदैवतम् अत्र देहे अहम् एव अधियज्ञः।

फिर प्रकृति जो क्षर अर्थात् परिवर्तनशील है, उसका नाम अधिभूत है। क्योंकि कोई प्राणी प्रकृति के साथ सम्बन्ध हुए बिना उत्पन्न नहीं

होता। इसलिये पञ्चभूतात्मक प्रवृत्ति अधिभूत कहलाती है। पुरुष अर्थात् परमात्मा सूर्यचन्द्रादि सब देवों तथा सृष्टि के आदि में वेदज्ञान द्वारा और समय-समय पर हर ज्ञान की खोज करने वाले को प्रकाश देने वाला होने के कारण मनुष्य समाज के देवताओं का भी अधिष्ठाता होने के कारण अधिदैवम् कहलाता है।

फिर मनुष्य के अन्तःकरण में धर्माऽधर्म की सूक्ष्म प्रेरणा देने वाला मनुष्य समाज का मार्गदर्शक जो परमात्मा का रूप है वह अधियज्ञ कहलाता है। जड़ सृष्टि का नियन्ता अधिदैवत तथा मनुष्य का मार्गदर्शक अधियज्ञ है, इसलिये कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि प्रभु का उद्देश्य यह है। इस मनुष्य के देह में नित्यानित्य का विवेक उत्पन्न करने वाला मैं अधियज्ञ कहलाता हूँ।

श्रीकृष्ण कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

अन्तकाले च माम् एव स्मरन् यः कलेवरम् मुक्त्वा प्रयाति स मद्भावं याति, अत्र संशयः नास्ति।

हे अर्जुन! मैंने अनेक जन्मों में अन्तकाल में प्रभु को स्मरण करके सद्गति पाई है जो मेरा अनुयायी मेरी इस भक्ति-भावना को अन्तकाल तक याद रखता है तथा उस समय भी मेरे आचरण को स्मरण करके मेरी तरह प्रभु-स्मरण करता है और इस प्रकार इस संसार से जाता है। वह मेरी तरह ही आनन्दमय अवस्था को प्राप्त होकर मेरे समान प्रभु-भक्ति-रसास्वादात्मकता तथा आनन्दमयता को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं। 'मद्भावं याति' अर्थात् जैसा मैं प्रभु-भक्त हूँ वैसा ही वह भी हो जाता है।

यदि श्रीकृष्ण का अभिप्राय यह न होता और मेरे स्मरण का अभिप्राय मेरे आचरण के स्मरण के स्थान में मेरा नाम-स्मरण अर्थात् कृष्ण-कृष्ण उच्चारण करना होता तो वे १३वें श्लोक (ओमित्येकाक्षरम् ब्रह्म) में ब्रह्म का स्मरण करने की बात न कहते, इसलिये मेरे स्मरण का अर्थ मेरे प्रभु-भक्त रूप का स्मरण यही लेना चाहिये।

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

हे कौन्तेय! यम् यम् वा अपि भावम् स्मरन् अन्ते कलेवरम् त्यजति सदा तद्भावभावितः तम् तम् एव (भावम्) एति।

हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रभु के निष्काम भक्त के रूप में मुझे स्मरण करके अन्तकाल में ओंकार द्वारा प्रभु-स्मरण करता हुआ मेरे समान प्रभु-भक्त होकर शरीर त्यागता है इसी प्रकार युद्धवीर, दानवीर, सत्यवीर, विद्यानुरागी, दीनवत्सल आदि जिस भाव वाले महापुरुष के आचरण का स्मरण करता है तथा उस भाव के स्मरण में प्राण त्यागता है वह क्योंकि जीवन भर सदा उसी भाव से भावित रहा है इसलिये उसी प्रकार का हो जाता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ७॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च मय्यर्पित-मनोबुद्धिः असंशयम् माम् एव एष्यसि।

इसलिये तू सदा मुझ को अनुसरणार्थ स्मरण कर और जिस प्रकार मैं क्षात्र धर्म का पालन करता हुआ सदा युद्ध करता आया हूँ, ऐसे तू भी युद्ध कर। जब तू अपना मन-बुद्धि सब मेरे प्रति गुरु-भाव से मेरे अर्पण कर देगा तो उसी निष्काम-व्रत-परायण अवस्था में पहुँच जायेगा, जिसमें मैं पहुँचा हूँ।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नाऽन्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थाऽनुचिन्तयन्॥ ८॥

हे पार्थ! अभ्यासयोग-युक्तेन न अन्यगामिना चेतसा अनुचिन्तयन् (पुरुषः) (अहमिव) परमम् दिव्यम् पुरुषम् याति।

हे पार्थ! जिस प्रकार मैं परम दिव्य पुरुष का अनन्यगामी चित्त से चिन्तन करता हूँ, इस प्रकार मेरे तथा मेरे सदृश अन्य भक्तों के अनु अर्थात् पीछे चलता हुआ जो प्रभु-चिन्तन करता है, वह हरएक प्रभु-भक्त मेरी तरह परम दिव्य पुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

यः पुराणम् कविम् अणोः अणीयांसम् अचिन्त्यरूपम् सर्वस्व धातारम् तमसः परस्तात् आदित्य-वर्णम् अनुशासितारम् अनुस्मरेत्।

इस श्लोक की व्याख्या में हम एक शब्द को और अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं। वह शब्द है अनुस्मरण। यह शब्द ७वें श्लोक में भी आया है और आगे १३वें श्लोक में भी आयेगा। मनुष्य को प्रभु-स्मरण का स्वतन्त्र सामर्थ्य चिरकाल के अभ्यास के पश्चात् प्राप्त होता है। पहिले जो उसे किसी न किसी कृष्ण सरीखे भक्त-राज तथा योगिराज के सत्संग में रहकर उसके पीछे चलते हुए स्मरण का अभ्यास करना पड़ता है। इसका नाम है, अनुस्मरण। सो जो भक्त सच्चे गुरु के सङ्ग में रहकर उस पुराण अर्थात् अनादि अनन्त पुरानों से भी पुराने, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, अचिन्त्यरूप अर्थात् जिसका रूप कल्पना में भी चिन्तन नहीं किया जा सकता, जो सब लोक-लोकान्तरों का धारण करने हारा है, जो आध्यात्मिक अन्धकार से परे इस प्रकार चमक रहा है, जिस प्रकार बाह्य जगत् के अन्धकार से परे सूर्य चमक रहा है। इस प्रकार सृष्टि के जन्म के पश्चात् वेद-ज्ञान द्वारा मनुष्य मात्र का शासन करने वाले उस परमात्मा का जीवन भर अनु (मन्त्रों की संगति में रहकर) स्मरण करता है।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

सः प्रयाणकाले योगबलेन अचलेन मनसा एव भक्त्या च युक्तः भ्रुवोः मध्ये सम्यक् प्राणम् आवेश्य तम् दिव्यम् परम् पुरुषम् उपैति।

वह जीवन भर प्रभु का अनुस्मरण करने वाला पुरुष मरण-काल में योग-बल से निश्चल मन वाला तथा भक्ति से युक्त होकर प्राण-शक्ति को भ्रूयुगल के बीच एकाग्र करके उस दिव्य परम पुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

यत् अक्षरम् वेदविदः वदन्ति, यत् वीतरागाः यतयः विशन्ति, यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यम् चरन्ति, तत् पदम् ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये।

जिस अक्षर को वेदवित् लोग जानते हैं, जिसके वाच्य परब्रह्म के ध्यान में वीतराग यति लोग रात-दिन प्रविष्ट रहते हैं। जिस ब्रह्म को पाने के लिये सब धर्मात्मा ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस अक्षर अर्थात् अनादि, अनन्त परब्रह्म के वाचक अक्षर को आज मैं अति

संक्षिप्त रूप में अर्थात् जिस संक्षिप्त शब्द में उसका सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कारक रूप एक ही शब्द में आ जाता है वह तुझे बताऊँगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनः च हृदि निरुध्य आत्मनः प्राणम् मूर्ध्नि आधाय योगधारणाम् आस्थितः।

शरीर के नवद्वारों को बन्द करके जिससे प्राण उनसे न निकले मन को हृदय में रोक कर अपने प्राणों को सिर में चढ़ाकर योग के धारणा नामक अंग का आश्रय लिये हुए।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

माम् अनुस्मरन् ओम् इति एकाक्षरम् ब्रह्म व्याहरन् यः देहम् त्यजन् प्रयाति स परमाम् गतिम् याति।

मेरे भक्तिमय जीवन को स्मरण करता हुआ तथा मेरे पीछे चलता हुआ ओम् इस एकाक्षर मन्त्र का उच्चारण करता हुआ जो देह को छोड़ता हुआ जाता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

हे पार्थ! यः अनन्यचेताः माम् नित्यशः सततम् स्मरति तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः अहम् सुलभः।

जो 'परमात्मा के अतिरिक्त और किसी में मेरा चित्त न जाय', ऐसा बनने के लिये परमात्मा के अनन्यचित्त भक्त के रूप में नित्य मुझे स्मरण करता है और मेरा अनुकरण करने के लिए नित्य योगाभ्यास करता है। ऐसे योगी के लिये कृष्ण पदवी पाना सुलभ है, वह मुझे पा जाता है अर्थात् अनन्यचित्त होकर प्रभु का स्मरण करना तथा नित्य योगाभ्यास करना ही मुझ तक पहुँचना है। ऐसे भक्त को लोग कहेंगे कि यह तो अपने गुरु कृष्ण के पद को पहुँच गया।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

माम् उपेत्य परमाम् संसिद्धिम् गताः महात्मानः पुनः दुःखालयम्

अशाश्वतम् जन्म न आप्नुवन्ति।

मेरी पदवी पाकर परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा लोग नाना दु:खों के घर इस चञ्चल जन्म को फिर प्राप्त नहीं होते अर्थात् फिर उनको दिव्य जन्म ही प्राप्त होता है (जन्म कर्म च मे दिव्यम् ४.९) और दिव्य जन्म में साम्य-योग सिद्ध हो जाने से लोक-सेवा में आने वाला बड़े से बड़ा दु:ख भी उनके लिये आनन्द का कारण होता है, इसीलिये वह दिव्य जन्म कहलाता है।

आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

हे अर्जुन! आब्रह्मभुवनात् लोका: पुनरावर्तिन:, हे कौन्तेय! माम् उपेत्य तु पुनर्जन्म न विद्यते।

हे अर्जुन! जो धन के लिये भगवान् को याद करते हैं वे मुख्यतया धन-लोक में रहते हैं और गौण रूप से ब्रह्म-लोक में। जो कीर्त्ति के लिये भगवान् को याद करते हैं वे मुख्यतया कीर्त्ति-लोक में रहते हैं, गौणतया ब्रह्म-लोक में। जब तक उनकी स्वार्थ-पूर्ति नहीं होती वे ब्रह्म-लोक में जाते हैं, स्वार्थ-पूर्ति होते ही वे धन-लोक, धान्य-लोक, ऐश्वर्य-लोक, सन्मान-लोक, कीर्ति-लोक आदि में फिर लौट आते हैं। वे परमात्मा को भूल जाते हैं और अशाश्वत जन्म रूपी दु:खालय उन्हें फिर फिर मिलता है। किन्तु यह अवस्था ब्रह्म-लोक से पहिले लोकों में रहने वालों की है। किन्तु हे कौन्तेय! मैं तो ब्रह्म के प्रति निष्काम प्रेम रखता हूँ। इसलिये सदा ब्रह्म-लोक में ही रहता हूँ। इस मेरी पदवी को पाकर फिर साधारण जन्म नहीं होता, दिव्य जन्म ही होता है।

हे अर्जुन! अब सुनो कि मेरा उपास्य ब्रह्म कितना महान् है।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदु:।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना:॥ १७॥

ते अहोरात्रविद: जना: यद् ब्रह्मण: अह: विदु: (तत्) सहस्रयुगपर्यन्तम् (ब्रह्मण:) रात्रिम् युगसहस्रान्ताम् (विदु:)।

वे ब्राह्म अहोरात्रादि सब अहोरात्रों की दिन-गणना जानने वाले लोग जिसे ब्रह्म का दिन जानते हैं, वह सहस्र-युग-पर्यन्त है तथा ब्रह्म-रात्रि की गणना भी सहस्र-युग-पर्यन्त है।

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवावयक्तसंज्ञके॥ १८॥

अहरागमे सर्वा: व्यक्तय: अव्यक्तात् प्रभवन्ति, रात्रायगमे तत्रैव अव्यक्तासञ्ज्ञके प्रलीयन्ते।

यह जो स्थूल मूर्त्तिमान् व्यक्त वस्तुएँ आज दीखती हैं ये ब्राह्म दिन के आरम्भ में अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होती हैं और ब्रह्मरात्रि अर्थात् प्रलय-काल में उसी प्रकृति की अवस्था में लीन हो जाती हैं, जिसका नाम योग-सांख्यकारों ने अव्यक्त रक्खा है।

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

हे पार्थ! स: एव अयम् अवश: भूतग्राम: भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे प्रलीयते अहरागमे प्रभवति च।

हे पार्थ! यह जड़ प्रकृति से बना भौतिक संसार जड़ होने के कारण बेबस है। स्वयम् कुछ नहीं कर सकता। यह बारम्बार हो होकर प्रलय-काल में प्रलीन हो जाता है और ब्रह्म-दिन के आगमन पर फिर प्रादुर्भूत होता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन:।
य: स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

तस्मात् अव्यक्तात् पर: तु अन्य: सनातन: अव्यक्त: भाव: य: स: सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।

अव्यक्त दो हैं एक नित्य अव्यक्त अर्थात् निराकार, दूसरा नैमित्तिक अव्यक्त। प्रकृति नैमित्तिक अव्यक्त है। उसका अत्यन्त सूक्ष्म आकार प्रलय-काल में सूक्ष्म अवस्था में पहुँच जाता है, किन्तु सृष्टि काल में वह व्यक्त हो जाता है। परन्तु इस अव्यक्त प्रकृति से परे एक सनातन अव्यक्त भाव अर्थात् नित्य निराकार सत्ता है जो कभी व्यक्त रूप को प्राप्त नहीं होती और जिसका इस ब्रह्माण्ड के प्रलयकाल में नाश होने पर भी नाश नहीं होता। हे अर्जुन! मैं उसका उपासक हूँ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु: परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

स: अक्षर: अव्यक्त: इति उक्त: तम् परमाम् गतिम् आहु:। यम्

प्राप्य न निवर्तन्ते तत् मे परमम् धाम।

हे अर्जुन! इस भौतिक नश्वर जगत् में किसी वस्तु को अपना धाम मानने वाले उस भौतिक वस्तु की प्राप्ति की आशा में कर्त्तव्य-पालन करते हैं और उसके नष्ट होने पर कर्त्तव्य-पालन से निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु मेरा धाम तो वह सनातन अव्यक्त ब्रह्म है जिसे पाकर फिर नित्यानन्दी अपने कर्त्तव्य-पालन से कभी निवृत्त नहीं होते। हे अर्जुन! मेरा वह परम धाम अर्थात् अन्तिम ध्येय है, मैं ब्रह्म को किसी भौतिक पदार्थ की प्राप्ति के लिये नहीं किन्तु उसके प्रेम से भजता हूँ। इसलिये मैं कर्त्तव्य-पथ से विमुख नहीं होता, तू भी इसी मार्ग पर चल और आततायियों को मार। प्रभु के सब भक्त इसी मार्ग पर चलते हैं, यही मेरा परमधाम है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लक्ष्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

हे पार्थ! यस्य अन्तःस्थानि भूतानि येन इदम् सर्वम् ततम् स परः पुरुषः तु अनन्यया भक्त्या लभ्यः।

हे पार्थ! वह जो प्रकृति की सत्ता से परे परम पुरुष है, जिसके अन्दर ये सब भूत-मात्र विचर रहे हैं और जिसने यह सारा ताना तना है, वह परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से अर्थात् उस ब्रह्म के सिवाय किसी पदार्थ को भी ध्येय न मानने वाली भक्ति से प्राप्त होता है और उस भक्ति का ही नाम ब्रह्मचर्य है, जिसका अनायास-लभ्य स्वाभाविक फल वीर्य-रक्षा है।

अब वह कौन-सा काल अर्थात् अवसर हो जिसे निरन्तर साधना द्वारा उत्पन्न किया जाय तथा जब मृत्यु आवे तो मनुष्य का कल्याण हो यह बताते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

हे भरतर्षभ! यत्र काले तु प्रयाताः योगिनः अनावृत्तिम् आवृत्तिम् च एव यान्ति तम् कालम् वक्ष्यामि।

हे भरतर्षभ! अब मैं तुझे वह अवसर बताऊँगा जिस अवसर पर इस संसार से प्रयाण करने से योगी लोग अनावृत्ति अर्थात् कर्त्तव्य-पालन से न हटने वाले मार्ग को जाते हैं और जिस अवसर पर मृत्यु

होने से वे आवृत्ति-मार्ग पर जाते हैं।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

अग्निः ज्योतिः अहः (तथा) शुक्लः (पक्षः) उत्तरायणम् षण्मासाः। तत्र प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति।

जिस प्रकार सृष्टि तथा प्रलय को ब्रह्म-दिन तथा ब्रह्म-रात्रि का नाम दिया है इसी प्रकार मनुष्य-जीवन को एक वर्ष मान लें तो यौवन तक उसका शुक्ल-पक्ष है तथा वृद्धावस्था के आरम्भ से रात्रि है तथा मृत्यु अमावास्या है। इसी प्रकार जब उसके हृदय में प्रभु का प्रेम तथा ज्ञान का प्रकाश हो वीर्य की ज्ञानाग्नि में आहुति होती हो वह दिन है तथा जब उसकी कामेच्छा अथवा शयनेच्छा जागती हो वह रात्रि है। जीवन भर में जितना समय उसने उन्नति की ओर जाने में लगाया हो वह उसका उत्+तर+अयन है तथा जब वह नानाविध भोगादि समृद्धि की ओर जाता हो वह सकाम जीवन का काल दक्षिणायन है। हो सकता है बहुत से मनुष्यों में उत्तरायण कभी आता ही न हो, परन्तु ये दो परिभाषायें हैं। इन्हें समझने पर ही यह श्लोक समझ में आएगा। अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को उठती है। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व अथवा अन्य भी कोई लोक-कल्याणकारी व्रत मनुष्य ने अपने जीवन में लिया है वह उसे परमात्मा से मिलाता है तथा उसके वीर्य की रक्षा करता है। इस प्रकार वीर्य (स्थूल शरीर का सूर्य) ज्ञान (सूक्ष्म शरीर का सूर्य) तथा परमात्मा (सारे ब्रह्माण्ड का सूर्य) इन तीनों की, ले जानी वाली आग अब किसी के हृदय में दहक रही हो, वह अग्नि-ज्योति का काल है। उसके अन्दर जब ज्ञान का प्रकाश हो वह दिन का समय है। युवावस्था वाली स्वास्थ्य-सम्पत्ति हो (चाहे आयु कुछ भी हो) वह शुक्ल-पक्ष है। मन में ऊँचे से ऊँचा और अधिक ऊँचा उठने का दृढ़ सङ्कल्प हो वह उत्तरायण काल है। इस काल में दूसरी ओर धूँआ यद्यपि आग की गरमी तथा वायु के वेग से ऊपर उठता है तथापि शनैः शनैः नीचे आकर किसी वस्तु पर जम जाता है। इस प्रकार आलस्यमयी तमो-मृत्यु को प्राप्त हुए ब्रह्मवित् जन ब्रह्म के पास जाते हैं। आराम-पसन्द मनोवृत्ति जो धक्का देने से बड़ी कठिनता से ऊपर उठे, वह

धूम है। ऐसी धूमिल ज्योति हो, अज्ञान की रात्रि हो, वृद्धावस्था की चेष्टाहीनता हो (चाहे आयु यौवन की ही हो) अर्थात् कृष्ण-पक्ष हो तथा नाना काम-भोग रूप समृद्धि की अभिलाषा बनी हो, वह दक्षिणायन है उसके लिये कहा—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

धूमः रात्रिः तथा कृष्णः (पक्षः) दक्षिणायनम् षण्मासाः तत्र (प्रयातः) योगी चान्द्रमसम् ज्योतिः प्राप्य निवर्तते।

धूमिल ज्योति हो रात्रि की वेला हो अर्थात् तमो-गुण का प्राबल्य हो कृष्ण-पक्ष अर्थात् मन्द स्वास्थ्य का बुढ़ापा हो तो सूर्यज्योति नहीं किन्तु चन्द्रज्योति प्राप्त हुई। उनकी प्रभु-भक्ति चन्द्रमा के समान कीर्त्ति, धन आदि अथवा सन्तान की कामना से प्रकाशित होतीहै। इसलिये इस दक्षिणायन काल में मृत्यु को प्राप्त योगी फिर कर्त्तव्य-पालन से विमुख होकर बारम्बार फिर फिर साधना करने के लिये विवश होता है (पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ६.४४) यह आवृत्ति-मार्ग है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥ २६॥

एते हि जगतः शाश्वते शुक्लकृष्णे गती मते एकया अनावृत्तिम् याति अन्यया पुनः आवर्त्तते।

यह जगत् गतिशील होने के कारण जगत् कहलाता है। इसकी निरन्तर वर्तमान शुक्ल तथा कृष्ण ये दो गतियाँ हैं। एक से अर्थात् शुक्ल गति से अनावृत्ति (कर्त्तव्य-पालन से न हटना) मार्ग को जाता है। एक से बारम्बार लौट पड़ता है।

नैते पार्थ सृती जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

हे पार्थ! एते सृती जानन् कश्चन योगी न मुह्यति तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः भव।

हे अर्जुन! इन दो मार्गों को जानता हुआ योगी कभी मूढ़ नहीं होता। उसकी निकृष्टतम अवस्था भी धूम की है। अग्नि के धक्के से ऊपर तो उठता है, गीली लकड़ी तो जलने का नाम नहीं लेती

और धूम उत्पन्न किये जाती है इसलिये तू सब कालों में योग-युक्त होकर रह। कभी तो दक्षिणायन से उत्तरायण में, दिन से रात्रि में, कृष्ण-पक्ष से शुक्ल-पक्ष में आ ही जायेगा। इस समय तो तेरे सामने सब से बड़ा योग अन्याय का नाश है, वह तो पूरा कर।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु दानेषु च एव यत् पुण्यफलम् प्रदिष्टम्, योगी इदं विदित्वा तत् सर्वम् अत्येति परम् आद्यम् स्थानम् च उपैति।

वेदों में, यज्ञ और तप करने से तथा विविध दानों से पुण्य का जो जो अलग अलग फल बताया है उस सबको योगी इस तत्त्व को जानकर उपेक्षा-पूर्वक छोड़ देता है तथा वेद के बताये हुए पर-ब्रह्म-प्राप्ति-रूप एक ही महायज्ञ को निष्काम रूप से करता है तो उन सब कर्मों के फल से जो बड़ा फल पाता है वह फल है—आत्मा की अपनी आद्य अर्थात् शुद्ध आसक्ति-बन्धनरहित अवस्था में आ जाना तब वह इस स्थान को पा लेता है।

भाव यह है कि वेदादिशास्त्रों में ब्रह्म-प्राप्ति से लेकर साधारण सकाम दान तक सब कर्मों के फलों का निर्देश किया है। सो सकाम कर्मों से जीव छोटे-छोटे नाना रूप धारण करता है, किन्तु रहता है बन्धन में। किन्तु निष्काम ब्रह्म-सेवा से योगी जीवात्मा के असली आसक्ति-मुक्त रूप में आ जाता है।

इत्यष्टमोऽध्यायः

अथ नवमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

इदं तु गुह्यतमम् विज्ञान-सहितम् ज्ञानम् अनसूयवे ते प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे।

हे अर्जुन! यद्यपि जीव परमार्थतः परमात्मा से भिन्न है क्योंकि कहाँ अनन्त सर्वज्ञ और कहाँ अल्पज्ञ परमाणु। परन्तु निष्काम कर्म के व्यवहार के लिये उस व्यावहारिक रूप में समर्पण द्वारा अभिन्नता उत्पन्न करके ही चलना पड़ता है। जब तक वह सर्वथा अपने 'अहम्' रूप अभिमान को निष्काम भक्ति द्वारा अपने स्वामी की सत्ता में लीन नहीं कर देता तब तक यह अभिमान किसी न किसी रूप में सिर उठाकर उसे मार्ग भ्रष्ट कर ही देता है। समर्पण द्वारा मनुष्य की जो यह अवस्था होती है इसे बिना अनुभव के समझना कठिन है, उलटा यदि इसका किसी द्वेष-युक्त मनुष्य से वर्णन किया जाय तो वह तो यही कहेगा कि कृष्ण आज घमण्ड में आकर अपने को परमात्मा मानने लगा, किन्तु हे अर्जुन! परमभक्त तुम तो मेरे परम प्रिय सखा हो तथा असूया से बिलकुल रहित हो। इसलिये मेरे आशय को बिलकुल ठीक समझोगे, इसलिये तुम्हें यह गुह्यतम विज्ञान-सहित ज्ञान (जिसका सप्तमाध्याय के द्वितीय श्लोक में भी वर्णन कर आये हैं) बताऊँगा। जिसे जानकर तुम हर प्रकार के अशुभ कर्म करते हुए भी दोष से मुक्त हो जाओगे और आज यह जो भीष्म, द्रोण सरीखे गुरुजनों के वध का अशुभ काम है यह मेरे प्रभु का काम है। एक दिन वह भी तो इन्हें मारेगा। उस दिन जिस प्रकार परमात्मा को दोष नहीं लगेगा ठीक उसी प्रकार उसकी वैदिक आज्ञानुसार क्षत्रिय व्रत का पालन करते हुए जब तुम इन अन्याशीलों को मारोगे तो तुम्हें कोई अशुभ नहीं लगेगा।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥ २॥

राजविद्या इदम् उत्तमम् पवित्रम् राजगुह्यम् अव्ययम् सुसुखम् कर्त्तुम् प्रत्यक्षावगमम् धर्म्यम्।

यह राजाओं की विद्या है क्योंकि ऐसे अशुभ कर्म नित्य दण्डनीति के अधिष्ठाता राजा को ही करने पड़ते हैं। इस रहस्य को समझ भी राजा ही सकते हैं। हर किसी को तो यह अधिकार नहीं कि वह अपने को परमात्मा का प्रतिनिधि समझकर किसी को प्राणदण्ड दे दे। जब प्रभु के उपदेशानुसार 'त्वां विशतो वृणतां राज्याय' इस आशीर्वाद के योग्य पात्र को सारी प्रजा यह अधिकार प्रदान करती है तब धरती पर परमात्मा के निग्रहानुग्रह के अधिकार राजा को प्राप्त होते हैं। संकट पड़ने पर सच्ची निष्काम भक्ति द्वारा प्रभु के सामने आत्म-समर्पण करने वाला राजा जब युद्ध में लाखों प्रजा के शत्रुओं के वध के लिये प्रयास करता है उस समय वह समझता है कि मैं यह कार्य सारी प्रजा के सुसुख अर्थात् उत्तम सुख तथा अव्यय सुख के करने के लिये कर रहा हूँ। इन दुष्टों के वध से प्रजा को जो सुख होगा वह इतना स्पष्ट प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है कि उसके लिये प्रमाणान्तर का प्रयोजन नहीं। यह आपाततः अधर्म दीखने वाला कर्म परिणाम में अत्यन्त धर्म-युक्त है। इसलिये यह राज-विद्या राजाओं का अत्यन्त पवित्र, अत्यन्त उत्तम रहस्य है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

हे परंतप! अस्यधर्मस्य अश्रद्दधानाः पुरुषाः माम् अप्राप्य मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते।

हे परंतप! वीर पुरुष मरने से नहीं डरता। इसलिये वह मृत्यु-रहित संसार में रहता है। मृत्यु उसके लिये उसी प्रकार असिद्ध है जिस प्रकार सपाद-सप्ताध्यायी की दृष्टि में अष्टाध्यायी के शेष तीन पाद। किन्तु भीरु पुरुष प्रतिक्षण मौत से बचना चाहता है। इसलिये वह मृत्यु-संसार में रहता है। हे अर्जुन! मैं १७ बार जरासंध से युद्ध में हार कर भागा परन्तु मृत्यु से डर कर नहीं, किन्तु न्याय की पराजय के भय से। यदि मृत्यु से डरता तो एक बार हार कर दूसरी बार युद्ध का नाम न लेता। अन्त को उसे भीम द्वारा मरवा कर मैंने ८४ राजाओं और ८४ राज्यों की प्रजा का दुःख दूर किया और यदि मैं

मृत्यु से डरता तो भीम के साथ तुम और मैं भी थे हम तीनों ही उसे न ललकारते उसके अखाड़े में प्रवेश न करते? उस समय मुझ में जो बल था जिसने १७ युद्धों में परास्त होने पर भी मेरा धैर्य नष्ट नहीं होने दिया, वह प्रभु के प्रति समर्पण-मयी भक्ति का ही तो बल था। परन्तु हे परन्तप! जिन्हें इस समर्पण-धर्म में श्रद्धा नहीं, वे पुरुष थोड़ा-सा मृत्यु-भय टलते ही फिर भोग-वासना में लीन हो जाते हैं, फिर मृत्युभय आता है, फिर टालते हैं। इस प्रकार बारम्बार लौट-लौटकर वे मृत्यु-संसार के मार्ग में प्रवृत्त होते हैं।

हे अर्जुन! समर्पणमयी-भक्ति से प्रभु की गोद में बैठा हुआ भक्त अपने अन्दर कितनी सत्ता अनुभव करने लगता है, यह आगे बताते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

अव्यक्तमूर्तिना मया इदं सर्वम् जगत् ततम्, सर्वभूतानि मत्स्थानि अहम् च तेषु न अवस्थितः।

हे प्रभु! तू ही तो अव्यक्त मूर्ति नहीं है। मैं जीव भी तो अव्यक्त मूर्ति हूँ। तेरी गोद में बैठकर मैंने यह सारा नया संसार का ताना तन दिया है, आज इस दुनिया के प्राणि-मात्र मेरे आश्रय हैं, किन्तु मैं उनके आश्रय नहीं हूँ।

किन्तु ज्यों ही भक्त को यह अभिमान आने लगता है तब वह स्मरण करता है—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

न च भूतानि मत्स्थानि मे ऐश्वरम् योगम् पश्य, मम आत्मा न भूतभृत् न च भूतस्थः किन्तु भूतभावनः।

वह याद करता है कि वास्तव में ये प्राणि-मात्र मेरे आश्रय नहीं हैं, देख तो सही यह जो अनन्त सत्ता की अनुभूति मुझे अपने अन्दर अनुभव होने लगी थी और जिसके कारण मुझ में मिथ्याभिमान उत्पन्न होने का भय था, यह तो मेरे ईश्वर का मेरे साथ योग है, उसी का बल है, वास्तव में न तो मैं भूतभृत् अर्थात् सृष्टि का धारण करने वाला हूँ न भूतस्थ अर्थात् प्राणि-मात्र में व्यापक हूँ। हाँ उस प्रभु

की कृपा से मेरा आत्मा भूतभावन अवश्य हो गया है। वेद के उपदेश तथा अपने आचरण से मैं उन्हें सन्मार्ग में चलने वाला बना सकता हूँ। तुझे भी बनाना चाहता हूँ। उठ तू सच्चा क्षत्रिय बन और पापियों को मार।

जब अभिमान का पर्दा दूर हो जाता है तो वह भक्त ऐसा अनुभव करता है कि प्रभु अब मुझे अपना रूप दिखा रहे हैं। वे क्या कह रहे हैं—

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

यथा सर्वत्रगः महान् वायुः नित्यं आकाशस्थितः तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि इति उपधारय।

जिस प्रकार यह महान् वायु सर्वत्र इधर से उधर जाता है, परन्तु आकाश इससे भी बड़ा है जिसमें यह विचरता है, इसी प्रकार सब भूत मात्र मुझ में स्थित है यह निश्चयपूर्वक जान।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

हे कौन्तेय! कल्पक्षये सर्वभूतानि मामिकाम् प्रकृतिम् यान्ति कल्पादौ अहम् पुनः तानि विसृजामि।

हे अर्जुन! प्रभु कहते हैं कि कल्प-क्षय में अर्थात् प्रलय-काल में सब भौतिक पदार्थ मेरी अवस्था को अर्थात् अव्यक्त अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, फिर सृष्टि के आरम्भ में उस अव्यक्त प्रकृति में से मैं फिर उनका विसर्जन करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

इमम् कृत्स्नम् प्रकृतेः वशात् अवशम् भूतग्रामम् (अहम्) स्वाम् प्रकृतिम् अवष्टभ्य पुनः पुनः विसृजामि।

जड़ प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण बेबस इस सारे ब्रह्माण्ड-समूह को मैं अपनी सामर्थ्य में धारण करके बारम्बार रचता हूँ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

हे धनञ्जय! तानि कर्माणि उदासीनवत् आसीनम् तेषु कर्मसु असक्तम् च माम् न निबध्नन्ति।

हे धनञ्जय! मैं किसी और से अपने कर्मों का फल पाने के लिये आसक्त होकर अपने लिये तो सृष्टि प्रलय करता नहीं। मैं तो उदासीन होकर जीवों के कल्याण के लिये यह रचना करता हूँ, इसलिये ये कर्म मुझे बाँधते नहीं।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

हे कौन्तेय! मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरम् सूयते अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते।

हे कौन्तेय! मैं तो अध्यक्ष अर्थात् निमित्त कारण हूँ, मेरी आज्ञा से यह जड़ प्रकृति चराचर संसार को जन्म देती है, इसीलिये यह संसार चक्कर काट रहा है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

मूढाः मम भूत-महेश्वरम् परम् भावम् अजानन्तः माम् मानुषीम तनुम् आश्रितम् (मत्वा) अवजानन्ति।

मेरे, सब ब्रह्माण्डों के महेश्वर इस रूप को न जानने के कारण मूढ पुरुष मुझे राम, कृष्ण, परशुराम आदि मनुष्य-शरीर-बद्ध मानकर मेरा अपमान करते हैं, भला जब मैं सब ब्रह्माण्डों का महेश्वर हूँ तो रावणादि के मारने के लिये मुझे मनुष्य शरीर धारण करने का क्या प्रयोजन? जब मैं कर्म-बन्धन में ही नहीं आता तो फिर शरीर-बन्धन कैसा?

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

मोधाशाः मोधकर्माणः मोधज्ञानाः विचेतसः च ते राक्षसीम् आसुरीम् च एव मोहिनीम् प्रकृतिम् श्रिताः।

वे लोग निष्फल आशा लगाए बैठे हैं कि बुरे काम तो हम करेंगे और मनुष्य शरीर के बन्धन में आऊँगा मैं। वे निष्फल कर्म करते हैं जो युद्ध करने के स्थान में मेरी कल्पित मनुष्य-मूर्त्तियों को पूजते

हैं। ये मूर्त्तियाँ उनकी रक्षा करेंगी? ऐसा निष्फल ज्ञान उन्हें पिटवाता है, परन्तु वे इतने विचेतस् अर्थात् जड़ हैं कि पिटते ही रहते हैं। उनमें दूसरों को ठगने की राक्षसी अथवा पराये भरोसे रहने की आसुरी प्रकृति बसी होती है, जो उन्हें मोह-जाल में फँसा देती है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

हे पार्थ! दैवीम् प्रकृतिम् आश्रिताः महात्मानः तु माम् अव्ययम् भूतादिम् ज्ञात्वा अनन्यमनसः भजन्ति।

इस श्लोक की व्याख्या से पूर्व दैवी प्रकृति क्या है, यह बताना आवश्यक है।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—'श्रमेण ह स्म वै तद्देवा जयन्ति यदेषाम् जयमास' १.६.१.३ (देवों को जो कुछ जीतना पड़ा, वह उन्होंने सदा श्रम से जीता) इसी प्रकार शतपथ में जब देवों का वर्णन आता है तो 'अर्चन्तः श्राम्यन्तः' ये दो शब्द इकट्ठे आते हैं। सो देवाधि-देव परमात्मा सब से बड़ा श्रमी है, जो निरन्तर निष्काम श्रम करता रहता है। सूर्यादि जड़ देवता उस की आज्ञा से दिन-रात श्रम करते हैं। बस यह लोक कल्याणकारी श्रम करना ही दैवी प्रकृति है। सो प्रभु कहते हैं कि मेरी श्रमशीलता को देखकर महात्मा लोग मेरी इस श्रमशीलता-रूप दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर अनन्य-मन होकर इस संसार के सदा एक-रस आदि आदर्श को सामने रख कर उसका भजन करते हैं अर्थात् उसकी निष्काम श्रमशीलता तक पहुँचने का प्रयास करते हैं।

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

सततम् माम् कीर्त्तयन्तः दृढव्रताः यतन्तः च मां नमस्यन्तः च नित्ययुक्ताः भक्त्या उपासते।

(और वे महात्मा लोग) नित्य मेरे गुणों का कीर्तन करते हुए तथा मेरे कीर्त्तित गुणों का अनुकरण करने के लिये लोक-कल्याणार्थ व्रत धारण करके दृढ़-व्रत होकर उसे पूरा करने के लिये यत्न करते हुए तथा उस यत्न की सफलता से उत्पन्न हो सकने वाले मद का प्राक्-प्रतीकार करने के लिये मुझे नमस्कार करते हुए नित्य दिन-

रात इसी प्रकार का जीवन बिताने में लगे हुए अपने इन शुभ आचरणों से मेरी उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाऽप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

अन्ये अपि च विश्वतोमुखम् माम् एकत्वेन पृथक्त्वेन च बहुधा यजन्तः उपासते।

इस संसार में जितने परमाणु हैं उतने ही मेरे मुख हैं, इसलिये मैं विश्वतोमुख हूँ। इनके अनन्त संयोग हैं। इनमें से किसी एक से मेरी कहानी सुनने के लिये पृथक्-पृथक् वैज्ञानिक एक मुख को अपनी जिज्ञासा का केन्द्र बना लेते हैं और एक परमाणु के दूसरे परमाणु से पृथक् करण द्वारा तथा पृथक् के एकीकरण द्वारा दोनों अवस्थाओँ में वे मुझे इस नाटक के एकमात्र सूत्रधार के रूप में देखते हैं। इनके द्वारा जो मेरी उपासना की जाती है उसका नाम ज्ञान-यज्ञ है, और वे ज्ञान-यज्ञ द्वारा मेरी उपासना करने वाले महात्मा नहीं महाज्ञानी कहलाते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

अहम् क्रतुः अहं यज्ञः अहम् स्वधा अहम् औषधम् अहम् मन्त्रः अहम् एव आज्यम् अहम् अग्निः अहम् हुतम्।

उस कीर्तन से यह लाभ होता है कि जैसे मैं क्रतु अर्थात् लोक-कल्याणार्थ कर्मशील हूँ, वैसे वे भी कर्मशील होने का दृढ़ व्रत धारण करके वैसा बनने का यत्न करते हैं। मैं यज्ञ अर्थात् संसार भर के बिखरे हुए परमाणुओं का संगतिकरण करता हूँ, वे भी इसी प्रकार संगठन करते हैं। मैं लोक-सेवा करने वालों को क्षीण होने पर अपनाकर उन को फिर ताज़ा करता हूँ, इसलिये मैं स्वधा हूँ, वे भी अपने पितरों की क्षीणावस्था में उनके पालनार्थ स्वधा देते हैं। मैं रोगियों का औषध हूँ, वे भी रोग-पीड़ितों में औषधवत् हैं। मैं उनमें नवजीवनसंचार करने वाला मन्त्र हूँ, वे भी प्रजा में नवजीवनसंचारक मन्त्र बनने का यत्न करते हैं। मैं घृत के समान सबसे स्नेह करता हूँ तथा अग्नि को प्रदीप्त करता हूँ, वे भी ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्वादि संकल्पाग्नि को प्रदीप्त करने वाले हैं। मैं सबका अग्रणी हूँ, इसलिये अग्नि हूँ,

वे भी शुभ कर्म स्वयम् सब से प्रथम करके आदर्श बनते हैं, इसलिये वे अग्नि हैं। मैंने ब्रह्माण्ड की सेवा में अपने आपको हवन किया है, इसलिये हुत हूँ, वे भी लोक-कल्याणार्थ अपने को आहुत करते हैं, इसलिये हुत हैं, यही कीर्तन का लाभ है।

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

अहम् अस्य जगतः पिता माता धाता पितामहः पवित्रम् वेद्यम् ओङ्कारः ऋक् साम यजुः एव च।

मैं इस जगत् का पिता हूँ, मेरी इस रूप में भक्ति करने वाले जगत् के पिता बनकर लोगों का पालन तथा चरित्र-निर्माण करते हैं। माता रूप में मुझे देखने वाले संसार के पीड़ित लोगों को माता का वात्सल्य प्रदान करते हैं। धाता के रूप में मुझे देखने वाले अन्न-वस्त्र-हीनों को अन्न देते हैं तथा अपनी सम्पत्ति की ठीक व्यवस्था करना सिखाते हैं। मुझे पितामह के रूप में देखने वाले गम्भीर भाव से क्षमाशील होकर भटकने वालों को मीठे रूप से मार्गदर्शन की नसीहत करते हैं। जो पवित्र भक्त ओङ्कार के रूप में मुझे देखते हैं, वे पवित्र संगीत द्वारा संसार को पवित्र बनाते हैं। मैं ऋक् हूँ, वे संसार को ज्ञान देकर ऋक् बनते हैं। मैं साम हूँ वे संसार को कला तथा प्रतिभान देकर साम बनते हैं। मैं यजुः हूँ, मुझे देखकर वे संसार को संगठन में बाँधकर यजुः बनते हैं।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

अहम् गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणम् सुहृत् प्रभवः प्रलयः स्थानम् निधानम् अव्ययम् बीजम्।

मैं गति का भण्डार हूँ, वे संसार को गति का विज्ञान देकर यातायात की तीव्र गति उत्पन्न करके गति बनते हैं। मैं भर्ता हूँ, वे गति द्वारा आवश्यक पदार्थों को प्रयोक्ताओं तक पहुँचा कर भर्ता बनते हैं। मैं संसार का प्रभु अर्थात् शासन-कर्त्ता हूँ, वे निष्पक्षपात तथा दूरदर्शी शासक बनते हैं, मैं साक्षी हूँ, वे यथार्थ बात बिना लाग लपेट के ठीक-ठीक नपे-तुले अन्यूनानतिरिक्त शब्दों में उपस्थित करके साक्षी बनते हैं। मैं संसार को बसाता हूँ, वे मनुष्यों को बसना सिखाते हैं।

मैं अशरणों का शरण हूँ, वे भी अशरण-शरण बनते हैं। मैं सुहृत् हूँ, वे दूसरों के विश्वास-पात्र बनकर मेरे सुहृत्-रूप की उपासना करते हैं। मैं प्रभव रूप हूँ, वे संसार को अन्न-वस्त्रादि बनाने की विद्या सिखाकर प्रभव-रूप धारण करते हैं। मैं प्रलय करता हूँ, वे लोक-कल्याण में बाधकतत्त्वों का प्रलय करके प्रलय रूप धारण करते हैं। मैं संसार के ठहरने का स्थान हूँ, वे भी अनुचित वेग से कार्य करने वालों को रुकना सिखाकर स्थान बनते हैं। मैं सम्पूर्ण रहस्यों का निधान हूँ, वे भी लोगों की वस्तुओं को तथा रहस्यों को सुरति रख के मेरे निधान रूप की उपासना करते हैं। मैं इस संसार का अविनाशी बीज हूँ, वे भी धैर्य गुण धारण करके यश की कामना को तथा तुरन्त फल पाने की आतुरता को जीत कर ऐसे शुभ संस्कार तथा शुभ समारम्भों का बीजारोपण करते हैं—जो सहस्रों वर्षों में फल देना आरम्भ करे तथा लाखों वर्ष तक फल दे।

तपाम्यहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

हे अर्जुन! अहम् तपामि वर्षम् निगृह्णामि उत्सृजामि च अहम् अमृतं च मृत्युः च एव अहम् सत् च असत्।

मैं ग्रीष्म ऋतु में गर्मी पैदा करता हूँ, वे भी अन्याय के विरुद्ध गर्मी पैदा करते हैं। मैं जल का संग्रह करता हूँ, वे भी शक्ति-संग्रह करते हैं। मैं मेघ को बरसाता हूँ, वे भी तप के पश्चात् संगृहीत शक्ति को लोक-कल्याणार्थ बरसाते हैं। मैं अमर हूँ, वे भी संसार के भीरु पुरुषों को जीवात्मा की अमरता का उपदेश करके प्रसुप्त अमृत बुद्धि को जागृत करते हैं। मैं निष्प्रयोजन पत्ते आदि की पतझड़ द्वारा मृत्यु करता हूँ, वे भी लोक-पीड़ा करने वाले निष्प्रयोजन प्राणियों के लिये मृत्यु बनते हैं (हे अर्जुन! आज तू भी बन)। मैं सत् रूप हूँ, सो मेरे इस रूप के उपासक हर शुभ कर्म में जहाँ देखो खड़े मिलते हैं, जिससे उन्हें पुकारना न पड़े। मैं प्रत्यक्ष इन्द्रियों से अगोचर हूँ, इसलिये इन अर्थों में मैं असत् हूँ, मेरे इस रूप के उपासक किसी शुभसमारम्भ में भी आगे नहीं आते, पर पीछे से चुपचाप हर शुभ समारम्भ की पूर्ण रूप से दृढ़ता के साथ सहायता करते हैं। हे अर्जुन! मैं इस प्रकार का हूँ, इसलिये इन गुणों के उपासक इन गुणों का

कीर्तन करते हैं और फिर दृढ़-व्रत होकर वैसा बनने का यत्न करते हैं (सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः १४)।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपाया यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ २०॥

सोमपाः पूतपापाः त्रैविद्याः माम् यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गतिम् प्रार्थयन्ते, ते पुण्यम् सुरेन्द्रलोकम् आसाद्य दिवि दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति।

इस लोक को समझने के लिये चार शब्दों का समझना आवश्यक है सोम, सुर, देव तथा यज्ञ। देव का अर्थ है देने वाला। इसलिये द्यौः का अर्थ है देवलोक अर्थात् देने वाले के कर्त्तव्य तथा अधिकारों के प्रयोग का क्षेत्र। एक परिवार में पिता, माता तथा बच्चे सब ही कुछ न कुछ देते हैं, उतने अंश में वे देव हैं। यहाँ तक कि गर्भस्थ बालक तथा सद्योजात शिशु भी माता, पिता को एक प्रकार की प्रभुल्लता का दान करते हैं, इतने अंश में वे देव हैं और उनके उस अंश को स्थिर रखने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह देवपूजा है। सो जहाँ एक से अधिक देव परस्पर इकट्ठे होकर एक-दूसरे की पूजा करते हैं और इस प्रकार एक छोटा-सा संगठन बनाते हैं बस इस संगठन का नाम यज्ञ है। संसार में सबसे छोटा किन्तु महत्त्व में कदाचित् सबसे बड़ा संगठन दम्पती है। इन पर ही संसार की सत्ता खड़ी है। वे दो व्यक्ति लोक-सेवा के लिये (चाहे वह सकाम सेवा हो चाहे निष्काम) जो पदार्थ उत्पन्न करते हैं, उस क्रिया का नाम सवन है। इसीलिये यदि दम्पती मिलकर लड़का उत्पन्न करते हैं तो वह सुत और यदि लड़की उत्पन्न करते हैं तो वह सुता कहलाती है। यह सवन के परिणाम सुत और सुता दोनों सोम हैं तथा इन्हें उत्पन्न करने वाले सुर हैं। सो एक छोटा-सा परिवार जिसमें दम्पती तथा एक बच्चा है छोटा-सा देवलोक अथवा सुरलोक है। जहाँ कोई सवन नहीं होता अर्थात् कोई उपयोगी माल तय्यार नहीं किया जाता, वह असुर-लोक तथा वहाँ के निवासी असुर कहलाते हैं। इसलिये ब्याज खाने वालों को शतपथ ब्राह्मण में असुर कहा गया है (शत० १३.४.३.११) यदि ब्याज खाने वाले असुर से सुर बनना चाहें तो अपने निश्चिन्त जीवन को किसी लोक-कल्याणकारी कर्म में लगा दें नहीं तो ब्याज खाने वाले, किराया खाने वाले आदि सब असुर

कहलायेंगे। ऐसे निकम्मों का स्वार्थमय संगठन असुर-यज्ञ कहलाता है। अब सवन कर्त्ता सुर लोग मिलकर जिसे अपना राजा बना लें, वह सुरेन्द्र हुआ।

सकाम कर्म करना भी पुण्य है यदि वह सोम-पान के लिये अर्थात् श्रम द्वारा कोई पदार्थ उत्पन्न करने के लिये अथवा उसके बदले में प्राप्त श्रमोपार्जित धन की प्राप्ति के लिये हो। और यदि वह निष्काम हो तब तो कहना ही क्या? सो इन श्रमोत्पादित पदार्थों अथवा इनके बदले में प्राप्त श्रमोपार्जित धन का उपभोग करने वाले सोमपाः कहलाते हैं। ये तीन प्रकार के हैं। नया-नया ज्ञान सवन करने वाले वैज्ञानिक अर्थात् ऋग्वेदी लोग, नई-नई रसमय कला-कृतियाँ उत्पन्न करने वाले सामवेदी लोग तथा नये-नये संगठन संचालन करके प्रजाहित करने वाले यजुर्वेदी लोग। ये त्रैविद्य लोग जब सच्चे श्रम से ज्ञान रस अथवा उपभोग्य सामग्री उत्पन्न करते हैं तो ये सोमपाः लोग पाप को धो देने वाला पदार्थ उत्पन्न करते हैं, ऐसे पूत-पाप लोग जीवन में नाना प्रकार की सुखमय गति की कामना से सवन करते हैं। अन्त को वे सुर से सुरेन्द्र तक बन जाते हैं। नहीं तो अपने छोटे से देवलोक में तो सुरेन्द्र बनते ही हैं, उस पुण्यमय दिव्य-लोक में पहुँच कर वे दिव्य देवभोगों को भोगते हैं (असुर-भोगों को नहीं)।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

ते तम् विशालम् स्वर्गलोकम् भुक्त्वा पुण्ये क्षीणे मर्त्यलोकम् विशन्ति एवम् कामकामाः त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्नाः गतागतम् लभन्ते।

यद्यपि इस प्रकार के त्रयी-धर्म-पालकों की सद्गति होती है और वे पुण्य-प्रताप से अर्थात् श्रमोपार्जित सोमरस-पान से विशाल स्वर्ग-लोक का अर्थात् सुखों का उपभोग करते हैं, परन्तु क्योंकि वे काम-काम हैं फल की इच्छा से सवन कर रहे हैं, इसलिये श्रम का मूल्य समाप्त होने पर फिर साधारण मनुष्यों की स्थिति में पहुँच जाते हैं, इसलिये उनका सुरलोक से मर्त्यलोक तथा मर्त्यलोक से सुरलोक में आना-जाना बना रहता है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

ये जनाः अनन्याः चिन्तयन्तः माम् पर्युपासते तेषाम् नित्याभियुक्तानाम् योगक्षेमम् अहम् वहामि।

किन्तु जो स्वर्गति अर्थात् भौतिक-सुख-भोग की अभिलाषा से नहीं, किन्तु मुझ से नित्य सम्बन्ध जोड़ने के लिये अनन्य होकर मेरा चिन्तन करते हैं तथा मेरे ही चारों ओर चक्कर काटते हैं, ऐसे नित्य निष्काम लोक-सेवा में लगे हुए पुरुषों के योगक्षेम की चिन्ता का भार मैं वहन करता हूँ, उन्हें नित्य आनन्द की प्राप्ति होती है तथा मैं उनका निवास हूँ, इसलिये योगक्षेम की चिन्ता ही क्या रही। किन्तु उनको भौतिक योगक्षेम भी मेरे द्वारा प्राप्त होता है, परन्तु शर्त यह है कि वे सवन करें, लोक-सेवा में नित्याभियुक्त हों तथा 'काम-कामाः' न हों।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

हे कौन्तेय! ये अपि अन्यदेवताभक्ताः श्रद्धया अन्विताः यजन्ते ते अपि अविधिपूर्वकम् माम् एव यजन्ते।

हे कौन्तेय! जो भी कीर्त्ति ऐश्वर्य आदि किसी अन्य देवता से भक्त बनकर श्रद्धायुक्त होकर उनकी पूजा करते हैं तथा उनके निमित्त संगठन करते हैं वे भी सीधे विधिपूर्वक न सही एक प्रकार से मेरी ही उपासना करते हैं, क्योंकि अन्त को उन्हें मेरी ही शरण में तो आना पड़ता है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनाऽतश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

अहं हि सर्वयज्ञानाम् भोक्ता च प्रभुः एव च, ये तु माम् तत्त्वेन न जानन्ति अतः ते च्यवन्ति।

सब यज्ञों का अन्तिम भोक्ता तो मैं ही हूँ, क्योंकि जिस भौतिक शक्ति की उपासना वे करते हैं उसका अन्तिम संचालक तो मैं ही हूँ। किन्तु वे मुझे तत्त्व से नहीं जानते, इसलिये वे मार्गच्युत हो जाते हैं। और जिनको मेरे दण्ड का भय तथा मेरी प्रीति का भरोसा नहीं रहता उन्हें वह भौतिक ऐश्वर्य जिसकी उन्होंने उपासना की है शत्रु बनकर खा जाता है। उदाहरण के लिये जिन्होंने तीव्रगति को अपनी आराध्य देवी माना, वे यदि तीव्र गति को मेरी पूजा का साधन बनाते

तो मेरी प्रजा को अर्थात् प्राणि–मात्र को अपना भाई समझकर उनकी सेवा करते और बदले में उनसे प्रेम पाते तो इस धरती पर सुख–शान्ति का राज्य होता। परन्तु जब मेरा भय तथा मेरी प्रीति न होने से वे काम–क्रोधादि विकारों के शिकार होते हैं तो तीव्रगति के साधन अति तीव्र गति से उनके विनाश का कारण बनते हैं। इस प्रकार वे मार्गच्युत होकर दुःख पाते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

देवव्रताः देवान् यान्ति पितृव्रताः पितन् यान्ति भूतेज्याः यान्ति मद्याजिनः अपि माम् यान्ति॥

विद्वानों की पूजा करने वाले विद्वानों की मण्डली में पहुँच जाते हैं। बड़े बूढ़ों के उपासक जब बूढ़े होते हैं तो उनके बच्चे उनके साथ वैसा ही सद्–व्यवहार करते हैं, जैसा उन्होंने अपने बूढ़ों से किया था। इसलिये उनकी अच्छे पितरों में गणना होने लगती है। भौतिक पदार्थों के तत्त्वज्ञान में लगे हुए भौतिक ऐश्वर्य भोगते हैं। किन्तु मेरे उपासक मेरी तरह आत्म–शक्ति–सम्पन्न होकर अपनी छोटी–सी दुनिया के ईश्वर हो जाते हैं। इस प्रकार उनकी गणना परमेश्वर में न सही आत्मेश्वर होकर ईश्वरों में तो हो ही जाती है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

यः मे भक्त्या (तत्–पात्रेभ्यः) पत्रम् पुष्पम् फलम् तोयम् प्रयच्छति तत् प्रयतात्मनः भक्त्युपहृतम् अहम् अश्नामि। अथवा यः भक्त्या मे पत्रम् पुण्यम् फलम् तोयम् प्रयच्छति। प्रयतात्मनः (तत् पात्रेभ्यः) भक्त्युपहृतम् अहम् तत् अश्नामि।

हे अर्जुन! मुझे न भूख लगती है, न प्यास। किन्तु जो कोई मुझ से प्रेम करता है वह मेरी प्रजा से अर्थात् प्राणि–मात्र से प्रेम करे। पत्रों के भूखे बकरी आदि प्राणियों को पत्ते दे, फूलों के पात्र उदास लोगों को अथवा पूजनीय लोगों को पुष्पदान करे। जो फल न मिलने के कारण रोगी रहते हों उन्हें फल दे। जिनके गाँव में कूआँ न हो उनका जल–कष्ट निवारण करे। उनका यह भक्तिपूर्वक दुःख–पीड़ित होने के कारण अथवा सत्–पात्र होने के कारण प्राप्त

किया दान मुझे पहुँचता है और मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

अथवा जो मेरी भक्ति से प्रेरित होकर पात्रों को पत्र, पुष्प, फल तथा जल देता है वह मैं स्वीकार करता हूँ। (इनमें से कोई भी अर्थ समझ लिया जाय दोनों ठीक हैं)।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

हे कौन्तेय! यत् करोषि यत् अश्नासि यत् जुहोषि यत् ददासि यत् तपस्यसि तत् मदर्पणं कुरुष्व।

हे कौन्तेय! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान करता है, जो तप करता है, सो सब मेरे अर्पण कर अर्थात् तू जो विद्या पढ़ाता है, सैनिक कार्य करता है, व्यापार करता है, मज़दूरी करता है वह सब सर्वभूत–हित में रत होकर मेरी आज्ञा पूरी करने के निमित्त कर और जो फल मिले उसे भी मेरी सेवा में लगा। उस प्रकार अभिमान तथा स्वार्थ दोनों से शून्य होकर तू पूर्ण आनन्द को प्राप्त होगा।

समर्पण का लाभ है आसक्ति से मोक्ष। सो कहा कि—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

एवं शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे संन्यास–योग–मुक्तात्मा विमुक्तः माम् उपैष्यसि।

जो प्रत्यक्ष रूप से शुभ दीखने वाला परन्तु परिणाम में लोक–पीडाकर कर्म है उसमें आसक्ति मनुष्य को उस कर्म से छूटने नहीं देती। उदाहरण के लिये पूजा–पाठ प्रत्यक्ष रूप से देखने में कितना सुन्दर पवित्र तथा मंगलकारी कर्म है, किन्तु किसी घर में आततायी आग लगा रहे हों तो उस समय पूजा छोड़कर उस दुष्ट का दमन करना चाहिये। किन्तु पूजापाठ में आसक्त मनुष्य सारे गाँव को भस्म होने देगा, परन्तु अपनी पूजा नहीं छोड़ेगा। इसके विपरीत आपाततः अशुभ प्रतीत होने वाले कर्म को करने की इच्छा न हो तो भी अपनी इच्छा को दबाकर वह करना चाहिये। किन्तु यह अशुभ–फल वाले कर्म के प्रति घृणा में आसक्ति अर्जुन को भीष्म, द्रोण आदि स्वजनों का वध करने से रोक रही है। किन्तु जो अपने आपको प्रभु के अर्पण

कर चुका वह प्रभु की प्रजा के कल्याणार्थ शुभफल कर्म में आसक्ति रूप कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायेगा। मुक्त क्या हो जायेगा, बन्धन स्वयम् उसे छोड़ जावेंगे। इसी प्रकार प्रभु-समर्पितात्मा मनुष्य भीष्म, द्रोण आदि के वध से नहीं घबरायेगा क्योंकि उसकी भुजाएँ उसकी तो रही नहीं। प्रभु की प्रजा को पीडा देने वाले चाहे भीष्म, द्रोण क्यों न हों, प्रभु की प्रजा पर होने वाले अन्याय के निवारणार्थ वह उन दुर्योधन के पक्षपातियों के वध करने में संकोच नहीं करेगा, चाहे ऊपरी दृष्टि से देखने में यह अशुभ-फल कर्म है। हे अर्जुन! इस प्रकार के कर्म-बन्धन जब तुझे छोड़ देंगे तब यथार्थ विवेक रूप संन्यास योग के प्रताप से तेरा आत्मा आसक्ति से मुक्त हो जायेगा और प्रभु कहते हैं कि उस समय तुझे कृष्ण क्या वसिष्ठादि की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। तू सीधा मेरी शरण में पहुँच जायेगा।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाऽप्यहम्॥ २९॥

अहम् सर्वभूतेषु समः, मे न द्वेष्यः अस्ति न प्रियः ये तु माम् भक्त्या भजन्ति ते मयि अहम् च अपि तेषु।

हे अर्जुन! प्रभु कहते हैं कि दुर्योधन, दुःशासन मेरे द्वेष के पात्र नहीं; कृष्ण, व्यास, वसिष्ठ, युधिष्ठिर, अर्जुन मेरे प्यारे नहीं। न कोई मेरा द्वेष्य है न प्रिय। मेरा तथा भक्तों का सम्बन्ध सूर्य तथा दर्पण का है। जो दर्पण सूर्य पर अर्थात् सूर्य के सामने हैं सूर्य उनमें हैं। इसी प्रकार मेरे जिन गुणों का भक्त कीर्तन करते हैं तथा उन गुणों को ग्रहण करने के लिये दृढ़-व्रत होकर करते हैं (९.१४) वे मुझ पर हैं और मैं उनमें हूँ। इसलिये कहा कि जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं वे मुझ पर (अवलम्बित) हैं और मैं उनमें (प्रतिबिम्बित अथवा अवतीर्ण) हूँ। उस प्रकार हर भक्त प्रभु के जिन गुणों को निरन्तर कीर्तन तथा दृढ़-व्रत-पूर्वक यत्न द्वारा अपने अन्दर उतार लेता है उतने अंश तक वह प्रभु का अवतार है।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

सुदुराचारः अपि अनन्यभाक् माम् भजते चेत् सः साधुः एव मन्तव्यः सः हि सम्यक् व्यवसितः।

दुराचारी से दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्यभाक् होकर मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही जानो, क्योंकि यद्यपि यह साधु बन तो नहीं गया किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि से साधु बनने की राह पर चल पड़ा है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

हे कौन्तेय (सः) क्षिप्रम् धर्मात्मा भवति शश्वत् शान्तिम निगच्छति, (त्वम्) प्रति जानीहि मे भक्तः न प्रणश्यति।

हे कौन्तेय! प्रभु कहते हैं कि वह दुराचारी पुरुष इस ठीक मार्ग पर दृढ़ निश्चय के साथ चलने के कारण शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है और धर्मात्मा बनने पर तुरन्त उसे शान्ति मिलती है। हे कौन्तेय! मैं प्रभु की ओर से घोषणा करता हूँ और तू भी यह प्रतिज्ञा सबसे कर सकता है कि प्रभु कहते हैं 'मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।'

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

हे पार्थ! माम् हि व्यपाश्रित्य ये अपि पापयोनयः स्त्रियः वैश्याः तथा शूद्राः स्युः ते अपि पराम् गतिम् यान्ति।

हे अर्जुन! मुझ पर, पूर्ण रूप से बुरे कर्मों से हटकर (=व्यप) आश्रय लेकर, पाप से कमाई करने वाली स्त्रियाँ अर्थात् वेश्या, पाप से कमाई करने वाले वैश्य अर्थात् चोर बाज़ारी, मांस-विक्रय, मद्य-विक्रय करने वाले आदि तथा पाप से कमाई करने वाले पशु-घातक आदि भी जो हैं, वे भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

किम् पुनः पुण्याः ब्राह्मणाः तथा भक्ताः राजर्षयः; अनित्यम् असुखम् इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्य।

जब वेश्या आदि भी परम गति पाते हैं फिर ब्राह्मण और ब्राह्मणों में भी पुण्यात्मा ब्राह्मण इसी प्रकार राजर्षि और राजर्षियों में भी प्रभु-भक्त राजर्षि उनका तो कहना ही क्या? इसलिये इस अनित्य क्षणिक सुख देने वाले संसार में जन्म लेकर नित्य तथा आनन्दमय मुझे भज अर्थात् मेरे गुणों को दृढ़-व्रत होकर यत्नपूर्वक अपने अन्दर धारण

कर (९.१४)।

अब भजन के प्रकार को और अधिक स्पष्ट करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

त्वम् मन्मनाः मद्–भक्तः मद्याजी भव माम् नमस्कुरु एवम् मत्परायणः आत्मानम् युक्त्वा माम् एव एष्यसि।

तू मन से निरन्तर मेरा मनन कर, मेरा भक्त बन मेरी प्रजा की सेवा के लिये संगठन कर। मुझे नमस्कार कर इस प्रकार अपने आपको कर्मयोग में लगाकर मत्–परायण होकर तु मुझे ही पा लेगा।

इति नवमोऽध्यायः

अथ दशमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

हे महाबाहो! प्रीयमाणाय ते हितकाम्यया अहम् यत् ते वक्ष्यामि तत् मे परमम् वचः शृणु।

हे महाबाहो! तू आज प्रभु के गुणगान सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है तथा प्रीतिपूर्वक मेरा प्रभु–भक्ति–सम्बन्ध में उपदेश सुन रहा है। आज तेरी हितकामना से मैं जो तुझे कहूँगा उस मेरे परम वचन को अर्थात् जिसमें परम पिता परमात्मा की महिमा का वर्णन है उस वचन को सुन।

भगवान् मेरे द्वारा तुझे कहते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

सुरगणाः मे प्रभवम् न विदुः महर्षयः (मे प्रभवम्) न विदुः, हि देवानाम् महर्षीणाम् च सर्वशः अहम् आदिः।

सुरगण अर्थात् सूर्य, वायु आदि जड़ देवता तथा विद्वान् ब्राह्मण–गण तथा महर्षि लोग (जिनके द्वारा मैंने संसार की प्रजा तक वेद–ज्ञान पहुँचाया है) मेरे प्रभव को नहीं जानते। क्योंकि सम्पूर्ण जड़ चेतन देवों तथा महर्षियों का आदि मूल तो सब प्रकार से मैं ही हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

यः माम् अजम् अनादिम् लोक–महेश्वरम् च वेत्ति सः मर्त्येषु असम्मूढः सर्वपापैः प्रमुच्यते।

जो मुझे अजन्मा अनादि तथा सब लोकों का, स्वामियों का भी स्वामी जानता है वह मनुष्यों में कभी धोखा खाने वाला नहीं है और

सब प्रकार के पाप उसे छोड़ जाते हैं अर्थात् सच्चे प्रभु-भक्त को प्रभुभय सदा बना रहता है, सो जहाँ प्रभु का राज्य हो वहाँ पाप-वासना किस प्रकार नज़दीक फटके?

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाऽभयमेव च॥४॥

बुद्धिः ज्ञानम् असंमोहः क्षमा सत्यम् दमः शमः सुखम् दुःखम् भवः अभावः भयम् च अभयम् एव च।

बुद्धि अर्थात् विवेक-शक्ति, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान, ज्ञान को संशय अथवा भ्रान्ति से बचाने के उपाय (असम्मोह), क्षमा, सत्य, दम अर्थात् प्रबल इच्छा शक्ति से विपरीतगामी इन्द्रियों का दमन, शम अर्थात् प्रभु-भजन में लीन करके इन्द्रियों में उपद्रव उत्पन्न ही न होने देना, सुख कैसे मिलता है, दुःख कैसे मिलता है, संसार की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, प्रलय कैसे होता है, किससे कब डरना और किससे कब नहीं डरना।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥५॥

अहिंसा समता तुष्टिः तपः दानम् यशः अयशः (एते) पृथाग्विधाः भूतानाम् भावाः मत्तः एव भवन्ति।

अहिंसा जो सब धर्मों का मूल है। समता=जितने अंश में सब समान हैं उतने अंश में सबको समान जानना, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश, इन सबका ज्ञान प्राणि-मात्र को मुझसे ही मिलता है (क्योंकि मैंने ही सबको वेद-ज्ञान सृष्टि के आदि में दिया है)।

अब अगले श्लोक में एक ऐसे रहस्य का उद्घाटन हुआ है, जिसको न जानने से सारे वैदिक साहित्य को कलुषित कर दिया गया है। वेद में बहुत से अपत्य प्रत्ययान्त प्रयोग हैं। किन्तु जब वेद अनादि-निधना वाणी है तो उसमें अपत्य प्रत्यय का प्रयोग कैसे? उदाहरण के लिये वेद में ब्राह्मण शब्द आया है। इसका अर्थ जो 'ब्रह्मणः अपत्यम् ब्राह्मणः' ऐसा करते हैं, उनसे पूछा जाय कि आदि ब्राह्मण किसके वीर्य से उत्पन्न हुआ, क्योंकि उससे पहिले तो कोई ब्राह्मण ब्राह्मणी का जोड़ा था ही नहीं। इसका उत्तर यही होगा कि वह ब्रह्म अर्थात् वेद का अपत्य है। जिसका प्रण है कि वेद के स्वाध्याय

तथा पढ़ाने में ऐसा लीन रहूँगा कि वेद का पतन न हो सके। वह वेद का अपत्य है। इसी प्रकार 'औशिज कक्षीवान्'='उशिज् का पुत्र कक्षीवान्' अनादि अनन्त वाणी में कैसे घुस गया? तो सोचने से पता लगा कि कक्षीवान् का अर्थ है कमर बस्ता। कक्षी उस पेटी का नाम है जो घोड़े की काठी कसने के लिये पेट पर बाँधी जाती है अथवा लम्बा सफर करने वाला मनुष्य कमर में लपेट लेता है। जिससे यह मुहावरा बना है कि 'कमर कस के तय्यार हो जाओ'। यह अवस्था मनुष्य में तब आती है जब वह किसी सङ्कल्प का उशिक् अर्थात् आशिक हो जाय। सो कक्षीवान् अर्थात् कमर बस्ता होना आशिक होने से उत्पन्न होता है। इसलिये कक्षीवान् उशिज् की सन्तान है अर्थात् यह गुण जिस मानसिक भाव से पैदा हुआ है वह पिता है तथा पैदा होने वाला गुण पुत्र है।

इसी प्रकार भृगु, अङ्गिरा, अगस्त्य आदि जो आदि ऋषि कहलाते हैं वे भगवान् के किसी गुण विशेष को—किसी भाव विशेष को मन में एकाग्र रूप से धारण करने वाले मनुष्यों का नाम है। उदाहरण के लिये अगस्त्य शब्द को ले लीजिये। अग का अर्थ है अगम्य अर्थात् अति कठिन काम जैसे पर्वत का ऐसा शिखर जहाँ पहुँचना अति कठिन हो। यहाँ तक कि असम्भव समझा जाता हो। इस प्रकार का कार्य करने के लिये जो संघात करे उस कार्य से चिपट कर अपने जैसे लोगों का एक संगठन कर ले उसका नाम अगस्त्य होगा। सो आदि सृष्टि में अगस्त्य आदि नाम जो सात ऋषियों को दिये गये वे उनको ही दिये गये जिनके मन में वह भाव घर कर गया था। जो कठिन पराक्रम का काम हो वही मैं अवश्य करके छोडूँगा। इस प्रकार का भाव जिसके मन में बसा था वह ऋषि अगस्त्य कहलाया, फिर उसके मानस तथा औरस दोनों प्रकार के पुत्रों की परम्परा चल पड़ी। इसी प्रकार 'मनुष्य' शब्द में भी 'मनु की सन्तान' यह अर्थ बताने वाला यत् प्रत्यय लगा हुआ है (मनोर्जातावञ्यतौ पुक् च। पा० ४।१।१६१)। तो क्या समझें कि सृष्टि के आदि में मनु नाम का एक मनुष्य उत्पन्न हुआ जिसकी सन्तान यह सारी मनुष्य जाति है। तब तो बड़ा अनर्थ होगा। सारी सृष्टि सगे भाई-बहनों की सन्तान होगी। दूसरी ओर श्लोक स्वयम् एक मनु होने का खण्डन कर रहा है। इसलिये श्लोक से ही पूछिये वह क्या कह रहा है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः॥ ६॥

सप्त पूर्वे महर्षयः तथा चत्वारः मनवः, येषाम् लोके इमाः प्रजाः (ते इमे) मानसाः मद्भावाः जाताः।

मानव सृष्टि के आदि काल के सात ऋषि तथा चार मनु ये वही थे जिन्होंने मेरे वेद-ज्ञान द्वारा दिये हुए किसी भाव को अपने मन में इस प्रकार धारण किया कि वह भाव उनके चरित्र का अङ्ग बनकर मूर्त्तिमान् हो उठा। फिर उसी गण के कारण उनका वह नाम हुआ जैसे पराक्रम के आचरण तथा उपदेश द्वारा अगस्त्य। इस गुण का वर्णन ऋ० १.१७९.४ सूक्त में किया गया है और इस गुण को जिस ऋषि ने अपने मन में धारण करके आचरण भी वैसा ही किया, वह वेद की इन ऋचाओं का मानस पुत्र हुआ। सो सात आदि महर्षि और चार मनु ये सब मेरे वेद-ज्ञान के दिये भावों से मानस पुत्र हुए और फिर उनसे आगे यह सन्तान चली।

श्रीकृष्ण प्रभु का उपदेश अर्जुन को सुनाते हैं—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

यः मम एताम् विभूतिम् योगं च तत्त्वतः वेत्ति तः अविकम्पेन योगेन युज्यते अत्र संशयः न।

एकाग्रता एक बड़ी शक्ति है, जिस विषय में मन एकाग्र कर लिया जाय उस पर मनुष्य का अधिकार तथा मनुष्य पर उस ध्येय का अधिकार होने से तन्मयता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये एकाग्रता ही पर्याप्त नहीं। ध्येय की पवित्रता भी आवश्यक है। यदि किसी अपवित्र वस्तु में मन एकाग्र कर लिया तब तो वह एकाग्रता सर्वनाश का कारण बनेगी। जैसे रावण की सीताजी के हरण में तथा भोगार्थ उद्योग में एकाग्रता उसके सर्वनाश का कारण हुई। रावण में एकाग्रता तो थी। ध्येय की पवित्रता न थी। इसलिये नाना विभूति-विभूषित, सब ऋषियों के ज्ञान का आदि स्रोत ही सर्वोत्तम ध्येय है। भगवान् वेदव्यास श्रीकृष्ण महाराज के सुख से प्रभु-महिमा इस प्रकार वर्णन करवाते हैं—

जो मेरी इस विभूति को तथा योग अर्थात् चित्त-वृत्ति की एकाग्रता

की विद्या को ठीक-ठीक जानता है, वह पवित्रतम ध्येय में चित्त एकाग्र करने के कारण अविकम्पयोग से संयुक्त हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि उसमें ध्यान की एकाग्रता भी है, ध्येय की पवित्रता भी।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

अहम् सर्वस्य प्रभवः सर्वम् मत्तः प्रवर्तते इति मत्वा बुधाः भावसमन्विताः माम् भजन्ते।

हे अर्जुन! प्रभु कहते हैं कि मैं सबका उत्पत्ति कारण हूँ तथा संसार का यह सारा चक्र मुझसे ही प्रवृत्ति प्राप्त करता है। यह समझकर बुद्धिमान् लोग (भौतिक पदार्थों को न पूजकर) मुझे भक्ति-भाव से भजते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मच्चित्ताः मदगतप्राणाः परस्परम बोधयन्तः माम् नित्यम् कथयन्तः च तुष्यन्ति च रमन्ति च।

उनका चित्त मुझ में लगा रहता है उनके प्राण मुझ में लगे रहते हैं। परस्पर एक-दूसरे को जगाते रहते हैं और (विषय वासनादि की कथा न करके) मेरी ही चर्चा नित्य करते हैं। इसी से उनके मन को कर्त्तव्य-पालन-जन्य तुष्टि मिलती है और इसी आनन्द में वे रमे रहते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

अहम् तेषाम् सतत-युक्तानाम् प्रीतिपूर्वकम् भजताम् तम् बुद्धियोगम् ददामि येन ते माम उपयान्ति।

उन इस प्रकार मेरी चर्चा में दिन रात लगे हुए तथा प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करने वाले भक्तों को, मैं ऐसी साक्षात्कार कर सकने वाली बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझ तक पहुँच जाते हैं।

तेषामेवाऽनुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

तेषाम् एव अनुकम्पार्थम् अहम् आत्मभावस्थः भास्वता ज्ञानदीपेन अज्ञानजम् तमः नाशयामि।

उन भक्तों पर कृपा करके ही मैं अपनी दयामय भावना में स्थित होकर जाज्वल्यमान ज्ञान रूपी दीपक से अज्ञान रूप अन्धकार को नष्ट करता हूँ तथा भक्तों से करवाता हूँ (जैसे श्रीकृष्ण द्वारा इस समय तेरा अज्ञान दूर कर रहा हूँ)। अर्जुन बोला—हे श्रीकृष्ण! आप सच्चे भक्त हैं हमारी यह पुकार प्रभु तक पहुँचा दीजिये।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥

भवान् परम् ब्रह्म परं धाम परमम् पवित्रम्। (त्वाम्) शाश्वतम् दिव्यम् आदिदेवम् अजम् विभुम् पुरुषम् (आहुः)।

हे परमात्मन्! तुम परम ब्रह्म हो, तुम ही सब भक्तों के परम विश्रान्ति-धाम हो। आप ही सब पवित्रों से परम पवित्र हो। आप ही को शाश्वत, दिव्य, आदि-देव, अजन्मा, विभु पुरुष (कहते हैं)।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

त्वाम् सर्वे ऋषयः तथा देवर्षिः नारदः, असितः देवलः, व्यासः (पूर्वोक्तविधम्) आहुः, (हे कृष्ण! सर्वे ऋषयः इत्थमाहुः) स्वयम् च (त्वम्) एव मे ब्रवीषि।

हे परमात्मन्! आपको सब ऋषि, देवर्षि नारद असित देवल तथा व्यास ऐसा ही कहते हैं, जैसा ऊपर कह आये हैं। और यह बात मुझे, हे श्रीकृष्ण! किसी साधारण मनुष्य ने नहीं बताई कि सब ऋषि भगवान् से इस प्रकार कहते हैं। यह बात आप सरीखा योगिराज स्वयम् मुझे बता रहा है।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

हे केशव! यत् माम् वदसि एतत् ऋतम् मन्ये (अतएव त्वदुपदेशम् अनुसृत्य अहम् भगवन्तम् परमपुरुषम् इत्यम् स्तौमि) हे भगवन्! ते व्यक्तिं हि न देवाः विदुः न दानवाः (विदुः)।

हे केशव! आप जो कुछ मुझे भगवत्स्तुति का प्रकार बता रहे हैं उस सबको मैं बिलकुल ठीक मानता हूँ। इसलिये आपके उपदेशानुसार मैं भगवान् की स्तुति इस प्रकार करता हूँ—'हे भगवन्! तेरे स्वरूप को न देव जानते हैं न दानव।'

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

हे पुरुषोत्तम! भूतभावन! भूतेश! देवदेव! जगत्पते! त्वम् स्वयम् एव आत्मना आत्मानम् वेत्थ।

हे पुरुषोत्तम! (यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः १५.१८) हे भूतभावन! भूतेश! देवदेव! जगत्पते! आप स्वयम् अपने द्वारा अपने आपको जानते हो।

परमेश्वर के इन गुण-गानों से तृप्त न होकर अर्जुन फिर कहता है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमाँस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

हे कृष्ण! आत्मविभूतयः दिव्याः, हि याभिः विभूतिभिः इमान् सर्वान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि, (ताः विभूतीः) वक्तुम् अर्हसि।

हे कृष्ण! योगविद्या से आत्मा को बहुत विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। वे दिव्य हैं अर्थात् देवाधिदेव भगवान् के चिन्तन से प्राप्त होती हैं। वे दिव्य हैं अर्थात् देवाधिदेव भगवान् के चिन्तन से प्राप्त होती हैं। आप कहते हैं कि मैंने भी वहीं से पाई हैं। आप पूर्ण योगी हैं, अपनी योग-विभूति के बल से जिस लोक लोकान्तर का ज्ञान प्राप्त करना चाहें तुरन्त वहाँ पहुँचकर जान लेते हैं। उन विभूतियों के भण्डार भगवन् का साक्षात् करने से ही वे विभूतियाँ आपको प्राप्त हुई हैं। सो जिन विभूतियों से यह विश्वव्यापी ज्ञान आपको प्राप्त हुआ है जिससे आप जिस लोक-लोकान्तर में पहुँचना चाहें पहुँच जाते हैं, उनका वर्णन पूर्ण रूप से मुझे भी करके बताइये।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

हे योगिन्! सदा त्वाम् परिचिन्तयन् अहम् (ताः त्वया अनुभूताः

भगवद्–विभूतीः) कथम् विद्याम्? (हे कृष्ण! तवाकृति–दर्शनेन तु त्वद्दर्शन–मात्र–जन्य आनन्दो लभ्यते अहन्तु ते योगविद्याम् त्वयाऽनुभूताश्च भगवद्–भक्तिमयान् भावान् ज्ञातुमिच्छामि अतः) मया केषु केषु भावेषु चिन्त्यः असि (इति कथय)।

हे योगिराज! आपका चिन्तन करता हुआ मैं (आपकी अनुभूत भगवद्–विभूतियों को) किस प्रकार जानू? (आपकी आकृति देखने से निस्सन्देह मुझे आनन्द मिलता है, वह आनन्द जो एक सच्चे भगवद्–भक्त गुरु के दर्शन से मिलता है, परन्तु मैं तो आपके हृदय के उन भगवद्–भक्ति–मय भावों को जानना चाहता हूँ इसलिये) मैं आपका किन–किन भावों में चिन्तन करूँ (यह मुझे बताइये)।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

हे जनार्दन! आत्मनः योगं विभूतिं च भूयः विस्तरेण कथय अमृतम् शृण्वतः हि मम तृप्तिः न।

हे जनार्दन! हे योगिराज! मैं तो आप पर ही मुग्ध हूँ, किन्तु आप ही कहते हैं कि 'दिव्या ह्यात्मविभूतयः' जीवात्मा को जो विभूतियाँ प्राप्त होती हैं वे देवाधिदेव भगवान् के चिन्तन से प्राप्त होती हैं, सो जिस योग से आपने वे विभूतियाँ पाई हैं वे योग–मार्ग तथा वे भगवद्–विभूतियाँ दोनों मुझे सविस्तार बताइये। आपके मुख से उस प्रभु के भक्ति भरे गुण–कीर्त्तन–रूप अमृत को पाकर मेरी तृप्ति नहीं होती (मैं तो आपके ही गुण सुनकर तथा देखकर मुग्ध था परन्तु आज तो उस के गुण–गान सुनने को मिल रहे हैं, जिसके गुण आप स्वयं गाते हैं, सो ऐसा अमृत प्रतिदिन कहाँ मिलेगा?)।

श्री भगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

हे कुरुश्रेष्ठ! हन्त दिव्या हि आत्मविभूतयः, (ताः आत्मविभूतीः) ते प्राधान्यतः कथयिष्यामि, मे विस्तरस्य अन्तः नास्ति।

हे कुरुश्रेष्ठ! अहा, तुमने सच कहा। आत्मा को जो विभूति मिलती है, वे दिव्य होती हैं अर्थात् देवाधिदेव भगवान् की कृपा से मिलती

हैं। पर यह तो देखो कि उस प्रभु की विभूतियों का तो अन्त ही नहीं, प्रभु की विभूतियों का तो कहना ही क्या! मैंने उस देवाधिदेव से जो विभूतियाँ पाई हैं उनका विस्तार करने लगूँ तो उनका ही अन्त नहीं। इसलिये वह प्रभु मुझे क्या उपदेश करता है मैं उसे किन विभूतियों में देखता हूँ यह उसके बड़े–बड़े प्रधान गुणों के आधार पर तुझे सुनाता हूँ। सुन वह क्या कहता है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

हे गुडाकेश! अहम् सर्वभूताशयस्थितः आत्मा अहम् भूतानाम् आदिः च मध्यम् च अन्तः एव च।

हे गुडाकेश! प्रभु मुझ से तथा मुझ सरीखे सब योगियों से कहते हैं और जब तू समाधिलीन होकर देखे तो तुझ से भी कहते हैं, 'मैं प्राणि–मात्र के अन्तःकरण में स्थित परमात्मा हूँ अथवा सारे ब्रह्माण्ड के अन्दर स्थित परमात्मा हूँ। इस सारी सृष्टि का आदि अर्थात् उत्पत्ति–कर्त्ता, मध्य अर्थात् स्थिति–कर्त्ता, अन्त अर्थात् प्रलय–कर्त्ता मैं ही हूँ।'

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

अहम् आदित्यानां विष्णुः ज्योतिषाम् अंशुमान् रविः, मरुताम् मरीचिः, नक्षत्राणां शशी अस्मि।

आदित्यों में मेरा स्थान विष्णु का अर्थात् सौर–मण्डल सहित सूर्य का है, वह ग्रह–उपग्रहों से युक्त होने के कारण यज्ञ–रूप अर्थात् संगठन रूप है और यदि चमकदार पदार्थों को पृथक्–पृथक् करके देखना हो तो मेरा स्थान पूर्ण–किरण–प्रसार–युक्त रवि का है, मरुतों में अर्थात् सूर्य के मेघ के साथ युद्ध करने वाले सैनिकों में मरीचि=पवन–वेग उत्पन्न करने वाली सूर्य–किरण हूँ, जिससे मेघ छिन्न–भिन्न हो जाता है, नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

वेदानाम् सामवेदः अस्मि, देवानाम् वासवः अस्मि, इन्द्रियाणां न मनः अस्मि, भूतानाम् चेतना अस्मि।

वेदों में सामवेद हूँ, जिसमें ज्ञान और रस दोनों हैं। देवों में वासव अर्थात् किसी राष्ट्र के सब वसुओं (निवासियों) द्वारा चुना हुआ राजा हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ तथा प्राणियों में चेतन हूँ अर्थात् जिस प्रकार वेदों में सामवेद श्रेष्ठ है, राजाओं में प्रजा द्वारा चुना हुआ राजा (त्वां विशो वृणतां राज्याय अथर्व० ३.४.२) श्रेष्ठ है, इन्द्रियों में मन श्रेष्ठ है, प्राणियों में प्राण देने वाली चेतना सार है, इसी प्रकार मैं ब्रह्माण्ड का सार हूँ, इसी प्रकार आगे सारे अध्याय में जानना।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

अहम् रुद्राणाम् च शंकरः अस्मिः, यक्षरक्षसाम् वित्तेशः अस्मि, वसूनाम् च पावकः अस्मि, शिखरिणाम् मेरुः अस्मि।

रुद्रों अर्थात् सैनिकों में मैं शान्ति-रक्षक सैनिक हूँ, गुटबन्दी करनेवालों तथा पहरेदारों में मैं राष्ट्र के धन का पहरेदार हूँ, वसुओं में मैं अग्नि हूँ, ऊँचे शिखर वाले पर्वतों में मैं मेरु हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

माम् च पुरोधसाम् मुख्यम् बृहस्पतिम् विद्धि, अहम् सेनानीनाम् स्कन्दः, सरसाम् सागरः (अस्मि)।

मुझे किसी राष्ट्र के पुरोहितों में बृहस्पति अर्थात् प्रधान पुरोहित राजगुरु जानो। सेनापतियों में मुझे स्कन्द अर्थात् तीव्र गति से प्रथम आक्रमण करके सदा विजय पानेवाला सेनापति जानो। तथा जलाशयों में सागर जानो।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

महर्षीणाम् अहम् भृगुः (अस्मि), गिराम् एकम् अक्षरम् (ओंकारः) अस्मि, यज्ञानां जपयज्ञः अस्मि, स्थावराणाम् हिमालयः अस्मि।

जो स्पष्टवादी होने के कारण तपे अंगारों के समान पाप को भून दे वह भृगु कहलाता है। सो महर्षियों में मैं भृगु हूँ। वाङ्मय में मैं एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ, यज्ञों में जप-यज्ञ हूँ (क्योंकि उसमें लम्बे चौड़े क्रिया-कलाप का बखेड़ा नहीं होता) तथा अति

विस्तार वाले स्थावरों में हिमालय हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

सर्ववृक्षाणाम् अश्वत्थः, देवर्षीणाम् च नारदः, गन्धर्वाणां चित्ररथः, सिद्धानाम् (च) कपिलः मुनिः (अस्मि)।

वृक्षों में मैं पीपल हूँ, देवर्षियों में मैं नारद हूँ, गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ, सिद्ध पुरुषों में मैं कपिल मुनि हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

माम् अश्वानाम् अमृतोद्भवम् उच्चैःश्रवसम् विद्धि, गजेन्द्राणाम् ऐरावतं विद्धि, नराणाम् च नराधिपम् विद्धि।

मुझे तू घोड़ों में अमृत नामक देश में उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा अर्थात् ऊँचे कानों वाला घोड़ा जान तथा हाथियों में इरावती के किनारे उत्पन्न होने वाला हाथी जान तथा मनुष्यों में राजा जान।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

अहम् आयुधानाम् वज्रम् अस्मि, धेनूनाम् कामधुक् अस्मि, प्रजनः कन्दर्पः च अस्मि, सर्पाणाम् वासुकिः अस्मि।

शस्त्रों में से मैं वज्र हूँ, गायों में मैं ऐसी गाय हूँ जिसे जब इच्छा हो दोह लें। कागों में मैं वह काम हूँ जो वीर्य को व्यर्थ नहीं जाने देता, किन्तु जिससे अवश्य सन्तान उत्पन्न होती है। सर्प जाति के पुरुषों में मैं वासुकि हूँ। ये सर्प जाति के लोग वे हैं जो भारत से धीरे-धीरे खिसकते-खिसकते पाताल देश की ओर चले गये और वहाँ जा बसे।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

अहम् नागानाम् अनन्तः च अस्मि, यादसाम् वरुणः अस्मि, पितृणाम् च अर्यमा अस्मि, संयमताम् अहम् यमः अस्मि।

सर्पवत् राष्ट्र-कोष को सम्भालने वालों में मैं अनन्त हूँ अर्थात् राष्ट्र-कोष को अनन्त बनाने वाला पुरुष हूँ। मानव प्रजा रूपी समुद्र

में छिपकर रहने वाले चोर आदि मगरमच्छ सदृश पुरुषों के लिये मैं वरुण अर्थात् पोलिस विभाग का अध्यक्ष हूँ पितरों में अर्यमा अर्थात् जो इस बात का ठीक-ठीक नाप बतावे कि कोई मनुष्य किसी पदार्थ का कहाँ तक स्वामी है (=दीवानी का न्यायाधीश) हूँ तथा संयमन-कर्त्ताओं में यम हूँ अर्थात् दुष्ट-दमन-न्यायाधीश (फौज़दारी का न्यायाधीश) हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

अहम् दैत्यानाम् च प्रह्लादः अस्मि, कलयताम् च कालः अस्मि, अहम् मृगाणाम् च मृगेन्द्रः पक्षिणाम् वैनतेयः अस्मि।

दैत्य अर्थात् प्रकृति के क्षणभंगुर दिति रूप से उत्पन्न होने वाले सुखों में से मैं प्रह्लाद अर्थात् सद्-गुण प्रभु-भजनादि-जन्य प्रकृष्ट ह्लाद अर्थात् उत्तम आनन्द हूँ, संसार को हाँकने वाली शक्तियों में से मैं काल हूँ, पशुओं में से मैं सिंह हूँ, पक्षियों में से मैं गरुड हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

अहम् पवताम् पवनः अस्मि, शस्त्रभृतां रामः अस्मि, झषाणाम् च मकरः अस्मि स्त्रोतसाम् जाह्नवी अस्मि।

सफ़ाई करने वालों में मैं पवन हूँ, शस्त्रधारियों में मैं परशुराम हूँ, मछलियों में मैं मगरमच्छ हूँ, प्रवाहशीलों में मैं गङ्गा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाऽहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

हे अर्जुन! अहम् सर्गानाम् आदिः अन्तः च मध्यम् च एव अस्मि विद्यानाम् अध्यात्म-विद्या अस्मि प्रवदताम् अहम् वादः अस्मि।

हे अर्जुन! मैं सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ। विद्याओं में मैं अध्यात्म विद्या हूँ, परस्पर शास्त्रार्थ करने वालों में मैं वाद हूँ जो तत्त्व-निर्णय के लिये होता है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अहम् अक्षराणाम् अकारः अस्मि, सामासिकस्य च द्वन्द्वः

अस्मि, अहम् एव अक्षयः कालः अस्मि अहम् विश्वतोमुखः धाता अस्मि।

अक्षरों में मैं अकार हूँ और द्वन्द्वों में समास (क्योंकि वह एकता का मूल होने से शक्ति का सूचक है **'द्वन्द्वं वै वीर्यम्'** शत०)। कालों में से मैं वह काल हूँ, जो कि सत् कार्य में लगाया हो व्यर्थ क्षीण न किया हो, पालन करने वालों में से मैं वह पालक हूँ जो चारों ओर ध्यान रक्खे।

मृत्युः सर्वहरश्चाऽहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

अहम् सर्वहरः मृत्यु च अस्मि, भविष्यताम् उद्भवः अस्मि, अहम् नारीणाम् कीर्त्तिः, श्रीः, वाक्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, क्षमा च (अस्मि)।

संहार-कर्त्ताओं में से मैं सबका संहार-कर्त्ता मृत्यु हूँ तथा भविष्यकालों में से मैं वह काल हूँ जो उन्नति की ओर ले जावे। स्त्री-लिङ्गों में कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

अहम् साम्नाम् बृहत् साम अस्मि, छन्दसाम् गायत्री अस्मि, अहम् मासानाम् मार्गशीर्षः अस्मि, ऋतूनाम् कुसुमाकरः अस्मि।

मैं साम में बृहत् साम हूँ, छन्दों में मैं गायत्री हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष तथा ऋतुओं में वसन्त हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

छलयताम् अहम् द्यूतम् अस्मि, तेजस्विनाम् अहम् तेजः अस्मि, अहम् सत्त्ववताम् जयः अस्मि, व्यवसायः अस्मि, सत्त्वम् अस्मि।

ठगने के उपायों में जिस प्रकार जूआ श्रेष्ठ है, इस प्रकार मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। तेजस्वियों का मैं तेज हूँ, जीवटदार लोगों में मैं जय हूँ, दृढ़ निश्चय हूँ, साक्षात् जीवट हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णीनाम् वासुदेवः अस्मि, पाण्डवानाम् धनञ्जयः अस्मि, अहम् मुनीनाम् अपि व्यासः अस्मि, कवीनाम् उशना कविः अस्मि।

जो स्थान कृष्ण का वृष्णि वंश में है, अर्जुन का पाण्डवों में है, व्यास का मुनियों में है और बुद्धिमानों में जो स्थान शुक्राचार्य का है, वह संसार में मेरा है।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दमयताम् दण्डः अस्मि, जिगीषताम् नीतिः अस्मि, गुह्यानाम् च एव मौनम् अस्मि, अहम् ज्ञानवताम् ज्ञानम् अस्मि।

दमन के उपायों में मैं दण्ड हूँ, विजय कामना वालों के लिये मैं नीति हूँ, मन्त्र गुप्त रखने के उपायों में मैं मौन हूँ, ज्ञान वालों में मैं ज्ञान हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

हे अर्जुन! यच्छापि सर्वभूतानाम् बीजम् तद् अहम् अस्मि, तत् चराचरम् भूतम् न अस्ति यत् मया विना स्यात्।

हे अर्जुन! इस संसार के प्राणि-मात्र का जो बीज है वह मैं हूँ। इस चराचर ब्रह्माण्ड में कोई पदार्थ नहीं जो मुझ से रहित हो।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तः वभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

हे परन्तप! मम दिव्यानां विभूतीनाम् अन्तः न अस्ति, एषः तु विभूतेः विस्तरः मया उद्देशतः प्रोक्तः।

हे परंतप अर्जुन! मैंने उस परम देव प्रभु से जिन विभूतियों का ज्ञान प्राप्त किया है उनका अन्त नहीं। उन विभूतियों के विस्तार का यह तो नाम-निर्देश-मात्र मैंने किया है। अधिक क्या कहूँ, उस प्रभु ने जो कहा उसको सूत्र में कहना हो तो इस प्रकार है।

मद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ ४१॥

यत् यत् सत्त्वम् विभूतिमत्, श्रीमत्, ऊर्जितम् एव वा तत् तत् एव त्वम् मम तेजोऽशसंभवम् अवगच्छ।

इस संसार में जो भी पदार्थ सत्त्वशाली विभूतियों वाला, श्री वाला अथवा बल वाला है उस उसको तू मेरे तेज के एक अंश से तेज प्राप्त करने वाला जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाऽर्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अथवा हे अर्जुन! एतेन बहुना ज्ञातेन तव किम्, अहम् इदम् कृत्स्नम् जगत् एकांशेन विष्टभ्य स्थितः।

अथवा हे अर्जुन! अब तुम इस विषय में बहुत जानकर क्या लोगे? इस सारे संसार को मैं अपनी शक्ति के एक छोटे से अंश से सम्भाल कर बैठा हूँ।

इति दशमोऽध्यायः

अथैकादशोऽध्याय:

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

यत् अध्यात्म-संज्ञितम् परमम् गुह्यम् वचः त्वया मदनुग्रहाय उक्तम्, तेन मम अयम् मोहः विगतः।

हे कृष्ण! अध्यात्म-शास्त्र नामक यह जो परम गुप्त वचन आपने मुझ पर कृपा करने के लिये कहा है इससे मेरा यह मोह ('ये मेरे स्वजन हैं') दूर हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

हे कमलपत्राक्ष! मया त्वत्तः भूतानां भवाप्ययौ हि विस्तरशः श्रुतौ, अव्ययम् माहात्म्यम् अपि च श्रुतम्।

हे कमल की पांखुरी के सदृश आँख वाले श्रीकृष्णजी! मैंने आपसे इस ब्रह्माण्ड के प्राणि-मात्र की उत्पत्ति और प्रलय दोनों सुने तथा प्रभु का माहात्म्य भी सुना।

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

हे परमेश्वर! यथा त्वम् आत्मानम् आत्थ, एतद् एवम् हे पुरुषोत्तम! ते ऐश्वरम् रूपम् द्रष्टुम् इच्छामि।

हे श्रीकृष्ण! आपके द्वारा मैं प्रभु का वर्णित आत्म-स्वरूप सुनकर प्रभु से कहता हूँ कि हे परमेश्वर! आपने जैसा अपना स्वरूप कहा है, वह ठीक वैसा ही है।

हे पुरुषोत्तम कृष्ण महाराज! अब मैं आपकी कृपा से ईश्वर का वह रूप देखना चाहता हूँ जो आपका (भक्ति-भाजन) है।

यहाँ 'ते रूपम्' में भक्त-भजनीय रूप अर्थात् प्रीति-भाजन प्रीति-कर्तृ रूप सम्बन्ध में षष्ठी है। जैसे कोई किसी से पूछे तेरा भोजन क्या है? दूसरा उत्तर दे खीर, तीसरा कहे मेरा लड्डू, चौथा कहे कि मेरा भोजन तो मालपुआ है, तो उसका अर्थ 'मेरा प्यारा भोजन' ऐसा

होता है, इसी प्रकार तेरा रूप ऐश्वर्य रूप का अर्थ इस प्रकार हुआ। सो महापुरुष भगवान् के प्रलयकारी रूप का ऐश्वर्य के अभिमान तथा संसार में आसक्ति ने निवारणार्थ सदा स्मरण किया करते हैं। इसी रूप के स्मरण के कारण कृष्णचन्द्रजी महाराज इतने निरभिमान थे कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उन्होंने अपने हाथों से ब्राह्मणों के चरण धुलाए। इसीलिये यह ईश्वर का रूप, कृष्णजी का प्यारा रूप कहलाया। सो अर्जुन यह प्रार्थना करता है कि प्रभु के जिस रूप का आप सदा स्मरण करते हैं उस अपने (प्यारे) रूप को मुझे भी दिखाइये।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

हे प्रभो! हे योगेश्वर! यदि तत् मया द्रष्टुम् शक्यम् मन्यते ततः त्वम् अव्ययम् आत्मानम् मे दर्शय।

हे प्रभो! हे योगिराज! यदि किसी प्रकार वह मैं भी देख सकता हूँ ऐसा समझते हो तो उस अव्यय आत्मा परमेश्वर के काल के भी काल रूप को मुझे दिखाइये। यद्यपि प्रलय का दृश्य साधारण रूप से सब सबको दिखा सकते हैं, किन्तु उसका प्रत्यक्षवत् साक्षात्कार कोई कृष्ण सरीखा परमात्मा का भक्त योगी ही करा सकता है।

श्रीकृष्ण बोले—

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

हे पार्थ! शतशः अथ सहस्रशः नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च मे (प्रीतिपात्राणि) रूपाणि पश्य।

हे अर्जुन! मैं जिस विराट् पुरुष का दर्शन नित्य करता हूँ वह एक रूप तो नहीं, परन्तु नाना रूपों का समुदाय है। इसमें रहने वाले सैकड़ों और हज़ारों नाना प्रकार, नाना रंग तथा आकृति वाले उन मेरे (प्रीति-भाजन, अभिमान तथा आसक्ति निवारक) रूपों को देख।

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

हे भारत! आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ, मरुतः तथा बहूनि अदृष्टपूर्वाणि आश्चर्याणि पश्य।

हे भारत! आदित्यों को देख, वसुओं को देख, रुद्रों को देख, आज तक जो तूने कभी नहीं देखे, ऐसे बहुत से अचम्भे देख।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

हे गुडाकेश! अद्य इह मम (भक्ति-भाजने) देहे सचराचरम् कृत्स्नम् जगत् यत् च अन्यत् द्रष्टुम् इच्छसि तत् पश्य।

हे गुडाकेश! इस मेरे भक्ति-भाजन देह में सारे चराचर जगत् को इकट्ठा एक स्थान में देख ले तथा और भी जो कुछ देखना हो तुझे विराट् पुरुष के इस मेरे सदा स्मरणीय देह में देखने को मिल जायेगा।

न तु मां शक्ष्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

(स परमपुरुषः इत्यमाह) माम् अनेन स्वचक्षुषा एव द्रष्टुम् तु न शक्यसे (अतएव) ते दिव्यम् चक्षुः ददामि, मे ऐश्वरम् योगम् पश्य।

हे अर्जुन! विराट् पुरुष कहते हैं कि इस रूप में तुम मुझे इस स्थूल चक्षु से नहीं देख सकते। इसलिये मैं श्रीकृष्ण तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ। मेरे ईश्वर-प्रदत्त योग को देख अथवा ईश्वर-दर्शन-साधन योग को देख।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

हे राजन्! ततः महायोगेश्वरः हरिः एवम् उक्त्या पार्थाय ऐश्वरम् वरमम् रूपम् दर्शयामास।

हे राजन्! धृतराष्ट्र! तब महायोगिराज श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहकर अर्जुन को ईश्वर का परम रूप अर्थात् विराट् रूप दिखाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥

अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम् अनेकदिव्याभरणम् दिव्यानेकोद्यतायुधम्।

उस विराट् पुरुष के रूप में अनेक मुख और नेत्र थे, अनेक अद्भुत दृश्य दिखाई देते थे। अनेक दिव्य आभूषण पहिने हुए थे तथा अनेक दिव्य शस्त्र ग्रहण किये हुए थे।

विराट् पुरुष की अनेक प्रकार से कल्पना है। इसीलिये यजुर्वेद (३१.१०) में प्रश्न किया है **'यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।'** अर्थात् विराट् पुरुष की कल्पना में कितने प्रकार के पुरुष कल्पना किये गए? फिर इसके उत्तर में दो पुरुषों की कल्पना की गई है। एक मनुष्य समाज रूप पुरुष, दूसरा चन्द्र-सूर्यादि-निर्मित ब्रह्माण्ड पुरुष, जिसके अन्त में **'तथा लोकान् अकल्पयन्'** (३१.१३) इस प्रकार उपसंहार है। इन सब प्रकार के कल्पित पुरुषों को एक स्थान पर इकट्ठे करने से विराट् का दर्शन होता है।

सो मनुष्य-समाज रूप विराट् पुरुष में अनेक मुख नेत्रादि इकट्ठे होकर कार्य कर रहे हैं और वे सब परमात्मा की सृष्टि का अंग हैं। इसलिये इस विराट् रूप में अनेक मुख तथा नेत्र हैं। इसी प्रकार इसके भौतिक रूप में अनेक अद्भुत क्रियायें हो रही हैं, प्रभु की सृष्टि में शनि मंगलादि ग्रहों ने अनेक प्रकार के वयादि अद्भुत आभूषण धारण किये हैं। इसी प्रकार मेघ, इन्द्र धनुष का आभरण (=आभूषण) धारण करता है। फिर जहाँ प्रलय हो रही है, वहाँ अद्भुत आयुधों के प्रहार से ग्रह उपग्रह तक नष्ट हो जाते हैं। इसलिये कहा 'दिव्यानेकोद्यतायुधम्'।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

दिव्यमाल्याम्बरधरम् दिव्यगन्धानुलेपनम सर्वाश्चर्यमयम् अनन्तम् विश्वतोमुखम् देवम् (अपश्यत्)।

नाना प्रकार के इन्द्र-धनुष आदि प्रकाश के खेल विराट् पुरुष के माला तथा वस्त्र के समान थे और पुष्प-सम्पर्क-सुवासित पवन विराट् पुरुष के गन्धानुलेपन का कार्य कर रहा था। यह देव का दिव्य रूप सब आश्चर्यों से निर्मित था, अनन्त था तथा इसमें चारों ओर मुख ही मुख थे अर्थात् हर पदार्थ मुख बनकर भगवान् की महिमा

गा रहा था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

यदि दिवि सूर्यसहस्रस्य भाः युगपत् उत्थिता भवेत्, तदा सा तस्य महात्मनः भासः सदृशी स्यात्।

यदि आकाश में सहस्रों सूर्यों का प्रकाश एक साथ इकट्ठा होकर चमके तो वह विराट् पुरुष के प्रकाश का कदाचित् कुछ सादृश्य कर सके।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

तदा पाण्डवः तत्र देव-देवस्य शरीरे अनेकधा प्रविभक्तम् कृत्स्नम् जगत् एकस्थम् अपश्यत्।

उस समय वहाँ पाण्डव अर्जुन ने देवादिधेव परमात्मा के, श्रीकृष्णजी की योग-शक्ति द्वारा कल्पित (स्व-स्वामि-भाव-सम्बन्धे षष्ठी जैसे ब्राह्मणस्य भोजनम्) तथा प्रभु की आज्ञा द्वारा संचालित शरीर में सौर जगत्, मानव जगत्, पशु जगत्, पक्षि-जगत् इत्यादि भिन्न-भिन्न जगतों में अनेकधा बँटे हुए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक स्थान पर देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

ततः स विस्मयाविष्टः हृष्टरोमा धनञ्जयः देवं शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः अभाषत।

तब उस विराट् पुरुष का दर्शन करके अत्यन्त आश्चर्य से चकित रोमाञ्चित धनञ्जय ने इस ब्रह्माण्ड के संचालन करने वाले परमात्मा को प्रणाम करके अञ्जलि बाँधे हुए इस प्रकार कहा—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

हे देव! तव (अस्मिन् कल्पिते इदानीम् कृष्ण-योग-प्रभावेण प्रत्यक्षवद् दृश्यमाने) देहे देवान् तथा भूतविशेषसंघान्,

कमलासनस्थम् ईशम् ब्रह्माणम्, सर्वान् ऋषीन्, दिव्यान् उरगान् च पश्यामि।

हे देवाधिदेव! आपके इस कल्पनामय देह में जिसका योगिराज श्रीकृष्ण ने आज मुझे योगबल से प्रत्यक्षवत् दर्शन कराया है। मैं सम्पूर्ण देवों को प्राणि-मात्र की सब विशिष्ट जातियों को, सृष्टि में सारी रचना के तत्त्व को, चार वेदों के प्राप्तिकर्त्ता चार आदि ऋषियों से चार वेद प्राप्त करके रचनात्मक विद्या का विश्व में प्रचार करने वाले आदि प्रजापति ब्रह्मा जो कि कमल अर्थात् प्रकृति के ऊपर तत्त्व-ज्ञान रूप आसन जमाए हुए हैं उनको और ऐसे अनेक पुरुष जो कालान्तर में उत्पन्न होकर काल का ग्रास हो गये उनको तथा अनेक ऋषि अर्थात् तत्त्वों के साक्षाद् द्रष्टा तथा दिव्य उरग अर्थात् जिस प्रकार सर्प रेंग-रेंग कर छाती के बल चलता है, इसी प्रकार नाना प्रकार के परीक्षणों तथा विभावनों द्वारा प्रकृति के तत्त्वों के जानने वाले वैज्ञानिक शिरोमणियों को (साधारण उरग नहीं दिव्य उरग) अपने सामने प्रत्यक्षवत् देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

त्वाम् अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् सर्वतः अनन्तरूपम् पश्यामि, पुनः हे विश्वेश्वर! विश्वरूप! तव न आदिम् न मध्यम् न च अन्तम् पश्यामि।

हे परमेश्वर! यद्यपि श्रीकृष्ण महाराज की कृपा से उनके योगबल से मैं आपके इस कल्पित शरीर में अनेक बाहु, उदर, मुख तथा नेत्र देख रहा हूँ, पर वह भी एक सीमा तक देख पा रहा हूँ, उससे परे नहीं क्योंकि यह रूप तो अनन्त है और हर दृष्टि से अनन्त है। पशु-जगत् अनन्त, पक्षि-जगत् अनन्त, देव-जगत् अनन्त, ऋषि-जगत् अनन्त, उरग-जगत् अनन्त किम्बहुना अनन्त! अनन्त!! (विश्वतोऽनन्तरूपम्)। इस सब कालों की सृष्टियों को एकत्र दिखाने वाले रूप में आदि अन्त का तो कहीं पता ही नहीं, क्योंकि वे तो हैं ही अनन्त, किन्तु मध्य अर्थात् वर्तमान की भी थाह नहीं पा रहा हूँ। जो कुछ देख रहा हूँ, श्रीकृष्णजी की कृपा से देख रहा हूँ। जब उन्होंने भी आप का अन्त नहीं पाया तो मैं कैसे पाऊँगा? उसे पाएँ

भी कैसे? जब आप हैं ही अनन्त। हाँ उनके योग-बल से जो देख सकता हूँ, सो देख रहा हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

त्वाम् किरीटिनम् गदिनम् चक्रिणम् च सर्वतोदीप्तिमन्तम् तेजोराशिम्, समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् (अतएव) दुर्निरीक्ष्यम् पश्यामि।

धरती पर जितने किरीटधारी, गदाधारी, चक्रधारी हुए उनका एक अति विशाल समूह इस रूप में एक स्थान पर इकट्ठा हुआ है। यह कोई वास्तविक रूप थोड़े ही है। यह तो एक विशाल अप्रमेय चारों ओर से दीप्तिमान् तेजोराशि है जो प्रज्वलित अग्नि और तपते सूर्यों के समान दहक रहा है। इसलिये इस पर चौंध के मारे आँख नहीं जमती। मैं आज योगिराज की कृपा से आपको देख रहा हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

त्वम् परमम् वेदितव्यम् अक्षरम् (असि), त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् (असि), त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्म-गोप्ता (असि), त्वम् मे सनातनः पुरुषः मतः (असि)।

हे देव! तुम परम वेदितव्य अक्षर हो अर्थात् ओंकार के वाच्यार्थ हो, यह सारा विश्व जिस कोष में अन्ततोगत्वा प्रलय काल में लीन होता है, वह आप हो, शाश्वत धर्म के अव्यय गोप्ता आप हो। मैं यह मानता हूँ कि आप सनातन पुरुष हो।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम् अनन्तबाहुम् शशिसूर्यनेत्रम् दीप्तहुताशवक्त्रम् इदम् विश्वम् स्वतेजसा तपन्तम त्वाम् पश्यामि।

जिसका न आदि है, न मध्य ही पूरा ज्ञान गोचर होता है, न अन्त है; जिसकी अनन्त शक्ति है और जितने विराट् पुरुष के अंगभूत उपपुरुषों की कल्पना है उतने ही वीर्य हैं, अनन्त बाहु अर्थात् कार्य शक्ति है, सूर्य अर्थात् ज्ञान और शशी अर्थात् स्मृति जो प्रत्यक्ष ज्ञानरूप प्रकाश से आलोकित होती है ये दोनों जिसकी सृष्टि में नेत्र के समान

हैं, जिसके वेद-रूप अथवा वेद-व्याख्याता ब्राह्मण रूप मुख से (स्वाभाविक-भाव-सम्बन्धेन) ज्ञान रूप अग्नि सदा प्रदीप्त होकर निकलती है और जो इस सारे विश्व को अपने तेज से तपा रहा है ऐसे आप को मैं देख रहा हूँ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

हे महात्मन्! त्वया एकेन इदम् हि द्यावापृथिव्योः अन्तरम् व्याप्तम् सर्वाः दिशः च व्याप्ताः तव इदम् उग्रम् अद्भतम् रूपम् दृष्ट्वा लोकत्रयम् प्रव्यथितम्।

हे महान् से भी महान् आत्मन् अर्थात् परमात्मन्! यह द्यावापृथिवी तो आप से व्याप्त हैं ही, किन्तु यह इनके बीच का अन्तर जो शून्य सा दीखता है तथा अन्य सब दिशाएँ जो कल्पना की जा सकती हैं सब आप से व्याप्त हैं। आपके हैं इस उग्र तथा अद्भुत रूप को देखकर त्रिलोकी घबरा उठी है।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति,
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्ध-सङ्घाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

अमी हि सुरसंघाः त्वां विशन्ति केचित् भीताः प्रांजलय-गृणन्ति, महर्षिसिद्धसङ्घाः स्वस्ति इत्युक्त्वा त्वाम् पुष्कलाभिः स्तुतिभिः स्तुवन्ति।

ये देव-समूह, क्या जड़ क्या चेतन तुम्हारे काल रूप उदर में घुसे चले जा रहे हैं, कोई संसार की विकट परिस्थितियों से घिरे हुए भयभीत होकर अंजलि बाँधे आप का गान कर रहे हैं। महर्षि और जन्म-सिद्ध महात्माओं के संघ 'कल्याण हो जगत् का' इस प्रकार कह कर पुष्कल स्तुतियों से तुम्हारा स्तुति-गान कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षाऽसुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

रुद्रादित्याः वसवः ये च विश्वे साध्याः अश्विनौ मरुतः च ऊष्मपाः च गन्धर्वयक्षासुर-सिद्धसंघाः सर्वे च एव त्वां विस्मिताः वीक्षन्ते।

मानव समाज में वसु रुद्र आदित्य ब्रह्मचारी सब साध्य लोग अर्थात् जो किसी विज्ञान–विशेष के विशेषज्ञ बनने की तय्यारी में लगे हैं अश्विनौ अर्थात् राष्ट्र के स्त्री–पुरुष, गुरु–शिष्यादि अन्योन्य–पूरक जोड़े; मरुतः अर्थात् सैनिक लोग, ऊष्मपाः अर्थात् नेताओं के जोश से प्रेरित होकर अद्‌भुत पराक्रम दिखाने वाले वीर पुरुष, गन्धर्व अर्थात् गायन विद्या के आचार्य, यज्ञ अर्थात् राष्ट्र–कोष के रक्षक, असुर अर्थात् पूर्व–जन्म के पुण्यों के बल पर सुख भोगने वाले (इस जन्म में कर्महीन) लोग, तथा जन्म–सिद्ध संस्कारी पुरुष इनके समूह के समूह सब विस्मित होकर तुम्हें देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्॥ २३॥

हे महाबाहो! ते बहुवक्त्रनेत्रम् बहुबाहूरुपादम् बहूदरम् बहुदंष्ट्राकरालम् महत् रूपम् दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः तथा अहम् प्रव्यथितः।

हे महाबाहो! अनन्त शक्ति वाले परमात्मन्! आपके इस विराट् रूप को अथवा हे महाबाहो श्री कृष्ण जी! आपके भक्ति–भाजन इस विराट् अनन्त मुख–नेत्र वाले; अनन्त कार्य–शक्ति, अनन्त भार–धारण–शक्ति तथा अनन्त गमन शक्ति वाले; अनन्त वर्ष, मास, दिन आदि उदर वाले; अनन्त प्रलय घटना रूप दाढ़ों के कारण विकराल रूप को आपके योग–बल द्वारा प्राप्त कल्पना–शक्ति से देख कर सम्पूर्ण लोक घबराये हुए हैं और मैं भी घबरा गया हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं,
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा,
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

हे विष्णो! नभः स्पृशम् दीप्तम् अनेकवर्णम् व्यात्ताननम् दीप्तविशालनेत्रम् त्वाम् दृष्ट्वा हि प्रव्यथितान्तरात्मा अहम् धर्ति शमम् च न यिन्दामि।

हे विष्णो! अर्थात् व्यापक परमात्मन्! इस विराट् रूप में गगनचुम्बी ज्वालाएँ उठ रही हैं, जो दहक रही हैं तथा रंग–बिरंगी हैं। विकराल मुख खुले हुए हैं, प्रलय काल में टूटते हुए नक्षत्र रूपी विशाल नेत्रों

से दीप्ति निकल रही है। आपके इस प्रलयकारी रूप को देखकर मैं घबरा उठा हूँ, न मुझे धैर्य मिल रहा है न शान्ति।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

देवेश जगन्निवास प्रसीद, दंष्ट्राकरालानि कालानलसान्निभानि ते मुखानि दृष्ट्वा एव च अहम् दिशः न जाने शर्म च न लभे।

हे घर घर में व्यापक देव! मुझ पर दया करो। इन विकराल वर्ष, मासादि दाढ़ों के कारण विकराल, प्रलय काल की अग्नि के समान सकलग्रासी आप के मुखों को देखकर मुझे चारों ओर कुछ नहीं सूझता और कहीं शरण नहीं मिलती।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवाऽवनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

अमी च अवनिपालसघैः सह धृतराष्ट्रस्य सर्वे पुत्राः तथा अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः सह भीष्मः द्रोणः तथा असौ सूतपुत्र त्वाम् (अभिमुखं धावन्ति)।

और सम्पूर्ण राज–समूहों समेत ये धृतराष्ट्र के पुत्र तथा हमारे मुख्य सैनिकों समेत भीष्म तथा द्रोण और यह सूतपुत्र कर्ण सब तेरे (विकराल ग्रास की ओर दौड़े आ रहे हैं)।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

त्वरमाणाः ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति। केचित् चूर्णितैः उत्तमांगैः दशनान्तरेषु विलग्नाः संदृश्यन्ते।

ये सब जो मेरी ओर दौड़ रहे हैं वे तेरे दाढ़ों के कारण विकराल मुखों में बड़े तीव्र वेग से घुसे जा रहे हैं और कोई कोई तो उन विकराल दाढ़ों में लग कर चूर चूर सिर वाले दीख रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

यथा नदीनाम् बहवः अम्बुवेगाः समुद्रम् एव अभिमुखाः द्रवन्ति तथा अमी नरलोकवीराः तव अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि विशन्ति।

जिस प्रकार नदियों के अनेक प्रवाह समुद्र की ओर मुख करके

ही बहते हैं, इसी प्रकार ये मनुष्य लोक के वीर तेरे ज्वाला से दहकते हुए मुखों में घुस रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

यथा पतंगाः समृद्धवेगाः नाशाय प्रदीप्तम् ज्वलनम् विशन्ति तथैव समृद्धवेगाः लोकाः अपि नाशाय तव वक्त्राणि विशन्ति।

जिस प्रकार पतंगे अति वेग-युक्त होकर नाश के लिये प्रदीप्त अग्नि में घुसते हैं इसी प्रकार लोक-लोकान्तर नाश के लिये अति तीव्र-वेग-युक्त होकर तेरे मुखों में घुस रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥

हे विष्णो! ज्वलद्भिः वदनैः समग्रान् लोकान् ग्रसमानः समन्तात् लेलिह्यसे, तव उग्राः भासः समग्रम् जगत् तेजोभिः आपूर्य प्रतपन्ति।

हे सर्वव्यापक प्रभो! आप अपने, जलते हुए मुखों के समान लगने वाले अग्नि आदि प्रलयसाधनों के द्वारा सब लोकों को ग्रसते हुए सब ओर से चाट रहे हैं। आपकी भयङ्कर दीप्तियाँ (प्रकाश) अपने तेजों से सम्पूर्ण संसार को पूर्ण करके उसे तपा रही हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

हे देववर! प्रसीद ते नमः अस्तु उग्ररूपः भवान् कः (इति) मे आख्याहि आद्यम् भवन्तम् विज्ञातुम् इच्छामि तव प्रवृत्तिम् हि न प्रजानामि।

हे देववर! मुझ पर प्रसाद कीजिये आपको नमस्कार हो। आप इस प्रकार के उग्र रूप वाले कौन हैं? आप मूल रूप में कौन हैं, यह जानना चाहता हूँ। मुझे आपकी थाह नहीं मिल रही है।

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥

(अहम्) लोकक्षयकृत् इह लोकान् समाहर्त्तुम् प्रवृत्तः कालः अस्मि, प्रत्यनीकेषु ये योधाः अवस्थिताः ते सर्व त्वाम् ऋते अपि न भविष्यन्ति।

यह विराट् पुरुष कौन है, क्या है? इसमें अब कोई सन्देह नहीं रहा 'को भवान्' इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् स्वयम् कह रहे हैं कि 'लोकोऽस्मि' मैं काल हूँ। कृष्णचन्द्र जी तो केवल भगवान् के अर्जुन के प्रति सन्देश-वाहक हैं और यदि थोड़ा और गहराई में उतरें तो कृष्ण द्वैपायन कृष्ण वार्ष्णेय तथा अर्जुन के संवाद के व्यास से वेदों का सन्देश संसार को सुना रहे हैं। यह वेदव्यास जी का ऋषित्व है कि वे कृष्ण का सन्देश संसार को सुनाने में इतने सफल हुए हैं कि आज गीता इतनी लोकप्रिय हो गई है। सो कृष्ण जी भगवान् का सन्देश अर्जुन को किन शब्दों में सुनाते हैं सो सुनिये।

मैं सृष्टि रूप नाटक का उपसंहार करने में लगा हुआ लोकक्षय-कृत् काल हूँ। हे अर्जुन! मुकाबिले की सेना में जो योद्धा खड़े हैं, ये क्या अमर हैं? एक दिन मैं तो इन्हें मारूँगा ही। सो यदि ये तुम्हारे द्वारा न मारे गये तो भी नहीं रहेंगे। (हाँ तुम पर क्षत्रिय धर्म न पालने का कलंक अवश्य लगेगा। इसलिये 'निमित्तमात्रम् भव सव्यसाचिन्' यह अगले ही श्लोक में कहा है)।

जिन लोगों ने इन वचनों को श्रीकृष्ण जी के वचन कहा है, उन्होंने इतना भी ध्यान नहीं किया कि कृष्णचन्द्र जी क्या ठग थे जो परमात्मा होने का झूठा दावा करते। एक ओर तो कृष्णचन्द्र को आराध्य देव कहें, दूसरी ओर उन पर इतने भयानक झूठ बोलने का कलंक लगाने से न डरें, यह भी क्या भक्ति है। कृष्णचन्द्र जी तो तीसरे अध्याय में—'यद् यदाचरति' (२१) से लेकर 'उत्सीदेयुः' (२४) तक स्पष्ट कह आये हैं कि मैं जीवन्मुक्त हूँ तो भी धर्म की मर्यादा का किंचिन्मात्र भी उल्लंघन नहीं करता। ऐसी अवस्था में उन पर इतने भयंकर झूठ के बोलने का कलंक लगाना कितना बड़ा अपराध है। यदि कोई साधारण कान्सटेबल होने का भी झूठा दावा करता है वह कितना दण्डनीय होता है। फिर कोई जरासंध से युद्ध में १७ बार परास्त होकर भागने वाला परमात्मा होने का दावा करे, वह कितना अपराधी होगा। हाँ वह दृढ़-संकल्प वाला मनुष्य होने

का दावा करे तब तो वह न केवल दण्ड का पात्र नहीं, किन्तु पूजा का पात्र है। कृष्णचन्द्र जी ने न कहीं ईश्वर होने का दावा किया, न वेदव्यास जी ने उनसे करवाया। जहाँ कहीं भी यह प्रतीत होता हो कि कृष्णचन्द्र जी अपने आपको परमात्मा कहते हैं, वहाँ उन वचनों पर शृंग विराम (Inverted Colons) रख लेने मात्र से बात स्पष्ट हो जाती है। परन्तु हम कृष्णचन्द्र जी पर कितना बड़ा दोष लगा रहे हैं, इतनी बात अन्ध भक्तों को यदि दीखे तो वे भक्त के स्थान में अन्ध भक्त क्यों कहलावें।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

हे सव्यसाचिन्! एते पूर्वम् एव मया एव निहताः, त्वम् (इदानीम् एषां वधे) निमित्तमात्रम् भव, तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ, यशः लभस्व, शत्रून् जित्वा समृद्धम् राज्यम् भुंक्ष्व।

प्रभु का सन्देश श्रीकृष्ण अर्जुन को देते हैं कि हे अर्जुन! अन्याय का पक्ष लेने के कारण ये पहिले ही मैंने ही मार रक्खे हैं तू तो अब इनके मारने में निमित्त मात्र बन जा। इसलिये उठ क्षत्रिय धर्म के पालन का यश लूट तथा शत्रुओं को मार कर समृद्ध राज्य का न्यायानुमोदित उपभोग कर।

तूने यह सन्देह प्रकट किया था कि '**न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा यजेम यदि वा नो जयेयुः**' (२.६)।

सो इसके भी सम्बन्ध में स्पष्ट प्रभु का सन्देश सुन ले।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

भीष्मम् च द्रोणम् च जयद्रथम् च कर्णम् तथा अन्यान् अपि मया हतान् योधवीरान् (स्त्वं) जहि, मा व्यथिष्ठाः, रणे सपत्नात् जेतासि, युध्यस्व।

प्रभु कहते हैं कि भीष्म द्रोण तुम्हारे पूजनीय होंगे। मेरे तो अन्याय का पक्ष लेने के कारण दण्डनीय हैं और मैंने इन्हें प्राणदण्ड दिया है। इसलिये भीष्म, द्रोण, जयद्रथ तथा अन्य वीर सैनिक जिन पर मेरे मृत्यु-दण्ड की मोहर लग चुकी है, उन्हें तू मार दे। इसमें घबरा मत, निश्चय जान आज नहीं तो कल सही, परन्तु तू युद्ध में शत्रुओं

को जीतेगा अवश्य। इसलिये (उठ) युद्ध कर।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा वेपमानः कृतांजलिः किरीटी नमस्कृत्वा कृष्णम् भूयः एव सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य एवम् आह।

केशव के इस प्रकार के वचन सुनकर किरीटधारी अर्जुन ने अंजलि बाँध कर कांपते हुए नमस्कार किया और उसके पश्चात् फिर बारम्बार प्रणाम करके डरते डरते भरे हुए कण्ठ से इस प्रकार कहा—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ ३६॥

हे हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या (यत्) जगत् प्रहृष्यति अनुरज्यते च रक्षांसि भीतानि दिशः द्रवन्ति, सर्वे सिद्धसंघाः च नमस्यन्ति (तत्) स्थाने।

इस श्लोक में एक वाक्यैकदेश ऐसा है, जिसके दो अर्थ हो सकते हैं और दोनों ही इतने सुन्दर हैं कि हम दोनों को यहाँ उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। वे शब्द हैं 'तव प्रकीर्त्या' इसके दो अर्थ हो सकते हैं, एक तो 'आपकी चर्चा छिड़ते ही' इसमें तव का वाच्य कृष्णचन्द्र जी हैं। दूसरे 'आप का किया हुआ प्रभु-कीर्तन सुनते ही।' जैसे कहा जाता है कि आज अमुक मण्डली का कीर्त्तन होगा अर्थात् अमुक मण्डली द्वारा कीर्त्तन होगा। दोनों में अपना अपना चमत्कार है। हम दोनों अर्थ यहाँ देते हैं जिसे जो अच्छा जान पड़े, वह उसे स्वीकार कर ले। अर्थ इस प्रकार है—हे कृष्ण! आपको आज तक मैं मुख्य रूप से एक राष्ट्र-नेता ही समझता था जो महाभारत-साम्राज्य की स्थापना में लगा हुआ था। किन्तु आज मैंने आपका भक्त-शिरोमणि तथा योगिराज रूप भी देखा और खूब देखा। मैं जिधर जाता हूँ, आपका नाम कीर्त्तन होते ही एक हर्ष और अनुराग की लहर दौड़ जाती है। आज इस लोकप्रियता का रहस्य भी समझ में आ गया। आप केवल राजनीतिज्ञों के ही राजा नहीं, किन्तु भक्तराज तथा योगिराज भी हैं। इसलिये आप जिधर जाते हैं, एक हर्ष और

अनुराग की लहर दौड़ जाती है। राक्षस-वृत्ति के लोग डरकर भाग खड़े होते हैं तथा सिद्ध पुरुषों के समूह प्रभु को नमस्कार करने में लग जाते हैं। यह सब कुछ स्थाने अर्थात् उचित ही है।

दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि हे श्रीकृष्ण! आप महा भक्त-शिरोमणि हैं। जो प्रभु-कीर्त्तन हम लोगों के मुख से होता है, उससे साधारण आनन्द तो आता है, परन्तु कोई विशेष हर्ष की लहर-सी नहीं दौड़ती। परन्तु वही प्रभु-कीर्त्तन आपके मुख से सुन कर संसार हर्ष से नाच उठता है तथा सबके हृदय में परमात्मा के लिये एक अभूतपूर्व, अश्रुतपूर्व, अदृष्टपूर्व अनुराग उमड़ने लगता है। राक्षसी प्रवृत्तियों के लोग भाग खड़े होते हैं, सिद्ध लोग पहले से भी अधिक प्रभु को नमस्कार करने लगते हैं। ऐसा क्यों न हो? जो आप सरीखा भक्त हो तथा योग-बल से दूसरों के हृदय में भी उस प्रभु-भक्ति की पवित्र भावना को जागृत कर सकता हो, उसको इतने आदर तथा इतनी श्रद्धा का पात्र समझा जाना उचित ही है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

हे महात्मन्! ते सिद्धसंधाः आत्मनः अपि गरीयसे ब्रह्मणः अपि आदिकर्त्रे (तस्मै परमेश्वराय) कथम् न नमेरन्? हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! त्वम् तद् अक्षरं यत् सदसत् परम।

यहाँ इस श्लोक में ते को युष्मद् शब्द की चतुर्थी का एक वचन नहीं किन्तु तद् शब्द के पुल्लिंग की प्रथमा का बहुवचन समझिये अर्थ इस प्रकार हुआ। हे श्रीकृष्ण जी! वे भक्त सिद्ध लोग अपने से भी बड़े, आदि चारों वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा के भी आदि-कर्त्ता, उस परमेश्वर के आगे क्यों न नतमस्तक हों। वे प्रभु से कहते हैं—हे प्रभु! तू ही वह परम अक्षर ओम् का वाच्यार्थ है जिसकी वेद में 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' ऋ० १०.१२९.१ आदि शब्दों द्वारा स्तुति की है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

त्वम् आदिदेवः पुराणः पुरुषः, अस्य विश्वस्य परं निधानम् वेत्ता, वेद्यम्, परम् च धाम असि; हे अनन्तरूप! त्वया विश्वम् ततम्।

हे प्रभो! जड़ चेतन सब देवों को प्रकाश तथा रूप देने वाले आदिदेव सनातन पुरुष आप ही हैं। इस विश्व में जिस किसी के पास कोई कोष है उसके अन्तिम कोष आप ही हैं। आप सर्वज्ञ हैं। इस संसार के वेत्ता हैं और जिज्ञासुओं के लिये अन्तिम ज्ञातव्य भी आप ही हैं। हे अनन्तरूप! इस विश्व का सारा ताना-बाना आपने तना है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

त्वम् वायुः यमः अग्निः वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिः प्रपितामहः च असि, ते सहस्त्रकृत्वः नमः नमः अस्तु। पुनः अपि च ते भूयः नमः नमः।

हे प्रभो! संसार की सब गतियों के मूल होने के कारण आप वायु, नियमन करने के कारण यम, अग्रणी होने के कारण अग्नि, अन्तर्यामी होने के कारण वरुण, सब गतियों का ज्ञान आप के ज्ञान भण्डार में अंकित है इसलिये शशाङ्क, संसार की हर उत्पत्ति के अधिष्ठाता होने के कारण प्रजापति और संसार के आदि पुरुषों के भी आदि होने के कारण आप सबके परदादा हैं। आप को सहस्त्रवार नमोनमः और फिर इससे भी अधिक बार-बार नमस्ते।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

ते पुरस्तात् अध पृष्ठतः नमः, हे सर्व! ते सर्वतः एव नमः अस्तु, हे अनन्तवीर्य! त्वम् अमितविक्रमः सर्वम् समाप्नोषि ततः सर्वः असिः।

आपके लिये अपने सामने भी नमस्ते कहता हूँ और अपनी पीठ के पीछे भी। हे सर्व! अधिक क्या कहूँ, आपको सब ओर नमः ही नमः हो। हे प्रभो! आपको इसलिये कहता हूँ क्योंकि आप अनन्तवीर्य अर्थात् उत्पादन-शक्ति तथा अनन्त-पराक्रम वाले हैं। इस सारे संसार को उत्पन्न करते हैं और सबको अपनी शक्ति से अपने में समेट कर रखते हैं। इसलिये आप सर्व हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि॥ ४१॥

मया तव महिमानम् अजानता सखा इति मत्वा प्रमादात् प्रणयेन वा अपि यत् प्रसभम् हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इति इदम् यत् उक्तम्।

हे श्रीकृष्ण! मैं तो अब तक तुम्हें एक साधारण राष्ट्र का नेता तथा अपना मित्र जानता था। आज जो आपने अपने योग–बल से मुझे विराट् पुरुष का साक्षात्कार कराया है तो आज मैंने आपको भक्तराज तथा योगिराज के इस नए रूप में जाना है। इसलिये आपकी महिमा को न जानने के कारण मैंने इतने दिनों स्नेह के आग्रह में धृष्टतापूर्वक हे कृष्ण! हे यादम! हे मित्र! इस प्रकार सम्बोधन करते हुए प्रमादवश अथवा प्रणयवश यह सब कुछ जो कहा है.......।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

यत् च विहारशय्यासनभोजनेषु अवहासार्थम् एकः अथवा तत्समक्षम् अपि असत्कृतः असि, हे अच्युत! तत् अप्रमेयम् त्वाम् अहम् क्षामये।

और सैर सपाटों में, सोते समय, इकट्ठे बैठते समय, भोजन के समय और इसके अतिरिक्त कभी–कभी अकेले में बैठे हुए तथा अन्य मित्रों के सामने भी मैंने जो उपहास में आपका तिरस्कार किया, हे अच्युत! आज मैं वह सब आपसे क्षमा करवाता हूँ।

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ ४३॥

त्वम् अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता पूज्यः गरीयान् गुरुः च असि, हे लोकत्रये अपि अप्रतिम–प्रभाव! त्वत्समः अन्यः न अस्ति अभ्यधिकः कुतः।

आप इस चराचर संसार के पिता हैं, पूज्य हैं, गुरु हैं और अन्य गुरुओं से भी बढ़कर हैं। हे कृष्ण! आप का प्रभाव तीनों लोकों में अप्रतिम है। इस समय समस्त विश्व के मनुष्यों में आप के जोड़ का ही कोई नहीं, आप से अधिक कौन होगा?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

तस्मात् प्रणभ्य कायम् प्रणिधाय अहम् ईशम् ईड्यम् त्वाम् प्रसादये, पिता पुत्रस्य इव सखा सख्युः इव हे देव प्रियः प्रियाय सोढुम् अर्हसि।

इसलिये प्रणाम करके अपने शरीर को समर्पण कर इस युग के नेता होने के कारण ईश तथा चरित्र–बल के कारण पूजनीय आपको मैं खुशामद करके मनाता हूँ। हे देव! जिस प्रकार पिता पुत्र की भूलें सहन करता है, मित्र मित्र की गुस्ताखियाँ सहन करता है, आप मेरे प्रिय हैं मैं आपका प्रिय हूँ सो मेरे निमित्त, जो धृष्टता मुझ से हुई है वे सब सहन करनी आपको उचित हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितंमनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

अदृष्टपूर्वम् दृष्ट्वा हृषितःअस्मि, मे मनः च भयेन प्रव्यथितम्, हे देवेश! जगन्निवास! प्रसीद, हे देव! मे तत् एव रूपम् दर्शय।

हे कृष्ण! पहिले तो मैं विराट् पुरुष से भिक्षा माँगता हूँ। हे प्रभो! आपके इस महा विस्मय–कारी रूप को देखकर मुझे आनन्द और विस्मय से रोमांच हो आया है, किन्तु साथ ही महा संहार को देखकर भय से मन घबरा भी उठा है। हे देवाधिदेव! हे सब जगत् के घट घट में व्यापक प्रभो! अब आप मुझ पर दया कीजिये और मेरे प्यारे सखा कृष्ण का वही रूप मुझे दिखा दीजिये।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वीर शिरोमणि अर्जुन इस दृश्य को देखकर भय से क्यों घबराया? तो इसका उत्तर है कि जिन स्वजनों के लिये वह सब कुछ छोड़ने को तय्यार था तथा भिक्षा करके भी जीवन निर्वाह अच्छा समझता था। जब वे ही सब काल के ग्रास होते दिखाई दिये तो अर्जुन घबरा गया, अपने प्राणों के मोह से नहीं।

साथ ही हे प्रिय सखे कृष्ण! आपसे भी कहता हूँ कि यह सारा खेल आपकी योगशक्ति का ही तो रचा हुआ है। सो—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

हे सहस्त्रबाहो! विश्वमूर्ते अहम् त्वाम् किरीटिनम् गदिनम् चक्रहस्तम् तथा एव द्रष्टुम् इच्छामि, तेन चतुर्भुजरूपेण एव (मम मार्गदर्शको) भव।

श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अर्जुन को तीन रूप दिखाये—एक तो द्विभुज

सखा का रूप, जिसमें अर्जुन उनके साथ साधारण मनुष्यों के समान खेलता था। इस रूप के साथ उनका वही सम्बन्ध था जो हर देहधारी का अपने शरीर से होता है अर्थात् कर्म-साधक रूप। दूसरा चतुर्भुज रूप जिसके साथ कृष्णचन्द्रजी का साध्य-साधक रूप सम्बन्ध था। तीसरा परमात्मा का विराट् रूप जिस रूप के साथ कृष्णचन्द्रजी का उपास्य-उपासक रूप सम्बन्ध था, जिसकी ओर हम इसी अध्याय के तीसरे श्लोक की व्याख्या में '**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम् पुरुषोत्तम**' इन शब्दों का अर्थ करते हुए निर्देश कर आये हैं।

वस्तुतः अभिमान की निवृत्ति के लिये महापुरुष प्रभु के प्रलयकारी रूप का स्मरण किया करते हैं। जो जितना बड़ा महापुरुष होता है वह उतने ही अधिक विशाल तथा विकराल रूप का ध्यान करता है। श्रीकृष्णचन्द्र महाराज अपने युग के मानव-राष्ट्र के नेता थे। इसलिये अभिमान-निवृत्ति के लिये जिस विराट् रूप का नित्य चिन्तन करते थे, उसका साक्षात्कार उस दिन योग-बल से उन्होंने अर्जुन को भी करा दिया। अर्जुन को कृष्ण तो दीख नहीं रहे थे विराट् पुरुष का ही दर्शन हो रहा था, जैसा सम्मोहन-शास्त्र के जानने वाले जिसको सम्मोहित करते हैं तो उसे कहें कि 'तू बिल्ली है, तू म्याऊँ म्याऊँ कर' तो वह वैसा ही करने लगता है 'तू हाथ नहीं उठा सकता।' तो वह बड़ा पहलवान हो तो भी उस अवस्था में हाथ नहीं उठा सकता। सो इस प्रकार की योग-निद्रा में अर्जुन चिल्लाकर कह रहा है कि, आज तो आप सहस्रबाहु तथा विश्वमूर्ति बन गये हैं। मुझे कुछ और दीख नहीं रहा, यह भगवान् का रूप आप मेरे कल्याण के लिये दिखा रहे हैं। परन्तु मैं तो सत्त्वहीन होता जा रहा हूँ। अब अपने इस उपास्य रूप को जिसके कारण आप भी मुझे सहस्रबाहु दीखने लगे हैं, मेरे सामने से हटाइये और अपने द्विभुज तथा चतुर्भुज रूप से ही मेरा उपकार कीजिये।

गदा-युक्त चक्र-हस्त किरीटवान् यह द्विभुज रूप है। अब चतुर्भुज रूप कौन-सा है, यह स्पष्ट करते हैं। विष्णु का चतुर्भुज रूप पुराणों में वर्णन किया गया है। श्रीकृष्णचन्द्रजी को भी विष्णु के अवतारों में गिना गया है और बहुत से तो उन्हें पूर्ण कलावतार कहते हैं। सो विष्णु की चार भुजा समझ में आने से कृष्ण महाराज का भी

चतुर्भुज रूप ठीक समझ में आ जायेगा। परन्तु इसको समझने से पहिले विष्णु शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—'यज्ञो वै विष्णुः' (शत० १.५.१.३) अर्थात् विष्णु नाम संगठन का है।

हर संगठन की ये चार भुजाएँ होती है—

(१) शंखधारिणी अर्थात् किसी महान् उद्देश्य के लिये सबको इकट्ठा करने के निमित्त उस महान् उद्देश्य की घोषणा करने वाली, (२) दूसरी चक्रधारिणी अर्थात् उस उद्देश्य को सब तक पहुँचाने के लिये तथा जिन तक घोषणा पहुँची और उन्होंने उसे स्वीकार किया उन्हें तीव्रगति से इकट्ठा करने के लिये उत्तम चक्र अर्थात् तीव्र यात्रा के साधन जुटाने वाली, (३) तीसरी गदाधारिणी अर्थात् जिस बुराई अथवा विपत्ति से लड़ने के लिये सब इकट्ठे हो रहे हैं उससे लड़ने के लिये उपयोगी शस्त्रास्त्र इकट्ठे करने वाली, (४) चौथी पद्मधारिणी अर्थात् इस सब सामग्री के संग्रहार्थ लक्ष्मी इकट्ठी करने वाली (पद्म लक्ष्मी का निवास स्थल है) अर्थात् कोष-संचय करने वाली।

संसार के छोटे से छोटे विष्णु अर्थात् संगठन से लेकर महाविष्णु अर्थात् बड़े-से-बड़े संगठन के लिये शंख, चक्र, गदा, पद्म अर्थात् घोषणा, यान, शस्त्र तथा धन ये चार वस्तुएँ आवश्यक हैं। कृष्ण महाराज अपने युग के न केवल भारत के किन्तु महाभारत के अर्थात् सारे मानव राष्ट्र के एक नेता थे। वे धरती भर के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा इतर जन जो भी मिल सकें इन पाँचों जनों को महाभारत नामक संगठन में इकट्ठा करना चाहते थे। इसलिये यह उनका पाञ्चजन्य शंख था। तीव्र से तीव्र यान तय्यार करने के लिये उन्होंने स्वयं सारथि-कर्म सीखा तथा अर्जुन के सारथि बने। यह उनका चक्र था। जरासंध, कंसादि के नाश के लिये उनकी रोग-निवारिणी, रोगों के लिये भी रोग-रूप शस्त्र-शक्ति सदा तय्यार रहती थी, यह उनकी गदा थी। तथा सम्पूर्ण कृष्ण-भक्त राष्ट्रों का कोष जो युधिष्ठिर के राजसूय में इकट्ठा हुआ, वह उनका पद्म था। यह कृष्ण का चतुर्भुज रूप था और क्योंकि इस रूप के धारण का लक्ष्य सारे विश्व की प्रजा को वैदिक धर्म के पालनार्थ संगठित करना था, इसीलिये वे विष्णु कहलाये।

अब अर्जुन कहता है कि हे कृष्ण! यदि मैं आपको सखा रूप में देखूँ तब तो आपका तिरस्कार होता है, यदि आपके प्यारे इस विराट् रूप को देखूँ तो फिर तो काल के द्वारा सारे ब्रह्माण्ड का अन्त ही अन्त देखते देखते मेरी युद्ध में तो क्या जीवन में भी इच्छा न रहेगी। इस रूप के दर्शन करना तथा इसके ध्यान में लीन रहना, आप ही के बस का है, मैं तो घबरा उठा हूँ। यह सहस्रबाहु के ध्यान में सहस्रबाहु बनना तथा विश्व भर की विद्याओं के ज्ञान से विश्वमूर्त्ति बनना आपको ही मुबारिक हो। मुझे तो सारे मानव राष्ट्र के नेता के रूप में आप जो अन्यायकारियों की ११ अक्षौहिणी को हमारी छोटी-सी सेना से नष्ट करने को उद्यत हुए हैं। यह क्षत्रियोचित चतुर्भुज रूप ही मुझे दिखाइये और इस रूप से ही मेरे मार्गदर्शक बनिये। यह सहस्रबाहु रूप किसी योगिराज के लिये रखिये। मेरा अभिमान तो आपके दिव्य गुणों को देखकर ही निवृत्त हो जाता है। इस विराट् रूप महौषध की आवश्यकता मुझे नहीं। महारोग महान् नेता को ही हो सकता है, मुझ सरीखे साधारण सिपाही को नहीं, इसलिये जो आदेश चतुर्भुज रूप में मुझे मिलेगा, मैं अवश्य पालन करूँगा।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

हे अर्जुन! प्रसन्नेन मया आत्मयोगात् इदम् परं रूपम् तव दर्शितम्, यत् विश्वम् तेजोमयम् अनन्तम् आद्यम् मे (उपास्यरूपम्) तत् त्वद् अन्येन न दृष्टपूर्वम्।

हे अर्जुन! आज मैंने अपने योग-बल से तुझे यह रूप दिखा दिया है, जो सम्पूर्ण तेजोमय है, अनन्त है तथा विश्व के सब रूपों में से आदि रूप है। इस मेरे उपास्य रूप को तुझ से पहिले कोई नहीं देख पाया है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

हे कुरुप्रवीर! अहम् न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः न च क्रियाभिः

न उग्रैः तपोभिः त्वदन्येन नृलोके एवंरूपः (विराजः पुरुषस्योपासकरूपे) द्रष्टुम् शक्यः।

हे कुरुप्रवीर! विराट् पुरुष के उपासक रूप इस रूप में इस नरलोक में तेरे अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष मुझे, न वेद तथा यज्ञ के अध्ययन से अथवा वेदों द्वारा, न यज्ञ द्वारा, न अन्य स्वाध्याय द्वारा, न कर्मकाण्ड की अन्य जप आदि क्रियाओं द्वारा, न उग्र तप से (इस विराट् पुरुष के उपासक रूप में) देख सकता है। अर्थात् इस मेरे उपास्य रूप के दर्शन के लिये निरन्तर योगाभ्यास अपेक्षित है। यह स्वाध्याय-मात्रगम्य नहीं है। यद्यपि कोई कवि भी विशद वर्णन द्वारा विराट् पुरुष की विशालता तथा विकरालता का दर्शन करा सकता है, किन्तु वह साक्षात्कार, जिससे वे महासंहार के दृश्य आँखों के सामने घटित से प्रतीत होते हैं, कोई योगी ही योग-बल से करा सकता है।

मा ते व्यथा मा, च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

मम इदम् (उपास्यम्) घोरम् रूपम् दृष्ट्वा ते व्यथा मा भूत्, विमूढभावः च मा भूत् व्यपेतभीः प्रीतमनाः त्वम् पुनः मे तत् एव रूपम् प्रपश्य।

हे अर्जुन! मेरे (उपास्य) इस घोर रूप को देखकर तुम्हें घबराहट और विमूढावस्था की प्राप्ति नहीं होनी चाहिये, अब तू भयरहित और प्रसन्न होकर फिर मेरे अपने उसी रूप को देख जो तुझे प्यारा है।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

इति महात्मा वासुदेवः अर्जुनम् तथा उक्त्वा भूयः स्वकम् रूपम् दर्शयामास एनम् भीतम् च पुनः सौम्यवपुः भूत्वा आश्वासयामास।

इस पर महात्मा वासुदेव ने जो अर्जुन को अपने उपास्य परमात्मा का विराट् रूप दिखा रहे थे, फिर अपना असली रूप दिखा दिया और फिर सौम्य-दर्शन होकर घबराए हुए इस अर्जुन को आश्वस्त कर दिया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

हे जनार्दन! इदम् तव सौम्यम् मानुषम् रूपम् दृष्ट्वा इदानीम् सचेताः संवृत्तः अस्मि, प्रकृतिम् च गतः अस्मि।

हे जनार्दन! कहाँ विराट् पुरुष का वह घोर रूप और कहाँ आपका यह सौम्य रूप। इस आपके सौम्य मानुष रूप को देख कर मेरी जान में जान आ गई और मैं फिर स्वस्थ हो गया हूँ।

श्री भगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥५२॥

यत् मम इदं सुदुर्दर्शम् रूपम् दृष्टवान् असि, अस्य रूपस्य देवाः अपि नित्यम् दर्शनकाङ्क्षिणः।

हे अर्जुन! इस मेरे (उपास्य) अत्यन्त दुर्दर्श भयंकर रूप को जो तुमने देख लिया है, बड़े बड़े विद्वान् भी सदा इस प्रभु के रूप के दर्शन के सदा अभिलाषी बने रहते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

यथा माम् दृष्टवान् असि एवंविधः अहम् न वेदैः न तपसा न दानेन न च इज्यया द्रष्टुम् शक्यः।

हे अर्जुन! मेरे पूरे स्वरूप को वही ठीक-ठीक जान सकता है जो मेरे उपास्यदेव को जान सकता है, सो आज उपास्य देव के दर्शन सहित विराट् पुरुष के उपासक मुझे जैसे तूने देखा है, ऐसा मेरा दर्शन न कोरे वेदाध्ययन से प्राप्त होता है, न तप से, न दान से और न यज्ञ से।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥५४॥

हे परन्तप अर्जुन! एवंविधः अहम् (=परम-पुरुषः) अनन्यया भक्त्या तु ज्ञातुम् तत्त्वेन द्रष्टुम् प्रवेष्टुम् च शक्यः।

हे अर्जुन! उस परमात्मा में अनन्य-भक्ति से इस प्रकार के मुझको

जाना जा सकता है, तत्त्वज्ञान-पूर्वक देखा जा सकता है तथा मेरे गुप्त दुर्ग में प्रवेश किया जा सकता है।

हे अर्जुन! मैं और मेरा उपास्य देव इतने घुल-मिल गए हैं कि दोनों में से कितना भाग उपासक है तथा कितना उपास्य इसका साक्षात्कार मुझ में पूर्णतया प्रवेश किये बिना नहीं हो सकता। तूने तो योग-बल से दोनों पृथक् देख लिये। मुझे तो तू प्रतिदिन देखता ही है, मेरे उपास्यदेव को भी तूने आज पृथक् देख लिया। जब तू विराट् पुरुष का दर्शन कर रहा था, उस समय मैं अदृश्य था, अब तू दोनों को पृथक् देख कर इकट्ठा भी देख सकता है।

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

हे पाण्डव! यः मत्कर्मकृत् मत्परमः मद्भक्तः सङ्गवर्जितः सर्वभूतेषु निर्वैरः सः माम् एति।

हे अर्जुन! मेरे उपास्य देव तक तो कोई विरला ही पहुँचेगा, पहिले तो मुझ तक ही पहुँचना कठिन है। जो मुझे ही परम नेता मानता है, मेरा सच्चा भक्त है, किन्तु मेरे रंग-रूप तथा मूर्ति में आसक्त न होकर संगवर्जित होकर वह कर्म करता है, जो मैं करता हूँ अर्थात् प्राणि-मात्र के प्रति निर्वैर भाव से चलता है वह मेरे पास पहुँचता है (तब मैं योग-बल से उसे अपने उपास्य देव के दर्शन कराता हूँ)।

इति एकादशोऽध्यायः

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

ये भक्ताः एवम् सततयुक्ताः त्वाम् पर्युपासते ये च अपि अव्यक्तम् अक्षरम् (पर्युपासते) तेषां के योगवित्तमाः?

हे कृष्ण! आप आज सारे विश्व को महाभारत राज्य के एक सूत्र में बाँधना चाहते हैं। आपके सैंकड़ों भक्त आप को घेरे रहते हैं तथा कर्मयोग और राजयोग दोनों की शिक्षा प्राप्त करते हैं। किन्तु बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो इस निराकार अनादि अनन्त प्रभु को बिना किसी गुरु की सहायता के पाने का यत्न करते हैं। इनमें से कौन बड़े योगवित् हैं?

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

ये नित्युयक्ताः मयि मनः आवेश्य नित्यम् माम् उपासते ते परया श्रद्धया उपेताः मे युक्ततमाः मताः।

हे अर्जुन! जिस महान् विश्व कल्याण के कार्य में मैं लगा हूँ, उसमें जो रात-दिन लगे हैं, जिन्होंने अपना मन मुझ पर लगा दिया और नित्य इस महान् कार्य में सहायक होकर मेरे पास उपस्थित रहते हैं, जिनकी परमात्मा में ऐसी ही परम श्रद्धा है जैसी मेरी, वे लोग मेरी दृष्टि में युक्ततम हैं, क्योंकि उनके योगाभ्यास की परीक्षा कर्मयोग में नित्य होती रहती है। एकान्त में रहकर योगाभ्यासी ने काम-क्रोधादि विकारों को जीतने का अभ्यास कहाँ तक किया है, इसकी परीक्षा तो कर्मयोग में ही होती है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥

ये तु अक्षरम अनिर्देश्यम् अव्यक्तम् सर्वत्रगम् अचिन्त्यम् कूटस्थम् अचलम् ध्रुवम् च पर्युपासते।

किन्तु हे अर्जुन! किसी गुरु की संगति के बिना भी जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, और ध्रुव उस प्रभु की उसी को चारों ओर देखते हुए उपासना करते हैं।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

इन्द्रियग्रामम् संनियम्य सर्वत्र समबुद्धयः (पर्युपासते) ते सर्वभूतहिते रताः माम् एव प्राप्नुवन्ति।

(यह उपासना वे) इन्द्रिय-समूह को पूर्ण रूप से वश में कर के करते हैं तथा जितने अंश में प्राणि-मात्र समान हैं उतने अंश में समान बुद्धि से देखते हैं अर्थात् प्राणि-मात्र के दुःख को अपना दुःख जानते हैं, वे मेरे शिष्य अथवा अनुयायी बनकर मेरे पास न रहें तो भी वे मुझ तक ही पहुँचते हैं, क्योंकि वे प्राणि-मात्र के हित में रत हैं (और यही मेरा भी लक्ष्य है)।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् अधिकतरः क्लेशः, हि देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखम् अवाप्यते।

जो बिना गुरु की सहायता के उस अव्यक्त निराकार परमात्मा के जानने में आसक्त-चित्त होते हैं, उन्हें कुछ अधिक कष्ट उठाना पड़ता है। (जो सहायता मुझे सान्दीपनि समान गुरु से मिली है वह उन्हें नहीं मिलती) क्योंकि बिना गुरु के अन्धेरे में टटोलने के समान गति से यद्यपि दृढ़ निश्चय वाला देही अन्त को लक्ष्य पर पहुँच तो जाता है, परन्तु इस अव्यक्त गति में कुछ दुःख अधिक उठाना पड़ता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः मां ध्यायन्तः अनन्येन एव योगेन (मद्ध्येयभूतम् परमात्मानम्) उपासते।

जो लोग तो मुझे गुरु समझ कर मेरे सदृश बनने में तत्पर सच्चे प्रभु-भक्त के रूप में मेरा ध्यान करते हुए (मेरी तरह) अनन्य योग से मेरे उपास्य देव परमात्मा की उपासना करते हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

अहम् मयि आवेशित-चेतसाम् तेषाम् मृत्यु-संसार-सागरात् न चिरात् समुद्धर्ता भवामि।

मैं उन मेरे सदृश बनने में चित्त लगाने वाले भक्तों का शीघ्र ही पग-पग पर मृत्यु-भय से भरे संसार सागर से उद्धार करने वाला बन जाता हूँ अर्थात् मेरे ही समान वे मरते भले ही हैं; परन्तु उनको मृत्यु-भय बिलकुल नहीं रहता।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

त्वम् मयि एव मनः आधत्स्व मयि बुद्धिम् निवेशय, अतः ऊर्ध्वम् त्वम् मयि एव निवसिष्यसि (अत्र) न संशयः।

तू मेरे चरित्र तथा दिनचर्या के अनुकरण में मन लगा और अन्धानुकरण न करके मेरे चरित्र और मेरे वचनों को समझने में बुद्धि लगा। तब उनका वास्तव में अनुकरण होगा और जब तू ऐसा कर लेगा, उसके पश्चात् तू मुझ में ही निवास करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

हे धनञ्जय! अथ त्वम् चित्तम् मयि स्थिरम् समाधातुं न शक्नोषि, ततः अभ्यासयोगेन माम् आप्तुम् इच्छ।

हे धनञ्जय! यदि मेरा अनुकरण करने के लिये तुम मेरे चरित्र में अपने मन को स्थिर रूप से एकाग्र नहीं कर सकते तो मेरे चरित्र के एक एक अंग का धीरे धीरे अभ्यास करके मेरे तक पहुँचने का यत्न कर।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

(यदि) अभ्यासे अपि असमर्थः असि (ततः) मत्-कर्म-परमः भव। मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिम् अवाप्स्यसि।

हे अर्जुन! आर्यों के विशाल महाभारत साम्राज्य के स्थापन का बीड़ा मैंने उठाया है। यदि तू मेरे चरित्र के एक देश के अनुकरण के अभ्यास में भी असमर्थ है तो मेरे लक्ष्य की पूर्ति में पूरा बल

लगा दे। मेरे इस महान् विश्व-कल्याणकारी संकल्प की पूर्ति के लिये यथाशक्ति कर्म करता करता भी तू सिद्धि तक पहुँच जायेगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अथ मद्योगम् आश्रितः एतद् अपि कर्त्तुम् अशक्तः असि, ततः यतात्मवान् सर्व-कर्म-फल-त्यागम् कुरु।

हे अर्जुन! मैं संसार को व्यक्ति-पूजा सिखाने नहीं आया। जो मेरे योग में आस्था रखते हैं, मुझे नेता तथा गुरु मानते हैं, वे महाभारत साम्राज्य की स्थापना रूप पुण्य यज्ञ में किस किस प्रकार सहयोग दें, यह मैंने बता दिया। परन्तु यदि तू यह सब कुछ भी नहीं कर सकता, तो व्यक्तिगत रूप से जो भी लोकोपकार का कर्म तुझे रुचे उसे सर्व-कर्म-फल-त्याग-पूर्वक कर क्योंकि अन्ततोगत्वा सबका ध्येय तो यही है। सो आत्म-संयम-पूर्वक ऐसा कर।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

हि अभ्यासात ज्ञानं श्रेयः, ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते, (यतः) ध्यानात् कर्म-फल-त्यागः, त्यागात् अनन्तरम् शान्तिः।

अभ्यास से ज्ञान का स्थान ऊँचा है, क्योंकि ज्ञान न होने से उलटा अभ्यास (मूर्ति-पूजादि) करने से और अधिक हानि होती है। ज्ञान से महापुरुषों के चरित्र तथा परम पुरुष परमात्मा का ध्यान और भी विशेष स्थान रखता है। क्योंकि ज्ञान-मात्र से कोरा ज्ञान ही रह जाता है। वह आचरण में परिवर्त्तित नहीं होता। किन्तु ध्यान से फिर सब शुभ कर्मों की चरमावस्था सर्व-कर्म-फल-त्याग की प्राप्ति होती है और इसके अनन्तर ही शान्ति प्राप्त होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥

(यः) सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा मैत्रः करुणः एव च निर्ममः निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।

जो प्राणि-मात्र का अद्वेष्टा है। न केवल अद्वेष्टा है किन्तु मैत्र भी है अर्थात् उनसे स्नेह करता है तथा उनके दुःख में करुणा करता है। किसी वस्तु में ममता नहीं रखता, क्योंकि भक्ति-रस में उसका

अहंकार डूब जाता है। इसलिये प्रभु-सेवा में सुख पाकर वह मदोन्मत्त नहीं होता और दुःख पाकर त्रस्त नहीं होता, दोनों में एक-रस प्रभु-सेवक रहता है। इसलिये वह प्रभु की प्रजा द्वारा किये गये बड़े से बड़े तिरस्कारों और अपराधों को क्षमा करना जानता है।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

यः सततं सन्तुष्टः योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः मयि अर्पितमनोबुद्धिः सः मद्भक्तः सः मे प्रियः।

जो सदा सन्तुष्ट है, निरन्तर योगाभ्यास तथा कर्म-योगाभ्यास करता है, किसी महान् यज्ञ का अंग-भूत होकर उसके एक देश को लक्ष्य बनाकर उसमें चित्त लगा कर आत्म-संयम प्राप्त करता है तथा दृढ़-निश्चय से उस संयम को स्थायी बनाता है। बस मेरे महान् लक्ष्य महाभारत साम्राज्य की पूर्ति में जिसने अपना मन तथा अपनी बुद्धि अर्पित की है, वह मेरा भक्त है और वही मेरा प्यारा है। (जो इसके विपरीत केवल कृष्ण की मूर्ति बनाकर उस पर फूल चढ़ाता है, उसे श्रीमद्भागवत में—

'यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिने न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥'

(दशमस्कन्ध)

अर्थात् जो इस वात, पित्त, कफ इन तीन धातुओं की बनी लाश को आत्मा समझता है। पुत्रादि को अपनी सम्पत्ति जानता है तथा पार्थिव पत्थर आदि पदार्थों को पूज्य मानता है तथा जल को तीर्थ मानता है, वह कभी समझदार लोगों में नहीं गिना जाता, वह तो गाय का बोझा ढोने वाला गधा है।

गाय का चारा ढोने वाला इसलिये कहा कि वही महापुरुषों की मूर्तियाँ भक्तों को उनका उत्तम चरित्र स्मरण दिलाकर कल्याण का साधन बनती हैं सो राम वशिष्ठ वाल्मीकि आदि की मूर्तियाँ अनुकरण करने वाले भक्तों का चारा हैं। किन्तु मूर्तियों पर फूल चढ़ाने वाला इस बोझे को ढोने वाला गधा मात्र है। सो महापुरुषों से अद्वेष, मैत्री, करुणा, निरहंकारिता, क्षमा, सन्तोष आदि गुणों को सीखने वाले जो भक्त हैं, वे ही कृष्ण सरीखे महापुरुषों को प्यारे हैं। शेष श्रीमद्भागवत

के शब्दों में गोखर अर्थात् गाय का चारा ढोने वाले गधे हैं।

फिर श्रीकृष्ण अपने प्यारे उन भक्तों का और अधिक वर्णन करते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

स च मे प्रियः यस्मात् लोकः न उद्विजते यः च लोकात् न उद्विजते यः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः।

और वह मेरा प्यारा है, जिससे मिलते हुए लोग घबराते नहीं कि खाने को पड़ेगा तथा जो बड़े से बड़े पापी तथा जघन्य से जघन्य रोगी से घृणा नहीं करता और जो हर्ष, क्रोध, भय तथा घृणा से मुक्त है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

स मे प्रियः, यो मद्भक्तः अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः सर्वारम्भ-परित्यागी (च)।

वह मेरा प्यारा है जो मेरा भक्त किसी प्रकार के प्रलोभन की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये अपने व्यवहार में शुचि है, साथ ही कार्य में चतुर भी है। पक्षपात-रहित है, कभी लोक-सेवा में थकावट अनुभव नहीं करता तथा स्वार्थ-बुद्धि से किये जाने वाले सब समारम्भों का परित्याग कर चुका है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

स मे प्रियः, यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति यः शुभाशुभ-परित्यागी भक्तिमान्।

वह मेरा प्यारा है, जो हर्ष से उन्मत्त नहीं होता। दुःख से द्वेष नहीं करता। कर्त्तव्य-पालन में हानि हो तो शोक नहीं करता। कर्त्तव्य-पालन में सफलता मिलने पर बदले में कुछ चाहता नहीं। जो भक्तिमान् है, इसलिये पवित्र कार्य में शुभ अथवा अशुभ (मुहूर्त्त के विचार) परित्याग करके चलता है, क्योंकि उसे अपनी प्रभु-भक्ति पर तथा प्रभु की शक्ति पर विश्वास है। ऐसा भक्तिमान् (मेरा प्यारा है)।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥

शत्रौ मित्रे च समः तथा मानापमानयोः समः शीतोष्ण-सुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।

जो शत्रु से द्वेष तथा मित्र से पक्षपात नहीं करता, मान से उन्मत्त नहीं होता, अपमान से कर्त्तव्य-विमुख नहीं होता, शीतोष्ण सुख-दुःख सब अवस्थाओं में समान रूप से अविक्षुब्ध रहता है, जो इतना आसक्ति-रहित है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

यः तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी येन केन चित् सन्तुष्टः अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् नरः सः मे प्रियः।

जो निन्दा से घबराता नहीं, स्तुति से ठगा नहीं जाता और इसका प्रमाण यह है कि दोनों को चुपचाप मौन होकर सुन लेता है, जो कुछ भी जीवन-यात्रा-मात्र-पर्याप्त मिल जाय, उससे सन्तुष्ट रहता है। अपने लक्ष्य में स्थिर है, किन्तु लक्ष्य-पूर्ति के लिये जहाँ भी रहना पड़े, वहीं प्रसन्न है। किसी स्थान विशेष में आसक्त नहीं, जो इस प्रकार का भक्तिमान् है, वह मेरा प्यारा मनुष्य है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

ये तु इदम् धर्म्यामृतम् यथोक्तम् श्रद्दधानाः मत्परमाः पर्युपासते ते भक्ताः मे अतीव प्रियाः।

जो लोग इस धर्म अर्थात् कर्त्तव्य-पालन में उपयोगी अमृत को ठीक जैसे बताया है, वैसे विवेक-पूर्वक समझकर सेवन करते हैं तथा श्रद्धापूर्वक मेरे महान् लक्ष्य धर्म-साम्राज्य की स्थापना में तत्परतापूर्वक मेरे सहायक हैं। वे मेरे अत्यन्त प्यारे हैं (तू भी उसमें बाधक इन शत्रुओं को मार कर मेरा सहायक बन)।

इति द्वादशोऽध्यायः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

पिछले १२ अध्यायों में वेदव्यास जी ने श्रीकृष्ण के मुख से भक्तियोग तथा कर्मयोग का स्वरूप दिखा दिया। जितने बड़े नेता हैं, उनका कल्याण विराट् रूप की उपासना में है। क्योंकि इससे अभिमान की निवृत्ति होती है। परन्तु यह उपासना साधारण मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इस बात को एक दृष्टान्त से समझाते हैं। यदि मनुष्य थोड़ा गम्भीरता से सोचे तो हम में से हर मनुष्य की अवस्था वही है जो मृत्युदण्ड सुनाए जाने के पश्चात् फाँसी की कोठरी में रहने वाले मनुष्य की है। हर मनुष्य को जन्मते ही मृत्युदण्ड सुना दिया जाता है। परन्तु यदि सब मनुष्य प्रभु-प्रदत्त विस्मरण शक्ति के बल पर इस बात को भुला न सकें तो अधिकांश मनुष्यों का तो खाना-पीना बन्द हो जाय और वे सूख सूख कर मर जावें। दूसरी ओर इस विस्मरण शक्ति के बल पर ही मनुष्य नाना प्रकार के कुकर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिये विद्वानों ने कहा है **'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'** मनुष्य धर्माचरण इस प्रकार करे, मानों मौत सिर पर खड़ी है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

मनुष्य विद्योपार्जन तथा अर्थोपार्जन तो बिलकुल निश्चिन्त होकर करे। 'अजी कर लेंगे विद्या तथा धन भी इकट्ठा! क्या जल्दी है? कौन-सी मौत सिर पर खड़ी है? धर्म बटोरो धर्म, जितना बटोरा जाय। न जाने किस क्षण बुलावा आ जाय।' यह हमारी मनोवृत्ति होनी चाहिये, परन्तु है इससे ठीक उलटी—'अजी भजन चिन्तन, कर्त्तव्य-पालन यह धर्म-कर्म की बात समय पड़ने पर कर लेंगे या किसी से करवा लेंगे। कौन-सी जल्दी है? हाँ विद्या जिससे धन मिले तथा धन जिससे सब कुछ खरीदा जा सकता है, उसके बटोरने में लगो, न जाने कब बुलावा आ जाय।'

सो पहिली में स्मरण-शक्ति तथा विस्मरण-शक्ति का ठीक समन्वय है, दूसरी में आसुर समन्वय। सो मृत्यु के ठीक स्वरूप का समझना तथा कब स्मरण तथा कब विस्मरण करना यह सीख कर

अभ्यास द्वारा वैसी समन्वयशील अवस्था उत्पन्न करना ही सम्यक् ज्ञान की पराकाष्ठा है। यही वह सञ्ज्ञपन है, जिसका ठीक अर्थ न समझ कर मध्य काल के मीमांसकों ने मांसल-प्रज्ञ की उपाधि प्राप्त की। इसीलिये शतपथ में संज्ञपन की व्याख्या में लिखा है—

मृत्यवे ह्येतम् नयन्ति, न वा एतं मृत्यवे नयन्ति यं यज्ञाय नयन्ति।

—शतपथ० ३.८.१.१०

जिसका संज्ञपन करते हैं उसे मृत्यु के लिये ले जाते हैं...............अथवा मृत्यु के लिये नहीं ले जाते, यज्ञ के लिये ले जाते हैं।

बस यही यज्ञ के लिये अर्थात् संगठन के लिये बलिदान होते समय मृत्यु का न केवल भय न करना, किन्तु उसमें एक अत्यन्त उल्लास अनुभव करना यही संज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान है तथा शिष्य में यह ज्ञान उत्पन्न करना संज्ञपन है। जो जितना महान् पुरुष होता है उसे मृत्यु के उतने ही विकराल रूप का स्मरण करने की आवश्यकता रहती है। श्रीकृष्ण अपने युग के महान् से महान् पुरुषों में से एक थे। ऋषि-मुनियों में वेदव्यास आदि एक आध को छोड़कर वह अद्वितीय पुरुष थे। इसलिये उन्हें मृत्यु नहीं महामृत्यु महाकाल (कालोऽस्मि) के स्मरण की आवश्यकता थी और वे ऐसा करते थे, परन्तु साधारण मनुष्य तो यदि महामृत्यु को छोड़ साधारण मृत्यु का भी स्मरण नित्य करने लगें तो उनके हाथ-पैर फूल जावें। इसलिये अपने महान् होने का यह रहस्य उन्होंने अधिकारी समझ कर अर्जुन को बताया, क्योंकि वह स्वजन-मृत्यु से डरता था, किन्तु अपनी मृत्यु से तो बिलकुल नहीं डरता था। वह पूर्ण क्षत्रिय था।

इस प्रकार १२वें अध्याय तक श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को अपने भक्ति-योग का गूढ़तम रहस्य विराट् पुरुष की उपासना तक बता दिया। अब १३वें अध्याय से गीता का अध्यात्म दर्शन-शास्त्र आरम्भ होता है। इसका आरम्भ भी एक अति सुन्दर किन्तु रहस्यमय शब्द से होता है। वह शब्द है 'क्षेत्र'। परमात्मा सारे ब्रह्माण्ड में रहता है, वह जगन्निवास है। जीवात्मा अपनी शक्ति से जिस शरीर में रहे, उसे व्याप्त करके रहता है, यद्यपि वह अणु परिमाण है। किन्तु इनके निवास में थोड़ा भेद है, जीवात्मा को शरीर में 'अहम्-बुद्धि' तथा

'ममत्व-बुद्धि' है, किन्तु परमात्मा ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर भी उससे पृथक् है। इसलिये यदि हम परमात्मा को शरीर कहें तो आलंकारिक भाषा में तो ठीक हो सकता है, किन्तु दार्शनिक भाषा में यह शब्द परमात्मा में देहाध्यास का सूचक होने के कारण भ्रमोत्पादक हो सकता है। इसलिये कोई शब्द ऐसा ढूँढ़ना है जो जीवात्मा के शरीर-वास तथा परमात्मा के प्रकृति-वास दोनों को कह सके, किन्तु देहाध्यास का—'अहम् बुद्धि' तथा 'ममत्व-बुद्धि' का भ्रम उत्पन्न न कर सके। वह शब्द 'क्षेत्र' है जो 'क्षि निवासे' इस धातु से बना है। देह जीवात्मा का क्षेत्र है तथा जीवात्मा इसका क्षेत्रज्ञ है। ब्रह्माण्ड परमात्मा का क्षेत्र है तथा परमात्मा ब्रह्माण्ड का क्षेत्रज्ञ तथा योग द्वारा देहाध्यास पर विजय पाने वाला श्रीकृष्ण सरीखा योगी, महाभारत साम्राज्य जैसे विशाल कर्म-क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ। इसी ध्वनि को उत्पन्न करने के लिये गीता का आरम्भ 'धर्म-क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इन शब्दों से हुआ है। यही 'क्षेत्र' शब्द इस अध्याय का गीता से सम्बन्ध स्थापित करता है। अन्यथा गीता तो विराट् पुरुष के दर्शन के साथ समाप्त हो जानी चाहिये थी। उपसंहार में—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ (१८.७७)

यह श्लोक रख कर भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने इसी भाव को सूचित किया है।

अतः अब १३वें अध्याय से भगवान् कृष्म द्वैपायन, वैदिक दर्शन-शास्त्र श्रीकृष्ण के मुख से कहलाते हैं। इस अध्याय के १९वें श्लोक में स्पष्ट ही प्रकृति तथा पुरुष दोनों को अनादि कहा है। पुरुष की व्याख्या में जीवात्मा को पुरुष (२१ श्लोक) तथा परमात्मा को परम पुरुष (२२ श्लोक) कह कर जीव-ईश्वर-प्रकृति तीन अनादि की बात इतने स्पष्ट शब्दों में कही है कि उसमें सन्देह को स्थान नहीं। यही बात '**जगद्-व्यापार-वर्जम्**' इस वेदान्त-सूत्र में भी बिलकुल स्पष्ट हो गई है। फिर जो यह विवर्त्तवाद अथवा जगत्-मिथ्यावाद चला है यह भगवान् कृष्ण द्वैपायन के आशय के बिलकुल विपरीत है, चाहे इसके मूल प्रचारक पूज्य विद्वच्छिरोमणि ब्रह्मचर्य-मूर्ति भगवान् शंकराचार्य ही क्यों न हों? इस उत्थानिका के साथ अध्याय की व्याख्या

आरम्भ होती है—

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

हे कौन्तेय! इदं शरीरम् क्षेत्रम् इति अभिधीयते, यः एतत् वेत्ति तद्विदः तम् क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः।

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नाम से पुकारा जाता है तथा तत्त्वज्ञानी लोग जो इस शरीर को जाने उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि हे अर्जुन! परमात्मा भक्तों को बताते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

हे भारत! माम् च सर्वक्षेत्रेषु अपि क्षेत्रज्ञं विद्धि। यत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः ज्ञानम् तत् मम ज्ञानम् मतम्।

हे अर्जुन! यह संसार तीन का बना है। एक क्षेत्र, दूसरा क्षेत्रज्ञ, तीसरा सर्व-क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ। सो परमात्मा कहते हैं कि मुझे तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ जान, क्योंकि क्षेत्र जड़ है, कुछ ज्ञान नहीं रखता। क्षेत्रज्ञ अल्पज्ञ जीव है। जो इन दोनों का ज्ञान रखता है वह मैं हूँ। मेरा ज्ञान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का यथार्थ ज्ञान है। अथवा यदि इस वाक्य को श्रीकृष्ण जी का ही वाक्य मान लें तो भी क्षति नहीं। श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ दोनों दो हैं—एक जीव जो देह-क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है दूसरा परमात्मा जो सर्वक्षेत्र रूप क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है अर्थात् एक अल्पज्ञ तथा दूसरा सर्वज्ञ। प्रायः लोग देह नामक क्षेत्र के ही क्षेत्रज्ञ होते हैं। किन्तु हे अर्जुन! मैंने योगाभ्यास तथा प्रभु-भक्ति द्वारा अल्पज्ञ तथा सर्वज्ञ दोनों का ही ज्ञान प्राप्त किया है। सो दोनों का स्वरूप तुझे समझाने लगा हूँ, यह मेरा ज्ञान है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

तत् क्षेत्रम् यत् च यादृक् च यद्विकारि यतः च यत्, स च यः यत्प्रभावः च तत् समासेन मे शृणु।

वह क्षेत्र जो है (अर्थात् देह+तथा सर्वक्षेत्र), वह जिस प्रकार का है और जिसमें विकार होने से जिससे जिसका प्रादुर्भाव हुआ है तथा वह प्रादुर्भाव करने वाला जो है तथा उसका क्या प्रभाव है यह तू अतिसंक्षेप से मुझ से सुन ले।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

ऋषिभिः विविधैः छन्दोभिः बहुधा पृथक् गीतम्, हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्र-पदैः च एव (बहुधा गीतम्)।

यह सारा अध्यात्म-ज्ञान ऋषियों ने नाना छन्दों में अलग-अलग अनेक रूप से गाया है तथा युक्तियुक्त सुनिश्चित ज्ञान देने वाले ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी इसका गान किया गया है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

महाभूतानि अहंकारः बुद्धिः अव्यक्तम् एव च दश इन्द्रियाणि एकम् च, पञ्च इन्द्रियगोचराः च।

पाँच महाभूत, सूक्ष्म विशुद्ध रूप अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, दश इन्द्रियाँ और एक मन तथा पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् पाँचों तत्त्वों के श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

इच्छा द्वेषः सुखम् दुःखम् संघातः चेतना धृतिः समासेन एतत् क्षेत्रम् सविकारम् उदाहृतम्।

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, देह तथा आत्मा का संयोग, देह में जीव की पृथक्-पृथक् सुप्त तथा प्रबुद्ध चेतना तथा आयु इतना क्षेत्र सविकारी क्षेत्र कहा गया है।

अब अगले ५ श्लोकों में ज्ञान का स्वरूप बताते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा क्षान्तिः आर्जवम् आचार्योपासनम् शौचम् स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः।

अभिमान रहित होना, दम्भरहित होना, हिंसा को संसार से दूर करना, क्षमा शान्ति, सरलता, आचार्य की सेवा करके ज्ञान प्राप्त करना, शुचिता, स्थिरता, आत्मसंयम।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ ८॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् अनहङ्कारः एव च, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम्।

इन्द्रियार्थ अर्थात् विषयों की ओर से वैराग्य, अनहंकार (मानित्व, शेखी मारने का नाम है, अहंकार अभिमान का सूक्ष्म रूप है, जिसका परिणाम दूसरों की बात सुनने से भी इन्कार करना होता है) जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा अन्य दुःख रूप दोषों के साथ मुझे लड़ना है तथा ये हर पदार्थ में किस प्रकार छिपे हुए हैं, इसका अनुचिन्तन द्वारा ज्ञान सदा प्राप्त करते रहना।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

पुत्रदारगृहादिषु असक्तिः अनभिष्वङ्गः इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यम् समचित्तत्वम् च।

पुत्र, स्त्री, घर आदि में अनासक्त होकर रहना अर्थात् कर्त्तव्य-पालन तो करना, किन्तु मोह में फँसकर उनके कारण न्याय से नहीं भागना (जैसा अर्जुन भाग रहा है) तथा इष्ट वस्तु को पाकर पागल नहीं होना तथा अनिष्ट के आने पर हतोत्साह नहीं होना, दोनों अवस्थाओं में नित्य समचित्त रहना।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मयि च अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः विविक्तदेशसेवित्वम जनसंसदि अरतिः।

मैं जो महाभारत साम्राज्य की स्थापना में लगा हुआ हूँ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये, अन्य किसी ओर समाहित न होकर मुझ पर

अव्यभिचारिणी भक्ति (अथवा अन्य किसी भी लोकोंपकारी पुण्यात्मा में अनुकरणात्मक भक्ति जैसाकि इसी अध्याय में १८वें श्लोक में स्पष्ट करेंगे, मैं तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' की तरह उपलक्षण मात्र हूँ), चिन्तनार्थ तथा आत्म-निरीक्षणार्थ एकान्त-सेवी होना व्यर्थ की भीड़-भाड़ में (शेखी बघारने के लिये) प्रेम न होना।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् एतत् ज्ञानम् इति प्रोक्तम् यद् अतः अन्यथा तत् अज्ञानम्।

प्राकृतिक भोगों से विमुख होकर अन्तर्मुख होना तथा नित्य अध्यात्म ज्ञान की खोज में रहना। जब किसी पदार्थ को देखना तो तत्त्वज्ञान के लिये न कि ऊपरी रंग रूपादि में आसक्त होकर मनोविनोद मात्र के लिये, ये इतनी बातें जो कही हैं, इनका नाम ज्ञान है, इससे विपरीत जो है, सो अज्ञान है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

यत् ज्ञेयम् (इदानीम्) तत् प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते; तत् अनादिमत् परम् ब्रह्म तत् न सत् उच्यते न असत्।

अब ज्ञान का जो परम उद्देश्य है, जिसे पाकर जीव, मृत्यु के भय तथा मृत्यु-जन्य कष्ट से छूट कर प्रभु-भक्ति रूप अमृत का नित्य आस्वादन करता है, उसका वर्णन करूँगा। यह अनादि परब्रह्म है, उसकी सत्ता को इयत्ता से कोई नहीं जान सकता। अत्यन्त सूक्ष्म एक आध गुण को ही मनुष्य जान सकता है। इन अर्थों में वह असत् है, परन्तु है, इसलिये सत् है। सो उसे सत् तथा असत् दोनों कहा जाता है।

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

लोके तत् सर्वतःपाणिपादम् सर्वतःअक्षिशिरोमुखम् सर्वतःश्रुतिमत् सर्वम् आवृत्य तिष्ठति।

उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर आँख तथा सिर हैं, सब

ओर कान हैं और सारे ब्रह्माण्ड को अपने में लपेट कर स्थित है। यह ऊटपटांग-सी दीखने वाली बात किस प्रकार ठीक हो सकती है, यह अगले श्लोक में बताते हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम् सर्वेन्द्रिय-गुणाभासम् असक्तं सर्वभृत् च एव निर्गुणम् गुणभोक्तृ च।

वह ब्रह्म सब इन्द्रियों से रहित है तो भी काम सब इन्द्रियों के कर सकता है। इसलिये उसमें सब इन्द्रियाँ हैं। ऐसा आभास **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'** (कठ उपनि०) तथा **'बिन पग सुनै बिनु काना'** (तुलसी) आदि वाक्यों से होता है। सो वहाँ सुनने का अर्थ, जो ज्ञान मनुष्य कान से सुनकर प्राप्त करता है उसका अन्तर्यामी होने के कारण परमात्मा को स्वयम् ज्ञान हो जाता है, इसलिये शब्द-जन्य विकल्प मात्र सुनना, देखना आदि शब्दों का ब्रह्म के विषय में व्यवहार है। वह सब प्राणि-मात्र का भरण करता है, परन्तु असक्त होकर स्वयम् निर्गुण है, किन्तु हर गुणी के गुण को यथार्थ रूप से जानने के कारण गुण-भोक्ता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

भूतानाम् बहिः अन्तः च चरम् अचरम् एव च, तत् सूक्ष्मत्वात अविज्ञेयम् (इति) तत् दूरस्थम् च (व्यापकत्वात्) अन्तिके च।

वह प्राणि-मात्र के बाहर अन्दर पहुँचा हुआ है, इसलिये ब्रह्माण्डचारी है, परन्तु पहिले ही विद्यमान है, कहीं से चलकर कहीं नहीं जाता, इस दृष्टि से अचर है। वह अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण जाना नहीं जा सकता। इन अर्थों में दूरस्थ है, परन्तु वस्तुतः तो वह सदा सर्वत्र सबके पास है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

तत् च अविभक्तम् भूतेषु विभक्तम् इव स्थितम् (तत्) भूतभर्तृ च ग्रसिष्णु च प्रभविष्णु च ज्ञेयम।

वह किसी प्रकार भी खण्डित नहीं हो सकता, किन्तु भक्त लोग मेरा प्रभु मेरे हृदय में बैठा है, इस प्रकार प्रेमवश उसे खण्डित-सा कर लेते हैं। इसी प्रकार वह प्राणि-मात्र का भर्त्ता संहर्त्ता तथा स्वामी तीनों है, परन्तु भक्त लोग अपनी भक्ति के लिये तीनों गुणों वाला अलग-अलग करके याद कर लेते हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं च हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

(तत् ब्रह्म) तमसः परम् ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः उच्यते (तत्) सर्वस्य हृदि विष्ठितम् ज्ञानगम्यम् ज्ञानम् ज्ञेयम्।

वह प्रभु समस्त अन्धकार से परे ज्योतियों की भी ज्योति है। वह सबके हृदय में विराजमान ज्ञानगम्य ज्ञान है नेत्रादिगम्य नहीं, ऐसा सबको जानना चाहिये।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

इति (मया) क्षेत्रम्, ज्ञानम्, ज्ञेयम् च समासतः उक्तम् एतद् विज्ञाय मद्भक्तः मद्भावाय उपपद्यते।

इस प्रकार मैंने क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय इन तीनों का संक्षेप से वर्णन कर दिया। इसको जान कर मेरा भक्त मेरे सदृश बनने के लिये कमर कस लेता है अर्थात् मेरे सदृश ही प्रभु-भक्त बन जाता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥

प्रकृतिम् पुरुषम् च एव उभौ अपि अनादी विद्धि, विकारान् गुणान् च प्रकृतिसम्भवान् विद्धि।

हे अर्जुन! तू प्रकृति तथा पुरुष दोनों को अनादि समझ तथा पुरुष में जो विकार आते हैं तथा भौतिक पदार्थों के विकृत रूप तथा जो सत्त्व-प्रधानता, रजस्-प्रधानता, तमस्-प्रधानता आदि गुण हैं ये सब प्रकृति से उत्पन्न होते हैं।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

कार्यकरण-कर्तृत्वे प्रकृतिः हेतुः उच्यते, सुखदुःखानाम् भोक्तृत्वे

पुरुषः हेतुः उच्यते।

देहादि कार्य, देह के कारण-भूत, पंचभूत तथा उनसे मिल कर भिन्न-भिन्न क्रियाओं का कर्त्ता शरीरचारी इन तीनों रूपों का हेतु प्रकृति है। देही देह बिना कर्त्ता कैसे बने? इसलिये कार्यत्व, कारणत्व, तथा कर्तृत्व तीनों का हेतु प्रकृति है। किन्तु सुख दुःख का भोक्ता इनमें से कोई नहीं, इसमें हेतु पुरुष है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

प्रकृतिस्थः हि पुरुषः प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते, अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं गुणसङ्गः।

प्रकृति-जन्य पाँच भौतिक देहों में स्थित पुरुष प्रकृति के गुणों का भोग करता है। इन नाना प्रकार की अच्छी बुरी योनियों में होने वाले जन्मों का कारण इसका प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के भिन्न-भिन्न मात्राओं में भिन्न-भिन्न संयोगों के साथ संग होना है।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ २२॥

अस्मिन् देहे परः पुरुषः उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमात्मा च अपि इति (नाना पर्याय-शब्दैः) प्रोक्तः।

वह परमात्मा भी इसी देह में रहता है, किन्तु उपद्रष्टा बन कर अर्थात् साक्षी बनकर, अनुमन्ता बनकर, जो सर्वात्मना निष्काम भाव से आत्म-समर्पण कर दें, उनका भर्त्ता अर्थात् भरण-कर्त्ता (=राज़िक) बन कर, भोक्ता अर्थात् पालन-कर्त्ता (=मुहाफ़िज़) बनकर। (भुज् धातु के पालन तथा अभ्यवहार दो अर्थ हैं यहाँ महेश्वर परमात्मा आदि शब्दों के साहचर्य से पालन अर्थ लेना चाहिये, अभ्यवहार नहीं)। इस प्रकार इन उपद्रष्टा आदि तथा महेश्वर परमात्मा इत्यादि शब्दों से उस परम पुरुष को ही पुकारा गया है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

यः पुरुषम् प्रकृतिम् च एवं गुणैः सह वेत्ति सर्वथा (संसारचक्रे विपरि) वर्त्तमानः अपि स भूयः (साधारणे जन्मनि) न अभिजायते (दिव्ये जन्मनि तु श्रीकृष्णादिवत् जायत एव)।

जो मनुष्य पुरुष तथा प्रकृति को इस प्रकार अर्थात् परमात्मा साक्षी रूप है जीवात्मा नाना योनियों में जन्म लेने वाला है तथा प्रकृति का संग नाना गुण उत्पन्न करने वाला है, इस प्रकार जानता है वह यद्यपि संसार-चक्र में वर्तमान रहता है, तथापि उसका साधारण भोगार्थ जन्म फिर नहीं होता (श्रीकृष्णादिवत् लोक-कल्याणार्थ अपवर्गार्थ जन्म तो होता ही है)।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

केचित् ध्यानेन आत्मनि (परमात्मानम्) पश्यन्ति, केचित् आत्मानम् (परमात्मानम्) आत्मना पश्यन्ति अन्ये सांख्येन योगेन पश्यन्ति अपरे च कर्मयोगेन पश्यन्ति।

कई लोग तो उस परमात्मा को उसकी रचना में अथवा महापुरुषों के चरित्र में अथवा अन्य किसी उपाय से ध्यान लगा कर जिससे परमात्मा में ध्यान लगे, नेत्रादि इन्द्रियों के विषयों में नहीं, उस परमात्मा को फिर अपने अन्दर देखते हैं। कोई सीधे अन्तर्मुख होकर अपनी अल्पज्ञता तथा अल्पशक्तिता का साक्षात्कार तथा सर्वशक्तिमान् की महिमा आत्मा के द्वारा जानते हैं। कोई वैज्ञानिक बनकर पदार्थों का अन्यूनानतिरिक्त यथार्थ संख्या-युक्त रूप देखते-देखते सांख्य-योग से उसे पा लेते हैं और कोई कर्मयोग से जैसे श्रीकृष्ण।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

अन्ये तु एवम् अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते, ते अपि च श्रुतिपरायणाः मृत्युम् अतितरन्ति एव।

और कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो न ध्यान में समर्थ हैं न अन्तर्दर्शन में, न सांख्य-योग में न कर्मयोग में। वे तत्त्वज्ञानियों से सुन-सुन कर कोई न कोई मार्ग पा लेते हैं, ऐसे श्रवण-परायण श्रवण-योगी भी मृत्यु-भय रूप सागर के पार उतर ही जाते हैं।

यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

हे भरतर्षभ! स्थावर-जङ्गमं यावत् किञ्चित् सत्त्व संजायते तत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात् (जायते इति) विद्धि।

हे भरतर्षभ! इस ब्रह्माण्ड में स्थावर जंगम जो भी कोई देहधारी उत्पन्न होता है वह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

यः सर्वेषु विनश्यत्सु भूतेषु अविनश्यन्तम् समम् तिष्ठन्तम् परमेश्वरम् पश्यति सः पश्यति।

जो इस विनाशी पञ्चभूतों के संसार में अविनाशी रूप सदा एकरस ठहरने वाले परमेश्वर को देखता है वही यथार्थ में देखता है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

सर्वत्र समम् समवस्थितम् ईश्वरं पश्यन् हि आत्मना आत्मानं न हिनस्ति ततः पराम् गतिम् याति।

जो सर्वत्र एक-रस रूप से विद्यमान ईश्वर को देख रहा है वह फिर कोई ऐसा काम नहीं करता जो आत्मा का हनन कहला सके, तब वह परम गति को प्राप्त होता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

यः सर्वशः प्रकृत्या एव क्रियमाणानि कर्माणि (पश्यति) तथा आत्मानम् अकर्तारम् पश्यति सः पश्यति।

जो अपने आपको देह से इतना पृथक् कर लेता है कि भोजनादि सब कर्मों में, मेरी आज्ञा से, प्रभु द्वारा दी हुई प्रकृति दासी लोक-कल्याणार्थ यह सब कर्म कर रही है मैं नहीं कर रहा, ऐसा अनासक्त प्रकृति-विजयी जीवात्मा ही यथार्थ दर्शन करता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ३०॥

यदा भूत-पृथक्-भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ततः एव च विस्तारम् (पश्यति) तदा ब्रह्म संपद्यते (न तु परब्रह्म)।

अब वह प्रकृति-जन्य पञ्चभूतों की पृथक् सत्ता को एक मूल प्रकृति में प्रलीन होती हुई साक्षात्कार कर लेता है तथा फिर इसी प्रकृति से जगत् का विस्तार किस प्रकार होता है यह जान लेता है,

तब वह अपनी छोटी-सी दुनिया का ब्रह्म अर्थात् बड़ा हो जाता है (किन्तु परब्रह्म नहीं)। वह तो—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१॥

अनादित्वात् निर्गुणत्वात् अयम् अव्ययः परमात्मा शरीरस्थः अपि न करोति (अतएव) न लिप्यते।

वह परब्रह्म तो अनादि काल से बन्धन-रहित निर्गुण होने के कारण सदा एकरूप है; 'क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों से अपरामृष्ट है।' वह देह-बन्धन में स्थित होकर भी कभी कर्म करता ही नहीं, इसलिये लिप्त भी नहीं होता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

यथा सर्वगतम् आकाशम् सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते तथा देहे सर्वत्र अवस्थितः आत्मा न उपलिप्यते।

जिस प्रकार अति सूक्ष्म होने के कारण तेज जल पृथिवी आदि में सर्वत्र व्यापक आकाश, रूप रस गन्धादि द्वारा लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार देह में सर्वत्र विद्यमान आत्मा प्रकृति के गुणों में लिप्त नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

हे भारत! यथा एकः रविः कृत्स्नम् लोकम् प्रकाशयति तथा क्षेत्री कृत्स्नम् क्षेत्रम् प्रकाशयति।

हे भारत! जिस प्रकार अकेला सूर्य इस सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित कर देता है, इसी प्रकार क्षेत्री अपने सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित कर देता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

ये एवम् ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरम् भूत-प्रकृति-मोक्षम् च विदुः ते परम् यान्ति।

जो इस प्रकार ज्ञान-चक्षु से क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ में क्या भेद है?

तथा पञ्चभूत क्या है? प्रकृति क्या है? मोक्ष क्या है? इस प्रकार भेद को जान लेते हैं, वे परम गति को पाते हैं।

अब कहिये गीता भेदवादिनी है कि अभेदवादिनी?

इति त्रयोदशोऽध्यायः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

चतुर्दशो अध्याय

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुतमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥

भूयः ज्ञानानाम् उत्तमम् परं ज्ञानम् प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिम् गताः।

१३वें अध्याय में प्रकृति, सदसद्योनि–जन्मा जीवात्मा तथा उपद्रष्टा अनुमन्ता परम पुरुष इन तीनों का वर्णन करके जीवात्मा का इस संसार में क्या महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह बताते हैं। संसार भर के साहित्य में परमात्मा की पिता रूप में, माता रूप में, पति रूप में तथा अन्य अनेक रूपों में भक्ति दिखाई गई है। किन्तु १४वें अध्याय में जीवात्मा का गौरव बताने के लिये परमात्मा को पत्नी रूप में दिखाया गया है। इसी भाव को षष्ठ अध्याय के ५वें श्लोक में **'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः'**॥ इन शब्दों में दिखा आये हैं, किन्तु यहाँ इस १४वें अध्याय में वही बात कुछ और ही ढंग से कही गई है। जीव ईश्वर प्रकृति तीनों हैं, यह ठीक है, किन्तु जहाँ तक कर्म–योग का क्षेत्र है, जीव का स्थान बड़ा है। जिस प्रकार बीज पति डालता है, परन्तु पत्नी दश मास में उसे बच्चे के रूप में उपस्थित कर देती है। इसी प्रकार कर्मयोग के क्षेत्र में परमात्मा तो जीवन भर में किसी जीव द्वारा किये गये कर्मसंघात को बीज रूप में ग्रहण करके नये जन्म में उस जीव को बालक रूप में संसार में उपस्थित कर देता है। अतः जीवन भर के कर्म–संघात के रूप में जो बीज वह परमात्मा रूपी पत्नी के गर्भाशय में डालेगा वही तो जन्मान्तर में नवीन शिशु के रूप में प्रकट होगा। 'मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है,' इस बात को इससे अधिक सुन्दर तथा इससे अधिक ज़ोरदार शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। इस ज्ञान को श्रीकृष्ण जी ज्ञानों में उत्तम ज्ञान कह रहे हैं, इसी से

इसका महत्त्व पता लगता है। वे कहते हैं, हे अर्जुन—

अब मैं तुझे ज्ञानों में उत्तम ज्ञान परम ज्ञान का उपदेश दूँगा, जिस ज्ञान को पाकर सब मुनि लोग परम सिद्धि को प्राप्त हुए।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः सर्गे अपि न उपजायन्ते प्रलये च न व्यथन्ति।

इस मेरे ज्ञान का आश्रय लेकर वह बिलकुल मेरे गुण वाले हो जाते हैं (यहाँ श्रीकृष्ण जी ने फिर उस अनुकरणात्मक भक्ति की ओर निर्देश किया है, जिसका 'मद्-भक्त एतद् विज्ञाय मद् भावायोपपद्यते' ३.१० में वर्णन किया है) सो इस ज्ञान को पाकर उनमें मेरे जैसा आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है और वे सृष्टि में आकर भी न पैदा हुए के समान रहते हैं अर्थात् जीवन-मुक्त रहते हैं और मृत्यु से घबराते नहीं हैं।

वे घबरायें भी क्यों? वे मेरा अनुकरण करते हैं और मैं यद्यपि भक्ति-नम्र रहता हूँ तथा आत्म-विश्वास अभिमान के रूप में परिणत न हो जाय, इसलिये विराट् पुरुष का सदा स्मरण करता हूँ, वही मेरा इतना प्यारा रूप है कि उसे मैं अपना रूप कहता हूँ। परन्तु मुझे इसकी आवश्यकता क्यों होती है? यह भी तो जान लो। अपना भाग्य-विधाता हर जीवात्मा स्वयं है, इस विषय में मेरा इतना गहरा विश्वास है कि मैं कहता हूँ—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

हे भारत! महद् ब्रह्म मम योनिः तस्मिन् अहम् गर्भम् दधामि, ततः सर्वभूतानां भवति।

हे भारत! मुझे अगला जन्म कैसा प्राप्त होगा, यह मैं किसी से पूछने क्यों जाऊँ? महान् ब्रह्म वह योनि है, जिसमें मैं जीवन भर जो कर्म करता हूँ, वह अगले जन्म के लिये गर्भाधान करता हूँ। प्राणि-मात्र का जन्म इसी स्वकर्म-रूपी गर्भाधान से ही तो होता है। सो जो मनुष्य अपनी पत्नी की योनि को एक पवित्र वेदि समझ कर उसमें पवित्र वीर्य का हवन करता है, वह भली प्रकार जानता है

कि मैं उत्तम सन्तान पाऊँगा। इसी प्रकार जिसने जीवन भर उत्तम से भी उत्तम स्वकर्म से भगवान् रूपी योनि की आराधना की है, वह अगले जन्म में कैसा बनेगा, यह वह भली प्रकार जानता है और इसके विपरीत जिसने इस योनि का अपमान किया है वह नया जन्म कैसा कुत्सित पाएगा, यह भली प्रकार जानता है। इसीलिये १८वें अध्याय के ४६वें श्लोक में कहा है **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** सो यह स्वकर्म द्वारा भगवान् की अर्चना भगवान् रूपी योनि में गर्भाधान करके अपने नवीन आगामी जन्म का पिता स्वयं बनना है। हर पुरुषार्थ-परायण आत्मविश्वासी कहता है कि मैं स्वयं अपना भाग्य विधाता हूँ। यहाँ श्रीकृष्ण ने कहा मैं स्वयं ब्रह्म योनि में पुण्यकर्म रूपी जीव का आधान करके अपने भावी जीवन का पिता बनता हूँ, यह है आत्मविश्वास। अगले श्लोक में उसे और स्पष्ट करते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

हे कौन्तेय! सर्वयोनिषु याः मूर्तयः सम्भवन्ति तासाम् महद् ब्रह्म योनिः अहम् बीजप्रदः पिता।

हे कौन्तेय! ज्ञानहीन होकर लोग कहते हैं कि मुझे भगवान् ने अमुक योनि में पैदा किया। किन्तु वास्तव में हर जीव को यह समझना चाहिये कि जितनी पृथक्-पृथक् योनियों में जो पृथक्-पृथक् मूर्त्तियाँ पैदा होती हैं, उन सबकी एक महायोनि ब्रह्म है और उसमें बीज बोने वाला पिता मैं स्वयं हूँ। जीवन भर का कर्म-कलाप रूप बीज जैसा है, फल भी वैसा ही पाऊँगा जब अपना निर्माता मैं स्वयं हूँ, तो दोष किसे दूँ?

अब वे मूर्त्तियाँ जिन्हें जीव अपने कर्मों से बनाता है बनी हुई तो प्रकृति की हैं, उनके भिन्न-भिन्न रूप दिखाते हैं, जिससे मनुष्य अपने लिये अच्छी मूर्ति चुन सके।

इस विषय में जो तेरहवें अध्याय में कह आये हैं कि **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'**॥ उसी का इस अध्याय में विस्तार करते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

हे महाबाहो! सत्त्वम् रजः तमः इति प्रकृति-सम्भवाः गुणाः अव्ययम् देहिनम् देहे निबध्नन्ति।

हे महाबाहो! सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन प्रकृतिस्थ गुण अनादि अव्यय देही को देह में अपनी रुचि अनुसार, महायोनि में बोये हुए बीज के फल-रूप बन्धन में डाल देते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

हे अनघ! तत्र निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम् सत्त्वम् सुखसंगेन ज्ञानसंगेन च (देहिनम्) बध्नाति।

हे अनघ! तीनों में निर्मल होने के कारण प्रकाशक तथा रोगरहित सत्त्व गुण मनुष्य को सुखासक्ति तथा ज्ञानासक्ति से बाँध लेता है। राष्ट्र पर मुसीबत पड़ी है, परन्तु उसे प्रभु के भजन गाने में एक सुख-विशेष प्राप्त होता है। सो वह राष्ट्र के उत्थान के लिये कुछ नहीं करता, यह सुख में संग अर्थात् आसक्ति है। इसी प्रकार चारों ओर राक्षस लोग लूट-पाट मचा रहे हैं; बहिन, बहू, बेटियों की इज़्ज़त लूट रहे हैं, किन्तु पण्डित अनुमान-खण्ड की फक्किकाएँ उधेड़ने में लगा हुआ है। यह है ज्ञान में आसक्ति। आखिर अनुमान-खण्ड का अन्तिम लक्ष्य तो मानव-राष्ट्र के दुःख दूर करना ही है। परन्तु उधर कुछ प्रयत्न न करना विष्णु का अपमान है। सो यह '**साध्यप्रतिपक्षि-साधने पक्षपातः**' है। आसक्ति ज्ञान-प्राप्ति जैसे सात्त्विक कर्म में हो तो भी है वह आसक्ति ही। यह है सुख-संग अथवा ज्ञान-संग से बन्धन।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

हे कौन्तेय! रजः रागात्मकम् तृष्णासंगसमुद्भवम् विद्धि, तत् देहिनम् कर्मसंगेन निबध्नाति।

धन कमा रहा है, हज़ार से लाख कमाये, लाख से करोड़। अब और कमा रहा है, दिन-रात इस कमाई में मन लगा रहता है। इस व्यस्तता में भी एक आनन्द है, उसे किसी दान के लिये कहो तो

अभी और जोड़ लूँ कहकर टाल देता है। किसी आन्दोलन में भाग लेने को कहो तो फुरसत का अभाव बताता है। धन साधन है, साध्य तो नहीं। परन्तु उसे बैंक में पड़ी हुई नित्य बढ़ती हुई धन-राशि के बढ़ने में एक तृष्णा-संग-जन्य आनन्द आता है। उससे भी अधिक कमाने की व्यस्तता में यह तृष्णासक्ति-जन्य आनन्द हैं, जो काम रूप कर्म में आसक्ति द्वारा मनुष्य को बाँध लेता है। इसे रागात्मक रजोगुण जान।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

हे भारत! सर्वदेहिनाम् मोहनम् तमः तु अज्ञानजम् विद्धि तत् प्रमादालस्यनिद्राभिः (देहिनम्) निबध्नाति।

हे भारत! प्राणि-मात्र को मूढ बनाने वाला तमोगुण अज्ञान से पैदा होता है वह मनुष्य को प्रमाद आलस्य तथा निद्रा से बांधता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥

हे भारत! सत्त्वम् सुखे संजयति, रजः कर्मणि उत तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे संजयति।

हे भारत! सत्त्व गुण शान्तिमय सुख के रास्ते से मनुष्य को जीतकर कर्महीन बना देता है। रजोगुण व्यस्तता के सुख में मनुष्य को धर दबाता है तथा रात-दिन लगे रहने में लगा देता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक के लिये फुरसत नहीं देता। तथा तमोगुण 'अजी कौन झंझट में पड़े, आराम भी करो,' इस प्रकार की प्रमाद की भावना के रास्ते से मनुष्य को धर दबाता है और उसके ज्ञान पर आवरण डाल देता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

सत्त्वम् रजः तमः च अभिभूय भवति, तमः रजः सत्त्वम् च (अभिभूय भवति) तथा रजः तमः सत्त्वम् च (अभिभूय भवति)।

मनुष्य की मानसिक अवस्था सदा एक-सी नहीं रहती। कभी सत्त्व गुण, रज और तम को दबा कर रहता है, कभी तमोगुण, सत्त्व और रजस् को दबाकर रहता है, कभी रजोगुण, सत्त्व और तमोगुण

को दबाकर रहता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाशः उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥

यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः उपजायते उत यदा ज्ञानम् उपजायते तदा सत्त्वम् विवृद्धम् इति विद्यात्।

जब इस देह में हर द्वार में प्रकाश का अनुभव हो तथा ज्ञान की बात सूझने लगे तब समझो कि सत्त्व-गुण की वृद्धि है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

हे भरतर्षभ! रजसि विवृद्ध लोभः प्रवृत्तिः कर्मणाम् आरम्भः अशमः स्पृहा एतानि जायन्ते।

हे कुरुनन्दन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, सदा कुछ करते रहने की लगन, एक कार्य समाप्त होने पर दूसरा उससे भी बड़ा काम हाथ में लेने की इच्छा, अशान्ति और महत्त्वाकांक्षा ये सब उत्पन्न होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

हे कुरुनंदन! तमसि विवृद्धे अप्रकाशः अप्रवृत्तिः प्रमादः मोहः एव च एतानि जायन्ते।

सोचने पर भी तत्त्व का प्रकाश न होना, कार्य करने में प्रवृत्ति न होना, लापरवाही और मूढता; तम के बढ़ने पर ये सब पैदा होने लगते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ १४॥

यदा तु देहभृत सत्त्वे प्रवृद्धेप्रलयं याति तदा उत्तमविदाम् अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते।

जब प्राणी इस प्रकार का जीवन बिताता है कि उसके प्रभाव से बढ़े हुए सत्त्व गुण की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह उत्तम विद्वानों के निर्मल लोकों में पहुँच जाता है अर्थात् उत्तम विद्वानों के कुल में जन्म लेता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

रजसि प्रलयम् गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते तथा तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते।

रजोगुण की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होकर पुरुषार्थ में आसक्त होने वालों में जन्म लेता है तथा तमो-गुण में मृत्यु को प्राप्त होकर मूढयोनि में जन्म लेता है। इस प्रकार नये जन्म का बीज-प्रद पिता मनुष्य स्वयं है ब्रह्म तो माता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

सुकृतस्य कर्मणः निर्मलम् सात्त्विकम् फलम् आहुः रजसः तु फलम् दुःखम् (आहुः) तमसः फलम् अज्ञानम् आहुः।

पुण्य कर्म का निर्मल सात्त्विक फल (नवीन जन्म) होता है, रजोगुणी कर्म का फल दुःख होता है तथा तमोगुण का फल अज्ञान होता है।

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोही तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

सत्त्वात् ज्ञानं सञ्जायते, रजसः लोभः एव च जायते, तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव च भवति।

सत्त्व-गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजो-गुण से लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी उत्पन्न होता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वम् गच्छन्तिः राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति, जघन्य-गुण-वृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति।

सत्त्व-गुण में रहने वाले उन्नति की ओर जाते हैं, रजोगुणी मध्य स्थिति की ओर जाते हैं तथा नीच गुण और वृत्ति वाले तमोगुणी लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यम् कर्तारम् न पश्यति (आत्मानम् च)

गुणेभ्यः परम् वेत्ति सः मद्भावम् अधिगच्छति।

जब द्रष्टा जीवात्मा अपनी आत्म-विजय द्वारा ऐसी अवस्था बना लेता है कि गुण पूर्ण-रूप से उसकी आज्ञा पालन करते हैं तथा जीवात्मा आसक्त होकर उनमें फँसा नहीं होता और अपने गुणों से परे जो सत्ता है उसे पूर्णतया अनुभव कर लेता है, तब वह ठीक वही हो जाता है जो मैं हूँ अर्थात् वह भी योगिराज हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुत॥ २०॥

देही देह-समुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः विमुक्तः अमृतम् अश्नुते।

देही देह में विद्यमान सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों को पार करके जन्म, मृत्यु तथा बुढ़ापे के दुःख को दुःख नहीं मानता। इसप्रकार इनसे छूट कर प्रभु-प्रेम के अमृत का रसास्वादन करता है।

त्रिगुणातीत मनुष्य के लक्षण तथा वैसा बनने के उपाय जानने की इच्छा से अर्जुन पूछता है—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥ २१॥

हे प्रभो! कैः लिङ्गैः एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः भवति, किमाचारः कथम् च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते।

हे प्रभो! पहिले तो यह बताइये कि किन चिह्नों से यह पहिचाना जाता है कि यह मनुष्य त्रिगुणातीत है तथा ऐसा त्रिगुणातीत बनने के लिये क्या आचरण करना पड़ता है तथा किस ढंग से?

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ २२॥

हे पाण्डव! (यः) प्रकाशम् च प्रवृत्तिम् च मोहम् एव च सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि, निवृत्तानि च न कांक्षति।

हे पाण्डव! निरन्तर नियमपूर्वक जीवन बिताने का अभ्यास कर चुकने के कारण जिस मनुष्य को ठीक समय पर विवेक-बुद्धि का प्रकाश मिलता है, ठीक समय पर विवेकानुसार एकाग्र मन से कार्य

करने में तत्परता आ जाती है और ठीक समय पर स्वास्थ्यकारिणी शरीर को फिर से कार्य-क्षम बना देने वाली निद्रा उपस्थित हो जाती है। प्रकाश के समय वह यह कह कर नहीं रोता कि 'हाय नींद लेने के समय वह प्रकाश क्यों आ घुसा।' कार्य करने के समय वह प्रवृत्ति को पाकर नहीं रोता, तथा 'हाय निद्रा क्यों नहीं आती,' इस प्रकार नहीं रोता। प्रकाश प्रवृत्ति तथा निद्रा के ठीक समय प्राप्त होने पर वह इनकी प्राप्ति से चिढ़ता नहीं तथा जिसका निवृत्ति काल है, उसकी अप्राप्ति के कारण नहीं रोता कि यह जा क्यों रही है?

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

यः उदासीनवत् आसीनः गुणैः न विचाल्यते, गुणाः वर्तन्ते इति एव यः अवतिष्ठति न इङ्गते।

जो उदासीनवत् स्थित रहता है तथा यथा-काल प्रवृत्त गुण उसे निवृत्ति के लिये बेचैन करके उधर प्रचलन के लिये बाधित नहीं करता तथा हमारे कल्याणार्थ ये तीनों गुण बारी-बारी से प्रवृत्त होते हैं, यह समझकर स्थिर रहता है, छटपटाता नहीं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥

यः समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः तुल्यप्रियाप्रियः धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।

जिसको सुख दुःख समान हैं, जो पूर्ण तथा अपनी ठीक अवस्था में स्थित है, जिसको प्रिय अप्रिय तुल्य हैं, जो धीर है, जिसे अपनी निन्दा तथा स्तुति तुल्य है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

यः मानापमानयोः तुल्यः मित्रारिपक्षयोः तुल्यः सर्वारम्भपरित्यागी च सः गुणातीतः उच्यते।

जो मान अपमान दोनों अवस्थाओं में अविक्षुब्ध रहता है, मित्र-पक्ष तथा शत्रु-पक्ष दोनों के साथ निष्पक्षपात न्याय-युक्त व्यवहार करता है, जो कोई स्वार्थ-प्रेरित समारम्भ नहीं करता, उसे गुणातीत कहते हैं।

इस प्रकार 'कैः लिङ्गैः' इस प्रश्न का उत्तर देकर 'किमाचारः तथा कथम्' का उत्तर देते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

यः च माम् अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, सः एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते।

जो इस प्रकार कभी लक्ष्य-भ्रष्ट न होने वाली भक्ति से मेरे जैसा बनने के लिये मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणों को पार करके अपने क्षेत्र का ब्रह्म बनने में समर्थ हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

अहम् अमृतस्य अव्ययस्य च ब्रह्मणः शाश्वतस्य धर्मस्य च ऐकान्तिकस्य सुखस्य च प्रतिष्ठा।

इस प्रकार हे अर्जुन! परमात्मा की स्तुति तो है ही परन्तु जीवात्मा का भी गौरवान्वित स्थान है। वह क्या है? सुन। हे अर्जुन! यदि मैं जीवात्मा न होऊँ तो ब्रह्म की सत्ता का उपदेश कौन किसको करे? नास्तिकों का भ्रम दूर कौन करे? और प्रभु-प्रेम का अमृत धरा ही रह जाय। उससे ऐकान्तिक रस का आस्वादन कौन करे? इसलिये अमर अव्यय ब्रह्म की प्रतिष्ठा (आधार) मैं हूँ। शाश्वत धर्म की प्रतिष्ठा मैं हूँ। विशुद्ध सुख की प्रतिष्ठा मैं हूँ। यह है जीवात्मा का गौरवोपेत स्थान!

इति चतुर्दशोऽध्यायः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

परमात्मा की महिमा से तो सारी गीता भरी ही पड़ी है। १३वें अध्याय में जीव ईश्वर प्रकृति तीनों का वर्णन करके चौदहवें अध्याय में जीवात्मा के गौरव का विशेष रूप से वर्णन किया। अब १५वें अध्याय में प्रकृति का यथार्थ रूप दिखाते हैं। हर मनुष्य के ज्ञान के ३ भाग हैं—एक उसका प्रकृति-विषयक ज्ञान, दूसरा आत्मा-विषयक ज्ञान, तीसरा परमात्मा-विषयक ज्ञान। सो जिस प्रकार सूर्य से प्रतिबिम्बित दर्पण का एक भाग सूर्य भी है, इसी प्रकार परमात्मा तथा प्रकृति दोनों बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से जीव के अंश हैं। उनमें से प्रकृति के प्रतिबिम्ब से उसे छूटना है तथा परमात्मा के प्रतिबिम्ब को भक्ति द्वारा प्राप्त करना है। सो इसी विषय में श्रीकृष्ण पहले अपने तथा हर देहधारी के भौतिक अंश का अश्वत्थनाम से वर्णन करते हैं। यह वही अश्वत्थ है, जिसका ऋग्वेद (१.१६४.२०) के **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते'** इस मन्त्र में वृक्ष शब्द से वर्णन किया है। इसका यह जो प्रतिक्षण परिवर्तमान स्थूल रूप है, इसे यहाँ अश्वत्थ अर्थात् क्षणभंगुर नाम से कहा गया है। जो आज है सो कल नहीं। यही अश्वत्थ शब्द का अर्थ है, इसीलिये अश्वत्थ को चल-पत्र भी कहते हैं और इसका नाम पीपल भी है। सो वेद के पिप्पल शब्द से लिया गया है, यद्यपि वेद में पिप्पल का अर्थ फल-सामान्य है, फल-विशेष नहीं। परन्तु रूढि से पीपल के फल का नाम हो गया है। इस स्थूल संसार रूपी पीपल के दो मूल हैं, एक ऊपर दूसरा नीचे। इस रहस्य को समझने के लिये 'मूल' शब्द की व्युत्पत्ति को देखना होगा। मूल शब्द बन्धनार्थक 'मव' धातु से या 'मूङ्' धातु से 'क्ल' प्रत्यय होकर बना है। वृक्ष की जड़ों को मूल इसलिये कहते हैं कि वह वृक्ष को पृथिवी के साथ बांधता है। सो इस संसार-रूपी अश्वत्थ का एक मूल अर्थात् बन्धन-कर्त्ता तो परमात्मा है जो अपनी शासन-सत्ता से तथा सर्वशक्तिमान् होने से सर्वोपरि है। दूसरे उसके नीचे अल्पज्ञ अल्पशक्ति अनन्त जीव हैं, जिनके पीछे कर्म का बन्धन लगा हुआ है, इसी पीपल की ओर निर्देश करके कहते हैं—

श्रीकृष्ण उवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छान्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् छन्दांसि यस्य पर्णानि (तम्) अव्ययम् अश्वत्थम् प्राहुः, यः तम् वेद सः वेदवित्।

यह स्थूल संसार रूप कभी नष्ट न होने वाला, किन्तु प्रतिक्षण रूप बदलने वाला एक अश्वत्थ है। छन्द अर्थात् विज्ञान-शास्त्र के नियम इसके पत्ते हैं, जो इस वृक्ष को जानता है वही वेदवित् है।

इससे स्पष्ट है कि भौतिक-विज्ञान का जानना भी उतना ही आवश्यक है जितना आत्म-ज्ञान का। यह संसार यद्यपि अश्वत्थ है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील है तथापि प्रवाह रूप से नित्य है, अनादि अनन्त है, इसका ज्ञान भी अत्यावश्यक है और इससे न कभी मनुष्य छूटा न छूटेगा। हाँ इसकी आसक्ति से छूटना आवश्यक है और वही मोक्ष है।

अब हमने 'छन्दः' शब्द का अर्थ 'विज्ञान-शास्त्र के नियम' से क्यों किया है इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। गद्य और पद्य में भेद क्या है? पद्य की मात्रा अथवा अक्षर नियत हैं, गद्य के नहीं। बस यह संसार जिन मात्रा-युक्त नियमों पर चल रहा है, वे इसके पत्ते हैं, जिस प्रकार पत्ते मूल से रस लेते हैं, इसी प्रकार भौतिक-विज्ञान के नियम भी उस महानियन्ता के शासन से रस-पुष्ट होते हैं। जिसने इस अश्वत्थ को नहीं जाना, उसने वेद को क्या जाना।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

तस्य गुण-प्रवृद्धाः विषय-प्रवालाः शाखाः अवः उर्ध्वम् च प्रसृताः, अस्य कर्मानुबन्धीनि मूलानि अधः मनुष्यलोके च संततानि।

यह एक विचित्र पीपल है, जिसका महामूल तो ऊपर है किन्तु इसके नीचे भी बहुत-सी जड़े हैं। नीचे-ऊपर चारों ओर इसकी सत्त्व, रज, तम आदि गुणों के विस्तार से अनन्त शाखाएँ फैली हुई हैं, जिनमें रूप, रस, गन्धादि कोमल कोंपलें हैं, जिनका विकास उन नियमों में परिणत होता है, जो इसके छन्दरूप पर्ण हैं अर्थात् उन प्राकृत नियमों को हम रूप, रस, गन्ध आदि के सूक्ष्म प्रत्यक्ष से ही

जान सकते हैं।

फिर इस अश्वत्थ की बहुत-सी जड़ें नीचे मनुष्य लोक में भी फैली हुई हैं, जिनका मूल कारण वे कर्म हैं, जिनके अनुसार नाना प्राणी (१४वें अध्याय में वर्णित रूप से) बीज बोकर स्वयं नवीन जन्म रूप फल प्राप्त करते हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

इह अस्य रूपम् तथा न उपलभ्यते न अन्तः उपलभ्यते न च आदिः उपलभ्यते न च सम्प्रतिष्ठा उपलभ्यते, एनम् सुविरूढमूलम् अश्वत्थम् दृढेन असङ्गशस्त्रेण छित्त्वा।

इस संसार में इस पीपल का न रूप पकड़ा जाता है (प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण) न आदि मिलता है न अन्त, न वर्तमान ही पूरा ज्ञान-गोचर होता है, जिस रूप में यह सम्प्रतिष्ठित है।

इस पीपल को जिसकी जड़ें बड़ी मज़बूती से जमी हुई हैं, मज़बूत धार वाले अनासक्ति नामक शस्त्र से काट कर—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्य पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृतिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

ततः तत् पदं परिमार्गितव्यम् यस्मिन् गताः भूयः न निवर्त्तन्ति (अहम् अपि) (तत् पद-प्राप्तये) तम् एव आद्यम् पुरुषम प्रपद्ये यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता।

तब उस पद की तलाश करनी चाहिये, जहाँ पहुँचे हुए कर्त्तव्य-मार्ग से कभी निवृत्त नहीं होते (मैं भी तो) उस पद की प्राप्ति के लिये उसी आदि पुरुष परमात्मा की शरण में जाता हूँ, जिससे यह सनातन वैदिक जीवन-पद्धति फैली है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

निर्मानमोहाः जित-सङ्ग-दोषाः अध्यात्मनित्याः विनिवृत्तकामाः सुखदुःख-संज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः अमूढाः तत् अव्ययम् पदम् गच्छन्ति।

हे अर्जुन! मैं उस आद्य पुरुष की शरण में प्रतिदिन जाता हूँ और यह जो प्रभु-भक्त का पद मैंने पाया है, यह पद जो चाहे पा

सकता है, किन्तु यह पाने के लिये क्या करना पड़ता है, सो सुनो।

जिन्होंने मान तथा मोह अपने अन्दर से बिलकुल निकाल दिया है, जिन्होंने फल में आसक्ति का दोष बिलकुल दूर कर दिया है जो योगाभ्यासादि आध्यात्मिक उन्नति के साधनों में निरन्तर लगे रहते हैं, जिन्होंने अपनी आवश्यकता इतनी कम कर दी है कि वे आप्त-काम होने के कारण निवृत्त-काम हैं तथा जो सुख-दु:खादि द्वन्द्वों से विमुक्त हैं अर्थात् सब अवस्थाओं में एक से भक्ति-परायण रहते हैं, ऐसे अमूढ अर्थात् समझदार लोग ही उस अव्यय पद पर पहुँचते हैं (जहाँ मैं पहुँचा हूँ)।

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम॥ ६॥

तद् (धाम) न सूर्यः न शशाङ्कः भासयते न पावकः भासयते, यद् गत्वा न निवर्तन्ते तत् मम परमम् धाम।

हे अर्जुन! जिस धाम में मैं पहुँचा हूँ, वहाँ न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्र का और न अग्नि का। (वहाँ तो सीधा उसका प्रकाश है, जिससे ये सब प्रकाश लेते हैं।) जो मनुष्य सूर्य अर्थात् प्रताप के लिये, शशाङ्क अर्थात् कीर्ति तथा पारिवारिक सुख के लिये, पावक अर्थात् चूल्हे की निश्चिन्तता अर्थात् आर्थिक सुख के लिये उसकी शरण में आते हैं, वे तब तक उसकी शरण में रहते हैं जब तक उन्हें ये पदार्थ मिलते रहें और यदि कर्मानुसार कभी ये सुख उनसे छीन लिये जावें तो वे प्रभु-भक्ति के मार्ग से निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु जो प्रभु-साक्षात्कार के कारण सीधे उससे प्यार करते हैं, किसी फल-विशेष की कामना से नहीं, वे अपने कर्त्तव्य-मार्ग से कभी निवृत्त नहीं होते सो हे अर्जुन! मेरा वही धाम है अर्थात् निष्काम भक्ति का धाम, जहाँ केवल प्रभु का ही प्रकाश है, न सूर्य का, न चन्द्र का, न अग्नि का।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

जीवलोके मम एव सनातनः जीवभूतः अंशः प्रकृतिस्थानि मनःष्ठानि इन्द्रियाणि कर्षति।

हे अर्जुन! मैं तीन अंशों से बना हूँ अर्थात् मेरे व्यक्तित्व के तीन

भाग हैं—एक मैं जीवात्मा प्रतिबिम्ब-ग्राहक, दूसरा परमात्मा का जितना प्रतिबिम्ब मैं योगाभ्यासादि द्वारा अपने अन्दर उतारने में समर्थ हुआ हूँ, तीसरा भौतिक देह जिसकी आसक्ति को मुझे असङ्ग के दृढ़ शस्त्र से काटना है। इनमें से जो मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों को शरीर-त्याग के समय नये शरीर में अपने साथ खेंचकर ले जाता है, वह मेरे व्यक्तित्व का वह मुख्य अंश है जो मेरा ही है। वह वही सनातन सत्ता है, जिसे जीवलोक में 'जीव' नाम से पुकारा जाता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाऽप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

यत् (देहस्य) ईश्वरः (देही) (नवम्) शरीरम् अवाप्नोति यत् च अपि (प्राक्तनात् शरीरात्) उत्क्रामति (उभयत्र अयम् जीवः), एतानि (मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि) वायुः (गन्धस्य) आशयात् गन्धान् इव गृहीत्वा संयाति।

जब देह का स्वामी नये शरीर में प्रवेश करता है और जब पिछले देह को छोड़ कर जाता है, उन दोनों अवस्थाओं में यह जीव मन तथा पाँच इन्द्रियों को साथ लेकर इस प्रकार जाता है, जिस प्रकार सुगन्धित पुष्पादि गन्धाशयों में से वायु सुगन्ध लेकर जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

अयम् श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनम् रसनम् घ्राणम् एव च मनः च अधिष्ठाय विषयान् उपसेवते।

यह जीवात्मा इतना शक्तिशाली है कि कान, आँख, स्पर्शेन्द्रिय, रसना और नाक का अधिष्ठाता बनकर यह विषयों का सेवन करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

उत्क्रामन्तम् स्थितं वा अपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् विमूढाः न अनुपश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति।

देह छोड़ते हुए, देह में स्थित, शरीर में रहकर प्रकृति के गुणों से मिलकर विषयों का उपभोग करते हुए इस जीवात्मा को मूढ लोग नहीं देख पाते। किन्तु ज्ञान-नेत्र वाले ज्ञानी लोग देख पाते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

यतन्तः योगिनः च आत्मनि अवस्थितम् एनम् पश्यन्ति, अचेतसः अकृतात्मानः यतन्तः अपि एनम् न पश्यन्ति।

अपने अन्दर (देह के अन्दर) विद्यमान इस जीवात्मा को यत्न करने वाले योगी लोग साक्षात् कर लेते हैं, किन्तु आध्यात्मिक-साधना-हीन लोग यत्न करके भी इसे नहीं देख पाते। क्योंकि उनकी चेतना प्रसुप्त है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

आदित्यगतम् यत् तेजः अखिलम् जगत् भासयते, यत् चन्द्रमसि यत् च अग्नौ (तेजःअस्ति) तत् तेजः (आध्यात्मिक-साधना-बलेन) मामकम् इति विद्धि।

वेद में लिखा है कि **'चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत'** (यजु० ३१.१२) अर्थात् जो स्थान सौर-मण्डल में सूर्य का है वह मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र में चक्षु आदि इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का है, तथा जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है, इसी प्रकार मानस-चिन्तन-जन्य अनुमान तथा शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष से भासित होते हैं। इसलिये अध्यात्म-क्षेत्र का चन्द्रमा मन (मस्तिष्क) है तथा भौतिक अग्नि का स्थानापन्न दीक्षा रूप और तप रूप अग्नि मनुष्य के अन्दर प्रज्वलित होता है (**'दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा'** यजु० ४.६)। परन्तु ये सब अध्यात्म-साधना के बिना मनुष्य के अन्दर प्रकट नहीं होते। श्री कृष्णचन्द्रजी कहते हैं कि अध्यात्म-साधन से ये तेज मैंने अपने अन्दर प्रकट कर लिये हैं और अब वे तेज मेरे हो गये हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

गाम् आविश्य च अहम् ओजसा भूतानि धारयामि, रसात्मकः सोमः भूत्वा च सर्वाः ओषधीः पुष्णामि।

इस पृथिवीलोक में प्रविष्ट होकर मैं जीवात्मा ही हूँ, जो सब प्राणियों को अपने ओज से धारण करता हूँ (मेरे शरीर छोड़ते ही वे सब ओजोहीन हो जाते हैं)। भोजन खाने से जो रस बनता है

वही रुधिर और उसी रुधिर में, दूध में मक्खन के समान वीर्य बनकर रहता है। इसको ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है **'रेतो वै सोमः'** हम जो ओषधि अर्थात् अन्न खाते हैं (ओषध्यः फलपाकान्ताः) तथा जो दवा सेवन करते हैं, उन पुष्टिकारक पदार्थों को भी पुष्टि देने वाला यह वीर्य है, जिसके नष्ट होने पर उत्तम भोजन करने वाला तथा ओषधि सेवन करने वाला भी निस्तेज रहता है। इसलिये कहा कि रसात्मक सोम अर्थात् भोजन-परिपाक-जन्य वीर्य बनकर मैं सब ओषधियों को पुष्टि देता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणाऽपानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

प्राणिनाम् देहम् आश्रितः अहम् वैश्वानरः भूत्वा प्राणापानसमायुक्तः चतुर्विधम् अन्नम् पचामि।

प्राणिमात्र के देह में वैश्वानर अग्नि अर्थात् जठराग्नि बनकर प्राणापान वायु की सहायता से खाद्य, चूष्य, लेह्य, पेय चारों प्रकार के अन्न को पचाता हूँ अर्थात् जब मैं शरीर में नहीं रहता तो अन्न-पाक-क्रिया भी तुरन्त बन्द हो जाती है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

अहम् च सर्वस्य हृदि संनिविष्टः, स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनम् च मत्तः, सर्वैः वेदैः च अहमेव वेद्यः वेदान्तकृत् वेदवित् च अहमेव।

उपनिषद् में लिखा है कि जिस प्रकार राजा का कार्यालय तथा शयन-स्थान पृथक् होते हैं, इसी प्रकार जीवात्मा रूप राजा का कार्यालय सिर तथा शयन-कक्ष हृदय है। हृदय की गति बन्द होते ही जीवात्मा निकल जाता है तथा जीवात्मा के निकलते ही हृदय की गति बन्द हो जाती है। सो प्राणि-मात्र के हृदय में जीवात्मा डेरा डालकर रहता है। ज्ञान, स्मृति तथा अपोहन अर्थात् निद्रा विस्मृति द्वारा ज्ञान का लोप ये दोनों मेरे कारण ही होते हैं। वेद सब यही तो सिखाते हैं कि आत्मा किन उपायों से अपने आप को संस्कृत कर सकता है। सो वेदों का अन्तिम लक्ष्य जीव का सुधार है। परमात्मा तो सुधरा ही हुआ है। इसलिये सब वेदों के द्वारा 'वेद्य' मैं ही हूँ। वेदान्त-सूत्र किसी जीव ने ही तो बनाया है और वेदवित् तो हैं ही

जीव, जीव न हो तो वेद को जाने कौन। इसलिये वेदान्तकृत् तथा वेदवित् मैं ही हूँ।

अब पुरुषोत्तम भगवान् के ज्ञान को प्राप्त करके साधारण से साधारण पुरुष भी किस प्रकार पुरुषोत्तम कहला सकता है, यह बताते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

लोके क्षरः अक्षरः एव च इमौ द्वौ पुरुषौ, सर्वाणि भूतानि क्षरः उच्यते कूटस्थः च अक्षरः उच्यते।

इस लोक में हर पुरुष के ये दो भाग हैं, एक क्षर पुरुष, दूसरा अक्षर पुरुष। यह प्राणि-मात्र में जो नश्वर देह है, यह क्षर पुरुष है तथा नित्य जीवात्मा अक्षर पुरुष कहलाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति स उत्तमः पुरुषः तु अन्यः (स) परमात्मा इति उदाहृतः।

जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में व्याप्त होकर उनका पालन करता है वह उत्तम पुरुष, क्षर पुरुष तथा कूटस्थ पुरुष इन दोनों से भिन्न और ही है, जिसे परमात्मा कहते हैं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोतमः॥ १८॥

यस्मात् अहम् क्षरमतीतः अक्षरादपि च उत्तमः, अतः लोके, वेदे च प्रथितः (अहम् अपि) पुरुषोत्तमः (जातः) अस्मि।

हे अर्जुन! प्रभु-भक्ति की महिमा देख कि उस पुरुषोत्तम की भक्ति से मैं जीव होते हुए भी पुरुषोत्तम कहलाता हूँ, क्योंकि मैं क्षर पुरुष का ज्ञान प्राप्त करके उससे आगे निकल गया हूँ और अक्षर पुरुष जीव के ज्ञान से भी ऊपर उठकर उस पुरुषोत्तम तक जा पहुँचा हूँ। लौकिक ज्ञान तथा वैदिक ज्ञान दोनों में अव्याहतगति रूप से विख्यात हूँ। इसलिये लोग मुझे भी पुरुषोत्तम कहते हैं (इसीलिये 'तमेव चाद्यम् पुरुषम् प्रपद्ये') उसी आदि पुरुष की शरण में जाता

हूँ, उसकी शरण में जाने का कितना महान् फल है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

हे भारत! यः असम्मूढः माम् एवम् पुरुषोत्तमम् जानाति सः सर्ववित मां सर्वभावेन भजति।

हे भारत! कुछ लोग तो मेरा गुण-कीर्त्तन करके कृत-कृत्य हो जाते हैं वे मूढ हैं, किन्तु जो केवल मेरे गुण-गान मात्र से सन्तुष्ट न होकर, जिस प्रकार प्रभु के शरणागत होकर लौकिक वैदिक दोनों ज्ञान प्राप्त करके मैंने पुरुषोत्तम पदवी पाई है उस साधना को जानकर स्वयं पुरुषोत्तम पदवी पाने का यत्न करता है, उसने इस विषय में जो जानने योग्य था वह सब कुछ जान लिया और वह मेरी सर्वाङ्गीण भक्ति करता है, क्योंकि वह उन साधनों को करता है, जिनसे मैं क्षर और अक्षर दोनों से ऊपर उठकर पुरुषोत्तम कहलाया।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

हे अनघ! इति मया इदम् गुह्यतमम् शास्त्रम् उक्तम्, हे भारत! एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात्।

हे अर्जुन! महापुरुषों के चरित्र-श्रवण तथा अध्ययन से मनुष्य की आत्म-शुद्धि अवश्य होती है। इसलिये श्रवणाध्ययन करने वाला भी बुद्धिमान् तो अवश्य है। परन्तु वह कृत-कृत्य तब ही होता है जब सुनकर वैसा करता भी है। इसलिये हे अनघ! मैंने इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र तुझे कह सुनाया। इसको ठीक-ठीक समझ कर मनुष्य न केवल बुद्धिमान् हो जाता है, किन्तु कृतकृत्य भी हो जाता है।

इति पञ्चदशोऽध्यायः

अथ षोडशोऽध्यायः

तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने श्रीकृष्ण के मुख से अपने अध्यात्म–दर्शन के मूल सिद्धान्त कहलवाये। १३वें में प्रकृति, गुणसंगी पुरुष तथा परम पुरुष इन तीन अनादियों का वर्णन किया। १४वें में 'जीवात्मा ही इस जन्म के कर्मों द्वारा अपना अगला जन्म बनाता है और इस प्रकार अपना भाग्य–विधाता स्वयं है', इन शब्दों में जीवात्मा का गौरव बताया, फिर १५वें अध्याय में **'तमेव चाद्यम् पुरुषम् प्रपद्ये'** इस प्रकार स्वयम् अपनी प्रभु–भक्ति के दृष्टान्त से, बिना प्रभु की शरण में गये जीव का पूर्ण कल्याण नहीं हो सकता, मेरा भी कल्याण इसी प्रकार हुआ है, सो किस प्रकार जीव प्रकृति तथा परमात्मा दोनों से प्रतिबिम्बित होता है तथा असंग शस्त्र से संसार के बन्धन को काटकर प्रकृति द्वारा काम लेता हुआ भी उसमें नहीं फँसता इस गुह्यतम तत्त्व का प्रकाश किया। अब १६वें अध्याय में वह फिर अध्यात्म–क्षेत्र से निकल कर मानव–समाज की समस्याएँ सुलझाने के लिये **'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।'** इस छठे श्लोक में स्पष्ट ही ऐह–लौकिक संसार में उतर आए हैं। इस संसार की सबसे बड़ी समस्या है देवासुर–संग्राम। असुर लोग देवों को कभी देश–भक्ति, कभी धर्म, कभी किसी और महान् आदर्श की आड़ में, आपस में उलझा कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। अर्जुन भी इस संग्राम में स्वजन–मोह रूप आसुरी भावना में घिर गया है। इसलिये इस अध्याय में दैवी तथा आसुरी सम्पद् का विस्तार दिखाया गया है। आरम्भ इस प्रकार है—

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

अभयम् सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोग–व्यवस्थितिः दानम् दमः च यज्ञः च स्वाध्यायः तपः आर्जवम्।

स्वयम् न डरना तथा दूसरों को उन्नति के मार्ग में अभय कर देना, अन्तःकरण की पवित्रता, ज्ञान, योग में चित्त लगाना, दान करना,

इन्द्रियों का दमन, परस्पर मिलकर मानव–समाज के उपकारी कार्य संगठित होकर करना अर्थात् यज्ञ, स्वाध्याय, तप अर्थात् शीतोष्णादि द्वन्द्व–सहन का सामर्थ्य, सरलता।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा सत्यम अक्रोधः त्यागः शान्तिः अपैशुनम्, भूतेषु दया, अलोलुप्त्वम् मार्दवम् ह्रीः अचापलम्।

अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणि मात्र पर दया, लोलुप न होना, मृदुता, लज्जाशीलता अचंचलता।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

हे भारत! तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहः न अतिमानिता च दैवीम् सम्पदम् अभिजातस्य भवन्ति।

तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और अतिमान न करना, ये सब प्रथम से तृतीय श्लोक तक वर्णित गुण दैवी सम्पद् के पवित्र वायुमण्डल में उत्पन्न मनुष्य के अन्दर स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ ४॥

हे पार्थ! आसुरीं सम्पदमभिजातस्य दम्भः दर्पः अभिमानः च क्रोधः पारुष्यम् एव च अज्ञानं च (भवन्ति)।

और हे पार्थ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान ये आसुरी सम्पद् के वायुमण्डल में उत्पन्न मनुष्य के अन्दर स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं।

दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी सम्पद् विमोक्षाय मता आसुरी च निबन्धाय मता। हे पाण्डव! मा शुचः त्वम् दैवीम् सम्पदम् अभिजातः असि।

दैवी सम्पद् मोक्ष के लिये ले जानी वाली मानी गई है और आसुरी सम्पद् बन्धन के लिये। हे पाण्ड! तू दुःख मत मना। क्योंकि तू तो दैवी सम्पद् के वायु–मण्डल में उत्पन्न हुआ है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु॥ ६॥

अस्मिन् लोके दैवः आसुरः एव च द्वौ सर्गौ स्तः। तयोः दैवः विस्तरशः प्रोक्तः, हे पार्थ! (इदानीम्) मे आसुरम् शृणु।

इस सृष्टि में दैव तथा आसुर दो सृष्टियाँ हैं। हे पार्थ! दैव सृष्टि का मैंने विस्तार से वर्णन कर दिया, अब मुझ से आसुर सृष्टि का वर्णन सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

आसुराः जनाः प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च न विदुः, तेषु न शौचं न अपि आचारः न च सत्यम् विद्यते।

आसुर लोग कब किस प्रकार किस कर्म में किस अंश तक प्रवृत्त होना चाहिये और कब किस प्रकार किस कर्म से निवृत्त हो जाना चाहिये यह कुछ नहीं जानते, न उनमें सत्य है, न सफ़ाई है, न आचार के कोई नियम हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

ते जगत् असत्यम् अप्रतिष्ठम् अनीश्वरम् अपरस्पर-सम्भूतम् आहुः, अन्यत् कामहैतुकम् किम्।

वे लोग इस सारे जगत् को असत्य और अप्रतिष्ठित बताते हैं कि इसका कोई ईश्वर नहीं (ईश्वर की सत्ता की तो बात ही दूर है) वे यहाँ तक कहते हैं कि जगत् परस्पर संयोग से भी उत्पन्न नहीं हुआ, फिर काम-जन्य तो वे क्या मानेंगे।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

(ते) नष्टात्मानः अल्पबुद्धयः एताम् दृष्टिम् अवष्टभ्य उग्रकर्माणः अहिताः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति।

वे नष्टात्मा अल्प-बुद्धि लोग इस दृष्टि पर दुराग्रही होकर उग्र-कर्मा हो जाते हैं और जगत् के अहितकारी होकर जगत् के नाश के लिये अपनी प्रभुता स्थापित करते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

दम्भमानमदान्विताः (ते) दुष्पूरम् कामम् आश्रित्य, मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा अशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते।

दम्भ, मान और मद से घिरे हुए वे कभी न पूरी होने वाली तृष्णा के वशीभूत होकर मूढता से उलटे उलटे सिद्धान्त मानकर अशुचि-व्रत धारण करके संसार में प्रवृत्त होते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

अपरिमेयाम् च प्रलयान्ताम् चिन्ताम् उपाश्रिताः कामोपभोगपरमाः एतावत् इति निश्चिताः।

नाना प्रकार के भोगों की उस अपरिमेय चिन्ता में फँसे हुए जो कि प्रलय तक अथवा मृत्यु के साथ ही समाप्त होगी, कामों के उपभोग से परे जिनका कोई ध्येय नहीं और 'इस संसार में जो विषय-सुख भोग लिया वही सब कुछ है, इससे परे कुछ नहीं,' ऐसा जो हृदय में निश्चय कर चुके हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

आशापाशशतैः बद्धाः कामक्रोध-परायणाः कामभोगार्थम् अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते।

सैंकड़ों प्रकार की आशाओं के पाश में बंधे हुए, काम-क्रोध की पूर्ति में लगा रहना ही जिनका परम ध्येय है और काम-क्रोध की वासना-पूर्ति के लिये जो अन्याय से धन बटोरने में लगे रहते हैं।

वे असुर-प्रकृति के लोग अज्ञान में पड़कर किस प्रकार कामनाओं के चक्र में पड़े रहते हैं, सो सुनो—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

इदम् अद्य मया लब्धम्, इमम् मनोरथम् प्राप्स्ये, इदम् धनम् अस्ति, इदम् अपि पुनः मे भविष्यति।

यह कुछ मैंने पा लिया, इस मनोरथ को अब मैं पूरा करूँगा, यह मेरे पास है, इतना धन मेरे पास और हो जायेगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥ १४॥

मया असौ शत्रुः हतः अपरान् अपि च हनिष्ये, अहम् ईश्वरः अहम् भोगी अहम् सिद्धः (अहम्) बलवान् (अहम्) सुखी।

यह शत्रु तो मैंने मार ही लिया, दूसरों को भी मार डालूँगा। मैं प्रभुता वाला हूँ, मैं भोग-सम्पन्न हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

अहम् आढ्यः अभिजनवान् अस्मि, मया सदृशः अन्यः कः अस्ति? यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये, इति अज्ञान-विमोहिताः।

'मैं बड़ा धनाढ्य हूँ, खानदानी आदमी हूँ, मेरे बराबर और कौन है? मैं खूब गुटबन्दी करूँगा, खूब लुटाऊँगा, खूब मौज उड़ाऊँगा', इस प्रकार के अज्ञान से विमोहित रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः कामभोगेषु प्रसक्ताः अशुचौ नरके पतन्ति।

रोज़ नये से नया मज़ा ढूँढ़ने में उनका चित्त भटकता रहता है। मोह-जाल से घिरे रहते हैं। रात-दिन काम-वासना की तृप्ति में जुटे रहते हैं और अपवित्र नरकमय जीवन में दिन पर दिन गिरावट की ओर बढ़ते जाते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

आत्म-सम्भाविताः स्तब्धाः धनमान-मदान्विताः ते दम्भेन अविधिपूर्वकम् नामयज्ञैः जयन्ते।

अपनी अकड़ में फूले हुए, तने हुए, धन और मान के मद में चूर वे लोग दिखावे के कारण विधि की भी परवाह न करके इस

प्रकार यज्ञ करते हैं जिससे उनकी वाह-वाह सुनने की वासना तृप्त हो।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अहंकारम् बलम् दर्पम् कामम् क्रोधम् च संश्रिताः आत्म-परदेहेषु माम् प्रद्विषन्तः अभ्यसूयकाः।

हे अर्जुन! मैं विशाल महाभारत साम्राज्य की मानव-मात्र के कल्याण के लिये स्थापना में लगा हुआ हूँ। इसलिये मानव-राष्ट्र के हर व्यक्ति के जीवन में मेरा भाग है। परन्तु उन्हें तो 'अहम्' के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं। अपना बल अभिमान, अपनी काम-वासना, उसमें बाधा उत्पन्न करने वालों पर अपना क्रोध, इसी में उनका डेरा है। अपने तथा अपने साथियों के जीवन में जो प्रभु के भक्त के रूप में मेरा भाग है, उसे देने से बचने के लिये वे अपने और पराये देहों में विद्यमान मुझको भोग-मार्ग में बाधक समझकर मुझसे खूब द्वेष करते हैं तथा ईर्ष्यावश मेरे काम में सदा रोड़े अटकाते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

संसारेषु द्विषतः क्रूरान् तान् नराधमान् अहम् अजस्रम् आसुरीषु एव योनिषु क्षिपामि।

सांसारिक व्यवहारों में धर्मात्माओं से द्वेष करने वाले उन क्रूर नराधमों को मैं जीवन-काल में आसुरी भावनाओं के चक्कर में डाल देता हूँ, क्योंकि जब मैं उनसे परास्त नहीं होता तो वे और भी चक्करदार जाल रचते हैं और मरकर भी आसुरी योनि में जाते हैं और मैं उन्हें इस प्रकार नित्य आसुरी योनियों में फेंकता रहता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

हे कौन्तेय (ते) मूढाः जन्मनि जन्मनि आसुरीम् योनिम् आपन्नाः माम् अप्राप्य एव ततः अधमाम् गतिम् यान्ति।

हे कौन्तेय! वे मूढ लोग जन्म-जन्म में आसुरी योनि में पड़े हुए, मेरे प्रभु-भक्त रूप पद को न पहुँचकर फिर अधम से अधमतर गति को प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

इदम् आत्मनः नाशनम् त्रिविधम् नरकस्य द्वारम् कामः क्रोधः तथा लोभः तस्मात् एतत् त्रयम् त्यजेत्।

काम, क्रोध और लोभ ये तीन आत्मा को नष्ट करने वाले नरक के द्वार हैं इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

हे कौन्तेय! नरः एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः विमुक्तः आत्मनः श्रेयः आचरति ततः पराम् गतिम् याति।

हे कौन्तेय! मनुष्य इन तीन अन्धकार के द्वारों से मुक्त होकर अपने श्रेय मार्ग पर चलता है, और तब परम गति को प्राप्त होता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य कामकारतः वर्तते सः सिद्धिम् न अवाप्नोति न सुखम् न पराम् गतिम्।

जो शास्त्र के बताये मार्ग को छोड़कर अपने मन माने मार्ग से चलता है उसे न सिद्धि मिलती है न सुख और न परम गति।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रम् प्रमाणम्, इह शास्त्र विधानोक्तम् कर्म ज्ञात्वा तत् कर्तुम् अर्हसि।

इसलिये क्या करना उचित है और क्या नहीं? इस व्यवस्था के विषय में शास्त्र ही तेरे लिये प्रमाण है। इसलिये शास्त्र-विधान में किस समय क्या करना कहा है, यह जानकर उसके अनुसार कर्म करना ही तुझे उचित है।

इसलिये शास्त्र-नियमानुसार उठ और अन्याय के पक्षपातियों को मार।

इति षोडशोऽध्याय

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

हे कृष्ण! ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य श्रद्धया अन्विताः यजन्ते, तेषाम् निष्ठा तु का? सत्त्वम्, आहो रजः (उत) तमः।

हे कृष्ण! जो शास्त्र की विधि को आलस्य, प्रमाद, अज्ञानादि वश छोड़कर फिर भी श्रद्धा-युक्त होकर यज्ञ करते हैं—देव-पूजा तथा दान द्वारा संगठित होते हैं, उनके संगठित होने की निष्ठा अर्थात् आधार क्या है, सत्त्व अथवा रजस् या तम?

श्री भगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

देहिनां श्रद्धा त्रिविधा भवति, सा स्वभावजा सात्त्विकी राजसी तामसी च एव इति, तां शृणु।

मनुष्य-मात्र में श्रद्धा तीन प्रकार की होती है और वह स्वाभाविक होती है। एक सात्त्विक, दूसरी राजस, तीसरी तामस। सो इनका भेद सुन—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

हे भारत! सर्वस्य श्रद्धा सत्त्वानुरूपा भवति, अयम् पुरुषः श्रद्धामयः यः यच्छ्रद्धः सः सः एव।

हे भारत! हर मनुष्य में कुछ न कुछ अंश सत्त्व गुण का विद्यमान है, उसी के कारण वह अपने से बड़ी किसी शक्ति की पूजा तथा उसके साथ संगठन करना चाहता है, परन्तु जिस प्रकार लाल, पीले, हरे आदि रंग के काच में पड़ा हुआ जल काच का रंग ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार हर पुजारी किसी अंश तक अपने पूज्य देव

को अपने रंग में ढाल लेता है। सो उस भक्त में जितना स्वाभाविक सत्त्व गुण का अंश विद्यमान होता है, उसमें भक्त की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ जोड़ देने से उसके इष्ट देव की मूर्ति बनती है। विचित्र लीला है कि पहिले तो भक्त इष्ट देव की मूर्ति घड़ता है, फिर मूर्ति भक्त को घड़ती है, सो सत्त्व गुण रूप स्वर्ण में भक्त की रुचि का खोट मिलने से इष्ट देव का स्वरूप तय्यार होता है। इसलिये जिसकी जितने खोट मिले रूप में श्रद्धा होती है वह वैसा ही बन जाता है। सत्त्व गुण अर्थात् श्रद्धा अपना रंग दिखाती है, खोट अपना। वैसे श्रद्धा से बिलकुल शून्य कोई पुरुष नहीं। बुरे पुरुषों को बुराई में कमाल दिखाने वाले पर श्रद्धा होती है और वह वैसा बनना चाहता है, परन्तु श्रद्धा से शून्य कोई नहीं।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

सात्त्विकाः देवान् यजन्ते, राजसाः यक्ष-रक्षांसि यजन्ते, अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूत-गणान् च यजन्ते।

सात्त्विक पुरुष अपनी विद्या वसिष्ठादिवत्, अपने प्राण राम-कृष्णादिवत् अथवा अपना धन भामाशाह आदिवत् दूसरों के कल्याण के निमित्त देने वाले देव पुरुषों को अथवा इन प्रभु-भक्तों को सब कुछ देने वाले परम पिता परमात्मा को देवाधिदेव मानकर, इन देवों की अनुकरणात्मक पूजा तथा इनके साथ संगतिकरण करने के लिये, अपनी सम्पूर्ण शक्ति, भक्ति द्वारा एतद् भाव प्राप्त करने के लिये (मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते १३.१८) दान करते हैं। रजोगुणी लोग यक्ष अर्थात् धड़ेबाज़ धड़े के लिये तथा राक्षस मण्डली के लिये सब कुछ दान करके यक्ष अर्थात् धड़ेबाज़ों तथा राक्षस अर्थात् क्रूर-मण्डलों के नेताओं की पूजा तथा उनके साथ संगठन करते हैं। तीसरे तमोगुणी लोग अपने मरे हुओं तथा भूतकाल के सफल संगठन वाले भूत-गणों की पूजा तथा उनके साथ संगतिकरण करते हैं अर्थात् आप तो आलसी बनकर कुछ करते धरते नहीं, बुजुर्गों के नाम की शेख़ी बघारा करते हैं। 'हमारे अमुक पूर्व पुरुष ने यह किया तथा हमारे भूतकाल के जन ने इस प्रकार विजया पाई।'

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ये जनाः अशास्त्र-विहितम्-घोरम् तपः तप्यन्ते।

आडम्बर और अहंकार युक्त काम और राग के बल से युक्त जो लोग शास्त्र-विधान-विरुद्ध घोर तप करते हैं।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६ ॥

(ये) अचेतसः शरीरस्थम् भूतग्रामम् अन्तःशरीरस्थम् माम् च एव कर्षयन्तः (तपः तप्यन्ते) तान् आसुर-निश्चयान् विद्धि।

जो विवेक-शून्य लोग परमात्मा के दिये हुए पृथिवी अप् तेज आदि शरीरस्थ भूतों को व्यर्थ उलटे मार्ग में घसीटते हैं और मैं जो महाभारत-साम्राज्य की स्थापनार्थ उनके अन्दर प्रविष्ट होकर मानव-मात्र के कल्याण के लिये उनसे समय शक्ति का दान माँगता हूँ, वे प्रभु की तथा मुझ सरीखे प्रभु-भक्तों की चोरी करते हैं तथा प्रभु का और प्रभु-भक्तों का माल न जाने कहाँ कहाँ घसीट ले जाते हैं, उन सबको आसुर निश्चय वाला जान।

भाव यह है कि विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिये लोग कम घोर तप नहीं करते, कम कष्ट सहन नहीं करते, यदि उतना ही तप वे प्रभु की भक्ति अथवा तदर्थ प्रभु-भक्तों के अनुकरण के लिये करें तो विश्व का कल्याण हो जावे।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७ ॥

आहारः तु अपि सर्वस्य त्रिविधः प्रियः भवति, तथा यज्ञः तपः दानम् (अपि त्रिविधम्), तेषाम् इमम् भेदम् शृणु।

सब मनुष्यों को तीन प्रकार का आहार प्यारा होता है तथा यज्ञ, तप और दान ये सब भी तीन प्रकार के होते हैं। इनका यह भेद सुन।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विकप्रियाः।

आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख तथा रसास्वादन की शक्ति बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने, स्थिरता प्रदान करने वाले, हृदय-शक्ति-वर्धक आहार सात्त्विक वृत्ति के लोगों को प्यारे होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥

कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः आहाराः राजसस्य इष्टाः (ते च) दुःख-शोकामयप्रदाः।

कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीक्ष्ण, रूक्ष और जलन पैदा करने वाले आहार रजोगुणी लोगों को प्यारे होते हैं, ये आहार दुःख, शोक, और रोग के देने वाले हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

यत् यातयामम्, गतरसम्, पूति, पर्युषितम् च उच्छिष्टम् अमेध्यम् अपि च भोजनम् तत् तामसप्रियम्।

जो सारहीन, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, वासी, जूठा और अपवित्र भोजन है, वह तामस प्रकृति वालों को प्यारा होता है।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

यः यज्ञः विधिदृष्टः अफलाकाङ्क्षिभिः यष्टव्यम् एव इति मनः समाधाय इज्यते, सः सात्त्विकः।

जो संगठन व्यक्तिगत स्वार्थ की अभिलाषा से रहित होकर इस प्रकार प्रभु-सेवा करनी ही चाहिये इस प्रकार मन एकाग्र करके शास्त्र-विधि के अनुसार किया जाता है वह सात्त्विक है, चाहे वह प्रतीक यज्ञ हो चाहे वास्तविक यज्ञ।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

हे भरतश्रेष्ठ! यत् तु फलम् अभिसंधाय दम्भार्थम् अपि इज्यते, तं यज्ञं राजसम् विद्धि।

हे भरतश्रेष्ठ! जो संगठित समारम्भ फल को सामने रख कर और दिखावे के लिये किया जाता है उसको तू राजस जान

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

विधिहीनम् असृष्टान्नम् मन्त्रहीनम् अदक्षिणम् श्रद्धाविरहितम् यज्ञम् तामसम् परिचक्षते।

जो शास्त्र-विधि से हीन हो, जिसमें लोक-कल्याणार्थ अन्न तक न दिया गया हो, जो मन्त्रोच्चारणरहित हो, जिसमें कार्य-कर्त्ताओं को दक्षिणा न दी गई हो, जो श्रद्धारहित मन से किया गया हो उस यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् शौचम् आर्जवम् ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च शारीरम् तपः उच्यते।

राष्ट्र-सेवा में राष्ट्र द्वारा नियुक्त देव पुरुष, ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिमान् इन पुरुषों का पूजन, शुचिता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा हिंसा का विनाश यह सब शारीरिक तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

अनुद्वेगकरम् सत्यम् प्रियहितम् च यत् वाक्यम् स्वाध्यायाभ्यसनम् एव च वाङ्मयम् तपः उच्यते।

वाक्य ऐसा बोलना जिससे किसी को कष्ट न हो, जो सत्य भी हो प्रिय भी हो और हितकारी भी हो तथा स्वाध्याय का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वम् मौनम् आत्मविनिग्रहः भावसंशुद्धिः इति एतत् मानसम् तपः उच्यते।

मन सदा प्रसन्न रखना, मन में मधुर भाव रखना, व्यर्थ न बोलना, हर बात में अपने को सम्भाल कर रखना तथा मन में किसी प्रकार

की कुत्सित भावना उत्पन्न न होने देकर शुद्ध भावना से सब कार्य करना यह मानस तप कहलाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

तत् त्रिविधम् तपः अफलाकांक्षिभिः युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्तम् सात्त्विकम् परिचक्षते।

यह कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकार का तप मनुष्यों के द्वारा परम श्रद्धा से फलाकांक्षारहित होकर एकाग्र-चित्त से तपा गया हो तो उसे सात्त्विक तप कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

यत् तपः सत्कार-मान-पूजार्थम् दम्भेन च एव क्रियते, तत् चलम् अध्रुवम् तपः इह राजसम् प्रोक्तम्।

जो तप सत्कार पाने के लिये, अपना अभिमान बढ़ाने के लिये, दूसरों से अपनी पूजा कराने के लिये अथवा दम्भपूर्वक दिखावे मात्र के लिये किया जाता है वह चंचल क्षणभंगुर तप इस संसार में राजस कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

यत् तपः मूढग्राहेण आत्मनः पीडया क्रियते, परस्य उत्सादनार्थम् वा क्रियते तत् तामसम् उदाहृतम्।

जो तप अन्धविश्वास के वशीभूत होकर अपने आप को व्यर्थ की पीड़ा पहुँचाकर (उदाहरणार्थ नाक, कान, जीभ आदि काटकर) अथवा किसी दूसरे से बदला लेने के निमित्त उसके उजाड़ने मात्र के लिये किया जाता है, वह तामस तप कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दोयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

यद् दानं दातव्यम् इति (बुद्ध्या) अनुपकारिणे देशे काले च पात्रे च दीयते तद् दानं सात्त्विकम् स्मृतम्।

जो दान, 'देना मनुष्य का धर्म है' इस बुद्धि से, जिसने हमारा

कोई उपकार किया हो उसका ऋण चुकाने की बुद्धि से नहीं; यहाँ के लोग प्यासे मर रहे हैं, इसलिये यहाँ ठण्ढे जल का कूप लगना चाहिये इस प्रकार के देश विचार से; यह मनुष्य रोग से मर रहा है इसे इसी समय औषध मिलना चाहिये इस विचार से तथा इस मनुष्य का जीवन परोपकार मय है इस प्रकार पात्र-विचारपूर्वक दिया जाता है, वह दान सात्त्विक दान माना गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

यत् तु प्रत्युपकारार्थम् वा पुनः फलम् उद्दिश्य परिक्लिष्टम् च दीयते तद् दानम् राजसम् स्मृतम्।

जो दान बहुत उपकार का बदला चुकाने के लिये अथवा करिष्यमाण उपकार रूप फल को सामने रखकर बड़े क्लेश मानते हुए दिया जाता है, वह राजस माना गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यद् दानं अदेशकाले अपात्रेभ्यः च दीयते असत्कृतम् अवज्ञातम् च दीयते तत् तामसम् उदाहृतम्।

जो दान अस्थान में, असमय में, अपात्रों को दिया जाता है तथा जो सत्कार के बिना अपमानपूर्वक दिया जाता है वह तामस दान कहा गया है।

अब यज्ञ-मात्र की विधि का मूल बताते हैं—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

ब्रह्मणः ओम् तत् सत् इति त्रिविधः निर्देशः स्मृतः, तेन (ब्रह्मणा) ब्राह्मणाः वेदाः यज्ञाः च पुरा विहिताः।

ब्रह्म की ओर निर्देश ओ३म्, तत्, सत् इन तीन शब्दों से किया जाता है, इसीलिये यज्ञ-मात्र के संकल्प का आरम्भ 'ओ३म् तत् सत् ब्रह्मणः प्रहरार्धे' इत्यादि संकल्प-वाक्य से होता है।

सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मणों को उसी ने बनाया सो कैसे? उसी ब्रह्म ने वेद का ज्ञान दिया, जिसको जान कर तथा '**ब्राह्मणोऽस्य**

मुखमासीत्' (यजुः० ३१.१२) इस मन्त्र में वर्णित तप त्याग और विद्या इन तीन गुणों को धारण करके ही ब्राह्मण बनता है। फिर ब्राह्मणों का सम्बन्ध क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि सबके साथ बना रहे, जिससे वेद का ज्ञान घर-घर में सरलता से पहुँच जाय। इसलिये प्रतीक-यज्ञ अग्निहोत्र सोमयाग अश्वमेधादि भी उसने ही बनाये जिससे वेद का बताया जीवन-मार्ग इन नाटकों द्वारा सबके जीवन का अंग बन जाय।

अब ओम्, तत्, सत् इन तीनों शब्दों का प्रतीक-यज्ञों से क्या सम्बन्ध है? यह बताते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

तस्मात् ब्रह्मवादिनाम् विधानोक्ताः यज्ञदान-तपःक्रियाः सततम् ओ३म् इति उदाहृत्य प्रवर्तन्ते।

इसीलिये उस ब्रह्म के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ ब्रह्मवादियों की यज्ञ, दान तथा तप की सब विधानोक्त क्रियायें ओ३म् का उच्चारण करके आरम्भ होती हैं।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥ २५॥

मोक्षकांक्षिभिः यज्ञ-तपःक्रियाः विविधाः दानक्रियाः च (सततम्) तत् इति (शब्देन) फलम् अनभिसंधाय क्रियन्ते।

आसक्ति से मोक्ष चाहने वाले लोग अपनी सब यज्ञ तथा तपः क्रिया और दान क्रिया तत् यह शब्द उच्चारण करके सदा इसलिये करते हैं कि उनमें फल की आकांक्षा न रहे। वे कहते हैं कि मैं तो कुछ कर ही नहीं रहा, जब मैंने समर्पण के अभ्यास द्वारा अपने आपको उसकी कठपुतली बना दिया तो फिर फल किस कर्म का माँगूँ, मैं तो यन्त्र-मात्र हूँ, चालक तो वह है।

ओ३म् तत् सत् में से ओ३म् और तत् की व्याख्या हो चुकी, अब सत् शब्द की व्याख्या करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

सत् इति एतत् सद्भावे साधुभावे च प्रयुज्यते तथा हे पार्थ! सत् शब्दः प्रशस्ते कर्मणि युज्यते।

सत् शब्द का प्रयोग विद्यमानता अर्थ में होता है जैसे सत्ता, फिर साधुता में होता है जैसे सत्-पुरुष तथा हे पार्थ! सत् शब्द का प्रयोग प्रशंसा अर्थ में भी होता है जैसे सत्-कर्म अर्थात् प्रशस्त कर्म।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सत् इति च उच्यते तदर्थीयम् कर्म च एव सत् इति एव अभिधीयते।

यज्ञ, दान तथा तप में स्थिति सत्-स्थिति कहलाती है और इसके निमित्त पुरुषार्थ सत्-कर्म कहलाता है। इसके विपरीत—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

हे पार्थ! यत् अश्रद्धया हुतम्, दत्तम्, तपः तप्तम्, कृतम् च तत् असत् इति उच्यते, तत् नो इह न च प्रेत्य।

हे पार्थ! अश्रद्धापूर्वक जो प्रतीक-यज्ञ में आहुति दी हो, जो दान किया हो जो तप तपा हो तथा जो प्रतीक-यज्ञानुकूल आचरण किया हो, वह जैसा हुआ वैसा न हुआ, इसलिये असत् कहलाता है। उससे न इस लोक में कल्याण होता है न मर कर अगले जन्म में।

इति सप्तदशोऽध्यायः

अथाष्टादशोऽध्याय:

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! संन्यासस्य त्यागस्य च पृथक् तत्त्वम् वेदितुम् इच्छामि।

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास तथा त्याग दोनों का अलग अलग तत्त्व जानना चाहता हूँ।

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा:॥ २॥

कवय: काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासम् विदु:, विचक्षणा: सर्व-कर्म-फल-त्यागं त्यागम् विदु:।

क्रान्तदर्शी लोग काम्य कर्म को न्यास अर्थात् धरोहर समझ कर करना, इसे संन्यास कहते हैं तथा विचक्षण लोग सब प्राप्त-फलों के त्याग को त्याग जानते हैं। भाव यह है कि 'यह शरीर और यह सारा जीवन मुझे भगवान् ने धरोहर रूप में दिया है, इसलिये इसमें स्वार्थ की भावना उत्पन्न न होने देना तथा सब काम, धरोहर जीवन समझकर उस उत्तरदायित्व की भावना से उससे डरकर संन्यास है अर्थात् मन में स्वार्थ-फल-प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न न होने देना संन्यास है तथा इस प्रकार के कर्म करने से प्राप्त यश ऐश्वर्य आदि फल का त्याग करना त्याग है।' सारांश यह है कि कर्म से पहिले मन को स्वार्थ-भावना से शून्य करना संन्यास है तथा प्राप्त फल को अपना न समझकर विष्णु के अर्पण करना त्याग है।

इसी की विशद व्याख्या आगे करते हैं। इस विषय में प्रथम एक समस्या उठाते हैं—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिण:।
यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

एके मनीषिण: दोषवत् कर्म त्याज्यम् इति प्राहु:, अपरे च यज्ञ-

दान-तप:-कर्म न त्याज्यम् इति प्राहु:।

एक मनीषी तो यह कहते हैं कि कर्म-मात्र बन्धन का कारण होने से त्याज्य है, दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान तथा तप ये कर्म (जिनकी व्याख्या पिछले अध्याय में ११ से २२ श्लोक तक) कर आये हैं नहीं छोड़ने चाहियें।

निश्चयं मे शृणु तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविध: संप्रकीर्तित:॥ ४॥

हे भरतसत्तम! तत्र त्यागे मे निश्चयं शृणु, हे पुरुषव्याघ्र! त्याग: हि त्रिविध: सम्प्रकीर्त्तित:।

हे भरतसत्तम! इस त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन, हे पुरुषव्याघ्र! त्याग जो है, सो तीन प्रकार का कहा गया है।

यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञ-दान-तप:-कर्म न त्याज्यम् तत कार्यम् एव, यज्ञ: दानम् तप: च एव मनीषिणाम् पावनानि।

यज्ञ, दान तथा तप इनसे सम्बन्ध रखने वाला कर्म नहीं त्यागना चाहिये वह करना ही चाहिये ये तीनों कर्म पवित्र करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

हे पार्थ! एतानि अपि तु कर्माणि सङ्गम् फलानि च त्यक्त्वा कर्त्तव्यानि इति मे उत्तमम् निश्चितम् मतम्।

हे पार्थ! यज्ञ दान तप सम्बन्धी कर्म भी संग और फलेच्छा छोड़कर करने चाहिये, यह मेरा अन्तिम निश्चित मत है।

नियतस्य तु संन्यास: कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामस: परिकीर्तित:॥ ७॥

नियतस्य तु कर्मण: संन्यास: न उपपद्यते, तस्य मोहात् परित्याग: तामस: परिकीर्त्तित:।

नित्य कर्म का परित्याग तो किसी प्रकार भी उचित नहीं, मोहवश उसका परित्याग आलस्य-परिणाम-भूत तमोगुणी कर्म कहलाता है।

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

यत् कायक्लेशभयात् दुःखम् इति एव कर्म त्यजेत् स राजसम् त्यागम् कृत्वा त्याग-फलं न लभेत्।

यदि कोई पुरुष किसी कर्म को यह कायक्लेशदायक है, इस कारण झंझट समझकर छोड़ दे (तथा अन्य सांसारिक सुखों में आसक्त हो जाय) तो वह राजस त्याग करेगा और त्याग का वास्तविक फल उसे नहीं मिलेगा।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

हे अर्जुन! यत् कर्म फलं संगम् च एव त्यक्त्वा कार्यम् इति एव क्रियते सः त्यागः सात्त्विकः मतः।

हे अर्जुन! जो कर्म फलेच्छा तथा आसक्ति को छोड़कर यह कर्त्तव्य है यह जानकर किया जाता है वह त्याग सात्त्विक त्याग माना गया है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

सत्त्वसमाविष्टः छिन्नसंशयः मेधावी त्यागी अकुशलम् कर्म न द्वेष्टि कुशले च न अनुषज्जते।

सत्त्व-गुण से प्रेरित छिन्न-संशय मेधावी त्यागी मनुष्य जिसमें कुशलता न हो परन्तु कर्त्तव्यवश ऐसा काम करना पड़े तो उससे द्वेष नहीं करता तथा जिस काम में कुशलता हो उसमें आसक्त नहीं होता।

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुँ कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुम् नहि शक्यम्, यः तु कर्म-फल-त्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते।

देहधारी के लिये यह सम्भव नहीं कि वह निःशेष रूप से सब कर्मों का त्याग कर दे। इसलिये त्यागी वही कहा जाता है जो कर्म-फल का त्याग कर दे।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

अत्यागिनाम् प्रेत्य अनिष्टम् इष्टम् मिश्रम् च त्रिविधम् कर्मणः फलम् भवति संन्यासिनाम् तु क्वचित् न।

त्यागहीन पुरुषों को, मरकर नये जन्म में इष्ट, अनिष्ट तथा मिश्र यह तीन प्रकार का कर्म का फल मिलता है, किन्तु जिन्होंने प्रभु के लिये आत्म-समर्पण कर दिया है उनके लिये तो सभी फल इष्ट हैं। इसलिये उन्हें सदा एक ही प्रकार का फल (इष्ट) मिलता है, तीन प्रकार का नहीं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

हे महाबाहो! सांख्ये कृतान्ते सर्वदेहिनां सिद्धये एतानि पञ्च कारणानि प्रोक्तानि तानि मे निबोध।

हे महाबाहो! सब पदार्थों की वैज्ञानिक रूप से ठीक-ठीक गणना करने वाले सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्त में सब देहि-मात्र की कार्य सिद्धि के लिये ये पाँच कारण कहे हैं, सो तुम मुझसे सुनकर जानो।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

अधिष्ठानम् तथा कर्ता पृथग्विधम् च करणम्, पृथक् विविधाः चेष्टाः च पञ्चमम् अत्र दैवम् च।

अधिष्ठान अर्थात् स्थानीय परिस्थिति, कर्त्ता, पृथक्-पृथक् प्रकार के साधन, नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टा तथा इस प्रसंग में पाँचवा दैव।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

नरः शरीरवाङ्मनोभिः न्याय्यम् वा विपरीतम् वा (यत्) कर्म प्रारभते एते पञ्च तस्य हेतवः।

मनुष्य शरीर वाणी तथा मन से न्यायानुकूल अथवा न्याय-विरुद्ध जो भी कार्य प्रारम्भ करता है, उसके ये पाँच कारण होते हैं।

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

तत्र एवम् सति यः तु केवलम् आत्मानम् कर्त्तारम् पश्यति, स दुर्मतिः अकृत-बुद्धित्वात् न पश्यति।

सो इस अवस्था में जो केवल अपने आप को कर्त्ता जानता है, वह दुर्मति अपरिपच बुद्धि होने के कारण कुछ नहीं जानता।

अब उपसंहार की ओर आ रहे हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

यस्य अहङ्कृतः भावः न, यस्य बुद्धिः (अहम्भावेन) न लिप्यते, स इमान् लोकान् हत्वा अपि न हन्ति न (च पापेन) निबध्यते।

सो समर्पण द्वारा 'मैं लोक-कल्याणार्थ प्रभु का निमित्त मात्र बनकर यन्त्र-चालितवत् कर्म कर रहा हूँ,' इस प्रकार का जिसको अहंकारहीन भाव है, जिसकी बुद्धि अहंकार से लिप्त नहीं होती, वह इन लोकों को मारकर भी नहीं मारता और इसलिए वह पाप-दण्ड के बन्धन में भी नहीं आता।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

कर्मचोदना त्रिविधा ज्ञानम् ज्ञेयम् परिज्ञाता, कर्म-संग्रहः त्रिविधः करणम् कर्म कर्ता च इति।

कर्म की आन्तरिक प्रक्रिया में तीन अङ्ग हैं, जिनसे कर्म-प्रेरणा होती है, ज्ञेय विषय, जानने वाला तथा ज्ञान। फिर कर्म की स्थूल प्रक्रिया के कर्त्ता, साधन तथा क्रिया यह कर्म के तीन अंगों का संग्रह है।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

ज्ञानम् कर्म च कर्त्ता च गुणसंख्याने गुण-भेदतः त्रिधा एव प्रोच्यते, तानि अपि यथावत् शृणु।

सांख्यानुसार ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता गुण-गणना में ये तीनों ही,

सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों के आधार पर तीन प्रकार के कहे जाते हैं, उन्हें भी ठीक-ठीक सुन।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

येन सर्वभूतेषु एकम् अव्ययम् विभक्तेषु अविभक्तम् भावम् ईक्षते तत् ज्ञानम् सात्त्विकम् विद्धि।

जिसके द्वारा सब परिवर्तनशील पदार्थों में एक अपरिवर्तनशील तत्त्व को, भिन्न-भिन्न पदार्थों में एक अविभक्त सूत्र को देख पाता है, वह ज्ञान सात्त्विक ज्ञान कहलाता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

यत् ज्ञानम् तु सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् पृथक्त्वेन वेत्ति तत् ज्ञानम् राजसम् विद्धि।

जो ज्ञान तो ऐसा है कि पदार्थ-मात्र में जो पृथक्-पृथक् पदार्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना गुण हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् रूप से ठीक-ठीक जानता है, वह ज्ञान रजो-गुणी ज्ञान है अर्थात् जो सबको अन्तिम रूप से एक सूत्र में बाँधने वाले परमात्म-तत्त्व की उपेक्षा करके भौतिक पदार्थों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करता है, वह राजस है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यत् तु एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत् अहैतुकम् सक्तम् अतत्त्वार्थवत् अल्पम् च तत् तामसम् उदाहृतम्।

जो एक छोटे से स्वरुचित कार्य को सम्पूर्ण कार्यों का सार समझ कर उसमें आसक्त है, उस कार्य के औचित्य में कोई हेतु नहीं दे सकता, जो कोई उसका ठीक तत्त्व समझना चाहे तो समझना नहीं चाहता और स्वयं भी ज्ञान प्राप्त करने के झंझट में नहीं पड़ना चाहता है, तथा जिसका विस्तार भी स्वल्प है वह ज्ञान तामस कहा गया है।

उदाहरणार्थ कोई सिगरेट पीने वाला, 'सम्पूर्ण शुभकर्मों में सिगरेट पीना यही एकमात्र श्रेष्ठ कर्म है,' ऐसा आग्रह कर ले और तर्क

करने को तय्यार न हो, सिगरेट में क्या विष है इत्यादि गुण दोषों को न जानता हो तथा न जानना चाहे और 'मुझे इसमें आनन्द आता है,' इतना मात्र जानता है, यह तामस ज्ञान है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

यत् कर्म नियतम् संगरहितम् अफलप्रेप्सुना अरागद्वेषतः कृतम्, तत् कर्म सात्त्विकम् उच्यते।

जो शास्त्र–मर्यादानुसार नियम–बद्ध हो, आसक्तिरहित होकर किया गया हो सफलता के बदले में कोई फल चाहने वाले द्वारा न किया गया हो तथा राग–द्वेष से पृथक् होकर किया गया हो वह कर्म सात्त्विक कहलाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

यत् कर्म तु कामेप्सुना पुनः साहंकारेण वा बहुलायासं क्रियते तत् (कर्म) राजसम् उदाहृतम्।

जो नाना प्रकार की कामनाओं की पूर्त्ति के लिये अथवा अहंकार की तृप्ति के लिये बहुत आयास सह कर किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

अनुबन्धम् क्षयम् हिंसाम् पौरुषम् च अनवेक्ष्य (यत्) मोहात् आरभ्यते तत् तामसम् उच्यते।

अनुबन्ध अर्थात् परिणाम, परिणाम के परिणाम, उनके परिणाम; स्व–पक्ष–क्षय तथा पर–पक्ष–हिंसा तथा अपने पुरुषार्थ का ठीक नाप इन सब की परवाह न करके मूढतावश जो कार्य किया जाता है, वह तमोगुणी कहा गया है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

मुक्तसङ्गः अनहंवादी धृत्युसाहसमन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विकः उच्यते।

आसक्तिरहित, 'मैंने यह किया मैंने वह किया,' इस प्रकार के अहंवाद से शून्य, धैर्य तथा उत्साह से युक्त, सिद्धि तथा असिद्धि दोनों अवस्थाओं में निर्विकार कार्यकर्त्ता सात्त्विक कार्यकर्त्ता कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धः हिंसात्सकः अशुचिः हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः।

भिन्न–भिन्न पदार्थों में राग रखने वाला, उत्तम कर्म करके उसके बदले में फल की इच्छा रखने वाला, लोभी, अभिलाषित पदार्थ की प्राप्ति के लिये हिंसा भी करने को तय्यार, अशुचि साधनों से न बचने वाला और फल–प्राप्ति में हर्ष तथा फल–हानि में शोक मनाने वाला कार्यकर्त्ता रजोगुणी कार्यकर्त्ता कहलाता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥ २८॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठः नैष्कृतिकः अलसः विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामसः उच्यते।

युक्तिपूर्वक सोच–विचार कर काम न करने वाला, साधारण भावनाओं वाला अर्थात् ऊँची भावनाओं से न प्रेरित, घमण्डी, दुष्ट, बदला लेने के स्वभाव वाला, आलसी, उत्साहहीन और दीर्घसूत्री अर्थात् हर काम को ढील देकर करने वाला कार्यकर्त्ता तामस कार्यकर्त्ता कहलाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

हे धनंजय! बुद्धेः धृतेः च एव गुणतः त्रिविधम् भेदम् (मया) अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमानम् शृणु।

हे धनंजय! बुद्धि और धृति का सत्त्व, रज, तम आदि तीन गुणों के आधार पर तीन प्रकार का भेद मैं पूर्णतया अलग अलग करके कहता हूँ, सो तुम सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

हे पार्थ! या प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च कार्याकार्ये भयाऽभये बन्धम् मोक्षम् च वेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी।

हे पार्थ! शुभ-कर्म में फलाकांक्षारहित होकर किस प्रकार प्रवृत्त होना, किन पाप-कर्मों से निवृत्त होना, क्या कार्य है क्या अकार्य है, धर्मात्मा निर्बल से भी प्रभु को याद करके डरना तथा पापी दुर्योधन भी हो तो उससे नहीं डरना यह भय और अभय जिसके द्वारा जानता है; आसक्ति बन्धन है तथा आसक्ति से मोक्ष ही मोक्ष है यह बन्ध-मोक्ष का तत्त्व जो जानती है, वह सात्त्विकी बुद्धि है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

हे पार्थ! यया धर्मम् अधर्मम् च कार्यम् च अकार्यम् एव च अयथावत् प्रजानाति सा बुद्धिः राजसी।

जिससे धर्म को तथा अधर्म को, कार्य को तथा अकार्य को जानता तो है किन्तु उसके स्वरूप को जैसा है ठीक-ठीक वैसा नहीं समझता, उनमें वासनावश कुछ खोट मिला लेता है, वह बुद्धि राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

हे पार्थ! या तमसावृता अधर्मम् धर्मम् इति मन्यते सर्वार्थान् विपरीतान् च मन्यते सा बुद्धिः तामसी।

हे पार्थ! जो तमोगुण से आवृत्त होने के कारण अधर्म को ही धर्म मानती है तथा अन्य सब पदार्थों को भी उल्टा जानती है, (जैसे अविद्या को विद्या, अनात्मा को आत्मा, अशुचि को शुचि, अपूज्य को पूज्य) वह बुद्धि तामसी कहलाती है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

हे पार्थ! यया अव्यभिचारिण्या धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः योगेन धारयते सा सात्त्विकी धृतिः।

हे पार्थ! मनुष्य कभी लक्ष्य से भ्रष्ट न होने वाली जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को एकाग्रता से लक्ष्य पर लगाये रहता है, वह धृति सात्त्विक धृति कहलाती है (चाहे कोई विघ्न

यहाँ तक कि मृत्यु भी लक्ष्य से डिगाने आवे)।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

हे अर्जुन! यया तु धृत्या फलाकांक्षी प्रसंगेन धर्मकामार्थान् धारयते, हे पार्थ! सा राजसी धृतिः।

हे अर्जुन! जिस धृति से किसी सांसारिक सुख-भोग रूप फल की आकांक्षा करता हुआ, उससे प्रेरित होकर धर्माचरण करता है, फिर कामना-प्राप्ति के लिये अर्थ-संचय करता है, फिर कामना को इस प्रसंग अर्थात् सुखासक्ति के बल से पूरी करके छोड़ता है, वह धृति राजसी है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थतामसी॥ ३५॥

यया दुर्मेधाः स्वप्नम् भयम् दुःखम् विषादम् मदम् एव च न विमुञ्चति सा धृतिः तामसी।

जिस धृति के बल से हतबुद्धि कूड़ मगज़ लोग नींद, भूत प्रेतादि का भय, 'हम तो सदा अभागे ही रहेंगे' इस प्रकार का शोक, चारों ओर की परिस्थितियों के दुर्ग आदि दुःख और नाना प्रकार के शराब, भांग आदि नशे इन सबको प्रत्यक्ष हानि देखकर भी नहीं छोड़ते, वह धृति तामसी धृति कहलाती है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥

हे भरतर्षभ! इदानीम् (त्वम्) मे त्रिविधम् सुखम् तु शृणु यत्र अभ्यासात् रमते दुःखान्तम् च निगच्छति।

हे भरतर्षभ! अब तुम मुझ से तीन प्रकार के सुख का वर्णन तो सुनो, जिसमें अभ्यास से सुख-प्राप्ति तथा दुःख-निवृत्ति होती है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

यत् तत् अग्रे विषम् इव परिणामे अमृतोपमम्, तत् आत्मबुद्धिप्रसादजम् सुखम् सात्त्विकम् प्रोक्तम्।

वह जो आरम्भ में विष के समान अप्रिय, किन्तु परिणाम में

अमृत के समान सुखप्रद होता है, जिसमें आत्मा तथा बुद्धि दोनों में चैतन्य-विकास होता है न कि शराबादि के समान चैतन्य-लोप वह सुख सात्त्विक सुख कहलाता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

यत् तत् अग्रे विषयेन्द्रिय-संयोगात् अमृतोपमम् परिणामे विषम् इव तत् सुखम् राजसम् स्मृतम्।

वह सुख जो आरम्भ में विषय तथा इन्द्रिय के परस्पर संयोग से अमृत के समान प्रिय लगता है, परन्तु परिणाम में विषय के समान हानिकारक होता है, उस सुख को राजस सुख माना गया है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

यत् अग्रे च अनुबन्धे च आत्मनः मोहनम् तत् निद्रालस्य-प्रमादोत्थम् सुखम् तामसम् उदाहृतम्।

जो आरम्भ में तथा उसके पश्चात् होनेवाले परिणामों की शृंखला में आत्मा की चेतना का लोप करनेवाला है वह नींद, आलस्य तथा लापरवाही से उत्पन्न सुख तामस सुख कहा गया है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

पृथिव्याम् वा दिवि देवेषु वा पुनः तत् सत्त्वम् न अस्ति यत् एभिः त्रिभिः प्रकृतिजैः गुणैः मुक्तम् स्यात्।

पृथिवी पर रहने वाले चराचर में तथा द्युलोक में विद्यमान चन्द्र, सूर्य, वायु आदि जड़ देवों में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो इन प्रकृति-जन्य तीन गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से मुक्त हो।

अब मनुष्यों में त्रिगुणात्मक भेद दिखाते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

हे परन्तप! ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम् शूद्राणाम् च कर्माणि स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि।

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन सबको जो कर्म

बाँटे गये हैं, वे इनके स्वाभाविक गुणों को देख कर ही बाँटे गये हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

शमः दमः तपः शौचम् क्षान्तिः आर्जवम् एव च ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यम् इति स्वभावजम् ब्रह्मकर्म।

शम इन्द्रियों में विकार उत्पन्न न होने देना, दम उत्पन्न विकार को प्रबल निग्रह-शक्ति से दमन करना, तप करना, स्वच्छ रहना, क्षमा करना, सरल व्यवहार करना, सभी पदार्थों का यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करना, फिर उनसे विज्ञान अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करना, आस्तिक बुद्धि रखना, ये स्वाभाविक गुण जिनमें देखे जायें उन्हें ही अध्ययन अध्यापनादि ब्राह्मण-कर्म दिये जाते हैं क्योंकि इन स्वाभाविक गुणों से ही ब्राह्मण-कर्म की योग्यता उत्पन्न होती है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शौर्यम् तेजः धृतिः दाक्ष्यम् युद्धे च अपि अपलायनम् दानम् ईश्वर-भावः च इति स्वभावजम् क्षात्रं कर्म।

शूरता अर्थात् निर्भय होकर शत्रु दल में घुस पड़ना, तेजः अर्थात् दबना नहीं, धृति प्रबल दबाव से न घबराकर दृढ़-निश्चयपूर्वक मुकाबला करना, हर काम व्यवस्था से करने की चतुराई, युद्ध में भागना नहीं, दान देना तथा जहाँ कोई दो झगड़ते हों स्वाभाविक रूप से उनका न्याय करना यह ईश्वर-भाव, इस प्रकार ये स्वाभाविक क्षात्र कर्म हैं, जिनके बल पर उन्हें क्षत्रियत्व का अधिकार दिया जाता है।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं स्वभावजम् वैश्यकर्म, शूद्रस्य अपि परिचर्यात्मकम् कर्म स्वभावजम्।

कृषि गोपालन तथा वाणिज्य ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं, जिनके आधार पर उन्हें वैश्यत्व का अधिकार बाँटा जाता है तथा अपने से श्रेष्ठ गुण वालों से ईर्ष्या न करके गुणग्राहकता के कारण

उनकी परिचर्या करना (दबाव से नहीं) तथा श्रमोपार्जित धन का आदर तथा बिना श्रमोपार्जित खाने से घृणा यह शूद्र का स्वाभाविक कर्म है, जिसके बल पर उसे शूद्रत्व का अधिकार दिया जाता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

नरः स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिम् लभते स्वकर्म-निरतः यथा सिद्धिं विन्दति तत् शृणु।

अपने अपने कर्म में तत्पर मनुष्य उत्तम सिद्धि को प्राप्त होता है। वह मनुष्य अपने कर्म में तत्पर होने के कारण सिद्धि को किस प्रकार प्राप्त होता है, यह सुन।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

यतः भूतानाम् प्रवृत्तिः येन इदम् सर्वम् ततम्, मानवः स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति।

इस श्लोक को मैं सम्पूर्ण गीता का सार मानता हूँ, ईश्वर-पूजा का सर्वोत्कृष्ट साधन क्या है? वह इसमें बताया गया है। जिस मनुष्य को **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** (यजुः० ४०.१) पर विश्वास है, वह हरामख़ोरी कभी कर ही नहीं सकता। सो पूर्वोक्त स्वाभाविक गुणों के कर्म के अभ्यास द्वारा पूर्ण विकास तक पहुँचाना ही ईश्वर-पूजा है। इसलिये कहा कि—जिसके कारण ये संसार भर के अनन्त ब्रह्माण्ड स्व स्व कर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं, जिसने यह सारा ताना तना है, उसका सच्चा अनुकरण, उसके समान निरन्तर श्रमशील होकर निष्काम कर्म करना है। सो अपने कर्म को पूरी योग्यता से सम्पन्न करके फिर प्राप्त फल को प्रभु-अर्पण करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ ४७॥

विगुणः स्वधर्मः स्वनुष्ठितात् परधर्मात् श्रेयान्, स्वभावनियतम् कर्म कुर्वन् किल्बिषम् न आप्नोति।

अपने स्वभाव के विपरीत दूसरा कोई धर्म यदि जबरदस्ती से थोड़ी देर के लिये सुन्दरता से भी पूरा कर दिया जाय और जो स्वाभाविक धर्म हो वह अरुचिकर अथवा सांसारिक दृष्टि से आकर्षक

भी न दीखता हो विगुण लगता हो तो भी स्वाभाविक धर्म पर चलना ठीक है। स्वभाव से नियत किये हुए कर्म को करता हुआ दोषभागी नहीं बनता, क्योंकि अन्त को स्वभाव ज़ोर पकड़ कर मुलम्मे को उतार फेंकता है। इसलिये यदि कोई अपने स्वेच्छापूर्वक वरण किये हुए कर्म को छोड़ना चाहे तो पहिले स्वभाव को बदले, फिर कर्म को जैसा कि विश्वामित्र ने किया था। काय-क्लेश के भय से तो स्वधर्म को कभी न छोड़े, जैसा कि ८वें श्लोक में कह आये हैं। हाँ यदि किसी को स्वधर्म कम कठिन तथा पर-धर्म अधिक वीरता का प्रतीत हो तो तपश्चर्यापूर्वक उसे प्राप्त करना वर्जित नहीं, उल्टा शोभा का कारण है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

हे कौन्तेय! सहजम् कर्म सदोषम् अपि न त्यजेत् सर्वारम्भाः हि दोषेण धूमेनअग्निः इव आवृताः।

हे कौन्तेय! यदि सहज अर्थात् स्वाभाविक कर्म में कोई काय-क्लेश का झंझट भी दीखता हो और दूसरा कर्म सुकर दीखे तो काय-क्लेश के भय से उसे न छोड़े, क्योंकि यह काय-क्लेश तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब ही के कर्मों में इस प्रकार लगा है जैसे धुँआ अग्नि के साथ। दूर से देखने में सबको स्वधर्म कठिन तथा पर-धर्म सुगम दीखता है। परन्तु करने पर कठिनाई सब में लगती है, इसलिये अपने स्वभाव को देखे, कठिनाई को नहीं।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैऽकर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

सर्वत्र असक्तबुद्धिः जितात्मा विगतस्पृहः संन्यासेन परमां नैष्कर्म्यसिद्धिम् अधिगच्छति।

किसी काम में भी जिसकी बुद्धि आसक्त न हो अर्थात् लोक-कल्याणार्थ विवश होने पर सब प्रकार के कर्म करने के लिये तय्यार हो, जितेन्द्रिय हो, फल के प्रति स्पृहा से मुक्त हो, ऐसा पुरुष संन्यास के बल से परम नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त होता है, भाव यह है कि नैष्कर्म्य-सिद्धि का अर्थ निकम्मापन नहीं, किन्तु आसक्ति से छूटना है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

हे कौन्तेय! सिद्धिम् प्राप्तो यथा ब्रह्म आप्नोति तथा मे समासेन निबोध, या एव ज्ञानस्य परा निष्ठा।

हे कौन्तेय! इस नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त करने वाला मनुष्य जिस जीवन-चर्या से ब्रह्म को पाता है, वह मुझसे संक्षेप में जान ले। बस यही ज्ञान-प्राप्ति कराने वाली परम निष्ठा है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः आत्मानं धृत्या नियम्य च शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।

तर्कहीन मिथ्याविश्वासों से मुक्त विशुद्ध बुद्धि से युक्त पूर्वोक्त सात्त्विक धृति से अपने आपको वश में करके शब्दादि विषयों को त्याग कर तथा राग-द्वेष को परे हटाकर।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ध्यानयोगपरः नित्यम् वैराग्यम् समुपाश्रितः।

एकान्त-सेवी, हलका आहार करने वाला, वाणी काय और मन पर पूर्ण संयम रखने वाला, नित्य ध्यान-योग में तत्पर, वैराग्य का आश्रय लिये हुए।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

अहंकारम् बलम् दर्पम् कामम् क्रोधम् परिग्रहम् विमुच्य निर्ममः शान्तः ब्रह्मभूयाय कल्पते।

अहंकार, बल, अकड़, काम, क्रोध और परिग्रह इन्हें छोड़कर निर्मम और शान्त पुरुष ब्राह्मण-भाव की ओर जाने में समर्थ हो जाता है (चाहे वह क्षत्रिय, वैश्यादि भी क्यों न हो)।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, सर्वेषु भूतेषु समः पराम् मद्भक्तिम् लभते।

यह ब्राह्मण-भाव जब मनुष्य में प्रकट हो जाता है तो वह नष्ट वस्तु के लिये शोक नहीं करता, अप्राप्त के लिये हाय-हाय नहीं मचाता, प्राणि-मात्र में सम-बुद्धि होकर मेरे वाली परम भक्ति को प्राप्त होता है अर्थात् जैसा मैं प्रभु-भक्त हूँ, वैसा ही परम प्रभु-भक्त वह भी हो जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

भक्त्या यावान् यः च अस्मि (तथा) मां तत्त्वतः जानाति, ततः मां तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरम् विशते।

वह प्रभु-भक्त सच्ची भक्ति से, मैं जितना और जो कुछ हूँ उसे तत्त्वतः जान लेता है अर्थात् वह जान लेता है कि मैं कृष्णचन्द्र अन्य साधारण मनुष्यों के समान ही साधारण मनुष्य हूँ, किन्तु मैंने मर्यादा-पालन की आचार्य सान्दीपनि जैसे गुरु से विधिवत् शिक्षा पाई तो आज सकल-लोक-नायक हूँ और महाभारत-साम्राज्य का पुनरुद्धारक हूँ, परन्तु हूँ तो मनुष्य ही, तभी तो जरासंध से १७ बार युद्ध में परास्त होकर भागा। परन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि के बल पर अन्त को उसे मारकर ८४ राजाओं का उद्धार करने में समर्थ हुआ। १२ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके सन्तान उत्पन्न की, तो प्रद्युम्न समान पुत्र पाया। हे अर्जुन! मेरे समान मनुष्य इतना पद कैसे पा सका, इसका एक ही रहस्य है **'तमेव चाद्यम् पुरुषं प्रपद्ये, यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'** १५.४। मैं उस परम पुरुष की शरण में गया हूँ। बस 'जब कृष्ण सरीखा पुरुष प्रभु-भक्ति से इतना कुछ पा सकता है तो मैं ऐसा क्यों न करूँ'! इस प्रकार जो मेरे जीवन के रहस्य को जान लेता है, वह इस तत्त्व को जानकर मेरे जीवन में घुस पड़ता है। मेरे जैसा बनने का कारण दृढ़-संकल्प करके कल्याणाभिनिवेशी कहलाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

सर्वकर्माणि अपि सदा मद्-व्यपाश्रयः कुर्वाणः मत्प्रसादात् शाश्वतम् अव्ययम् पदम् अवाप्नोति।

और कुछ नहीं तो यदि कोई अपने सब कर्म मुझे लक्ष्य बना कर अर्थात् 'जिस-जिस परिस्थिति में कृष्ण ने जैसा किया था वैसा मैं भी करूँ,' यह सोचकर कर्म करता है वह मेरे सहारे से उस शाश्वत अव्यय पद को पा जाता है, जो प्रभु-भक्तों का भागधेय है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य मत्परः बुद्धियोगम् उपाश्रित्य सततम् मच्चित्तः भव।

हे अर्जुन! तू कह चुका है कि '**शिष्यस्तेऽहम् शाधि मां त्वाम् प्रपन्नम्**' (२.७) सो तू सब कर्म मेरे आश्रय पर छोड़ दे, अर्थात् महाभारत-साम्राज्य की स्थापना नामक जिस महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिये मैं प्रयत्नशील हूँ, उस परम लोक-कल्याणकारी महान् समारम्भ के विरोधी इन कौरवों को मार दे। तू सदा मेरे इस महान् यज्ञ की पूर्त्ति में तत्पर रह। तेरा चित्त निरन्तर मेरे अर्पण हो। परन्तु इसका यह भाव नहीं है कि मैं तुझे अन्याय करने को कहूँ, तब भी तू उस पर चले, किन्तु '**बुद्धियोगम् उपाश्रित्य**' अर्थात् खूब बुद्धिपूर्वक विचार कर देख ले कि मैं ठीक कह रहा हूँ कि नहीं और यदि बुद्धिपूर्वक विचार करने पर भी तुझे मेरी बात ठीक जँचे तब फिर स्वजन-मोह से मूढ होकर कर्त्तव्य का त्याग मत कर।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥ ५८॥

मच्चित्तः मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि, अथ चेत् त्वम् अहंकारात् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।

हे अर्जुन! मैं निष्काम-भाव से एक सकल-लोक-कल्याणकारी महान् समारम्भ में लगा हुआ हूँ, यदि तू अपना चित्त मेरे अर्पण करके चलेगा तो मेरी प्रसन्नता से तेरी सब कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी और यदि अहंकारवश तू ने गुरु तथा नेता मानकर भी मेरी बात न सुनी तो तू नष्ट हो जायेगा, (क्योंकि मैं कोई अपना काम तो कर नहीं रहा, मैं कह चुका हूँ '**तमेव चाद्यम् पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी**') इसलिये मेरा साथ देना उसका साथ देना है, मेरा विरोध उसका विरोध है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

यत अहंकारम् आश्रित्य न योत्स्ये इति मन्यसे एषः ते मिथ्या व्यवसायः प्रकृतिः त्वाम् नियोक्ष्यति।

तू जो इस समय अहंकार में आकर 'मैं नहीं लड़ूँगा' ऐसी ठान बैठा है, यह तेरा झूठा क्षणभंगुर निश्चय है, क्षात्र प्रकृति तुझे चुप नहीं बैठने देगी, ज़बरदस्ती तुझे युद्ध पर लगाकर रहेगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

हे कौन्तेय! स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः, यत् मोहात् कर्त्तुम् न इच्छसि तत् अवशः अपि करिष्यसि।

हे कौन्तेय! तूने अपने स्वभावानुरूप क्षात्र धर्म का व्रत लिया हुआ है, सो उस स्वाभाविक कर्त्तव्य-बुद्धि से बंधा हुआ तू, मोहवश जो नहीं करना चाहता उसे कर्त्तव्य-बुद्धि से विवश होकर फिर भी करेगा ही तो।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

हे अर्जुन! ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशे सर्वभूतानि मायया यन्त्रारूढानि भ्रामयन् तिष्ठति।

हे अर्जुन! ईश्वर प्राणि-मात्र केहृदय में, प्राणि-मात्र को (फलाकांक्षियों को कर्मानुसार तथा सर्वात्मना समर्पण करने वालों को अपनी प्रेरणा से) अपनी रचना-शक्ति द्वारा यन्त्रारूढ करके घुमाता हुआ स्थित है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

हे भारत! सर्वभावेन तम् एव शरणम् गच्छ, तत्प्रसादात् परां शान्तिम् शाश्वतं स्थानम् च प्राप्स्यसि।

अपनी सम्पूर्ण भक्ति-भावना एकाग्र करके (जिस प्रकार मैं उसकी शरण में गया हूँ। '**तमेव चाद्यं पुरुषम् प्रपद्ये**' (१५.४) तू उसकी ही शरण में जा, उस प्रभु के प्रसाद से इन आततायियों को मारने

से तुझे अशान्ति नहीं होगी, उलटा 'प्रभु-कार्य का निमित्त बना हूँ,' यह जानकर तुझे परम शान्ति प्राप्त होगी और कभी न नष्ट होने वाला प्रभु-भक्त का पद प्राप्त होगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

मया इति ते गुह्यात् गुह्यतरम् ज्ञानम् आख्यातम्, एतत् अशेषेण विमृश्य यथा इच्छसि तथा कुरु।

मैंने इस प्रकार तुझे गुह्य और गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान का मार्ग बता दिया, अब इस पर खूब विचार करके जो तुझे ठीक जँचे, उस मार्ग से चल।

महात्मा पुरुष सामान्य रूप से लोगों को सच्चे मार्ग पर चलना बताते हैं, परन्तु अपने सम्बन्ध में बहुत व्यर्थ बात नहीं कहते, क्योंकि अनजान पुरुष को वह व्यर्थ की आत्मश्लाघा-सी दीखती है, परन्तु जो उनके अत्यन्त विश्वासपात्र मित्र व शिष्य होते हैं, जिनके सामने बात करने में उन्हें आत्मश्लाघा समझे जाने का तनिक भी सन्देह नहीं होता, उनके सामने वे कभी स्नेहवश अपनी महिमा का भी बखान कर देते हैं, अगले श्लोक इसी प्रकार के हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

भूयः सर्वगुह्यतमम् मे परमं वचः शृणु (त्वम्) मे दृढम् इष्टः असि इति ते हितम् वक्ष्यामि।

इस 'गुह्यात् गुह्यतरम्' के पश्चात् इससे भी बढ़कर तू मेरा सर्व गुह्यतम परम वचन सुन, तू मेरा अत्यन्त प्यारा है। इसलिये तुझे तेरे विशेष हित की बात कहूँगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

मद्भक्तः मन्मनाः भव मद्याजी माम् नमस्कुरु, त्वम् मे प्रियः असि ते सत्यम प्रतिजाने माम् एव एष्यसि।

तू मेरा भक्त बन अर्थात् मेरे मन के अनुसार चल, मुझे नमस्कार कर, परन्तु नमस्कार का रूप यह है कि धर्म-राज्य-स्थापन रूप महान्

यज्ञ में सहयोग के लिये धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में मैं तुझे आहुति देने का आदेश दे रहा हूँ, उसमें मुक्त-हस्त आहुति दे और इन आततायियों को मार। तू मेरा प्रिय सखा है, मैं तुझ से सच कहता हूँ कि तुझे वही सद्गति प्राप्त होगी, जो मुझे होगी।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकम् शरणम् व्रज, अहम् त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि, मा शुचः।

हे अर्जुन! तुझे यह सन्देह कैसे हो गया कि मैं तुझे पाप करने की सलाह भी दे सकता हूँ, पाप करने की सलाह देने की बात तो दूर रही, तू निश्चय रख कि तेरे हृदय में कोई पाप-वासना उठती होगी तो उसे भी मैं उभरने नहीं दूँगा। इसलिये तेरी तो मैं भक्त और सखा होने के कारण व्यक्तिगत रूप से जिम्मेवारी लेता हूँ, तू और सब धर्म छोड़ कर एक ही धर्म पकड़ ले कि मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे सब प्रकार के पाप भावों से (पाप फलों से नहीं) छुड़ा दूँगा। तू दुःख मत मान।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

इदम् ते कदाचन अतपस्काय न (वाच्यम्) अभक्ताय न (वाच्यम्) अशुश्रूषवे च न वाच्यम् यः माम् अभ्यसूयति (तस्मै) च न (वाच्यम्)।

हे अर्जुन! मैंने इसे '**सर्व गुह्यतम वचन**' इसलिये भी कहा है कि साधारण पुरुष इसका अर्थ '**पापफलेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' ऐसा समझ कर और अधिक पाप में लग जावेंगे। मैं तो कह रहा हूँ, पाप से छुड़ाऊँगा वे समझेंगे कि पाप के फल से छुड़ाऊँगा, इसलिये यह वाक्य तू तपोहीन के सामने नहीं कहना, भक्तिहीन के सामने नहीं कहना, शुश्रूषाहीन के सामने नहीं कहना और जो मुझे देख कर मेरे नेतृत्व से ईर्ष्या करते हैं, उनके सामने नहीं कहना।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

यः इमम् परमम् गुह्यम् मद्भक्तेषु अभिधास्यति (सः) मयि परां

भक्तिम् कृत्वा असंशयः माम् एव एष्यति।

जो इस परम गुप्त रहस्य को मेरे भक्तों के बीच कहेगा, वह मेरे सरीखे अनेक प्रभु–भक्त बना कर जिस प्रकार मैं तेरे उद्धार का बीड़ा उठाता हूँ, अन्य सैकड़ों के उद्धार का बीड़ा उठाएगा इस प्रकार से मुझ पर परम भक्ति धारण करके मेरी ही पदवी पाएगा। वह सदा संशयरहित रहेगी।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

मनुष्येषु मे तस्मात् प्रियकृत्तमः कश्चित् न, भुवि मे तस्मात् अन्यः प्रियतरः च न भविता।

मनुष्यों में इस सन्देश सुनाने वाले से बढ़ कर मेरा कोई प्रियकारी नहीं होगा। और इसीलिये इस भूतल पर उससे बढ़ कर मेरा कोई प्यारा नहीं होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

यः च इदम् आवयोः धर्म्यम् संवादम् अध्येष्यते, तेन अहम् ज्ञानयज्ञेन इष्टः स्याम् इति मे मतिः।

और हे अर्जुन! मेरा यह मत है कि जो हमारे इस धर्म–मार्ग–प्रवर्तक संवाद को पढ़ेगा, उसने मेरी ज्ञान यज्ञ के पूजा कर ली, ऐसा मानो।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

यः नरः श्रद्धावान् अनसूयः च शृणुयात् अपि सः अपि मुक्तः पुण्यकर्मणाम् शुभान् लोकान् प्राप्नुयात्।

जो मनुष्य श्रद्धावान् तथा ईर्ष्यारहित होकर इसे सुन भी ले, वह भी आसक्ति से मुक्त होकर पुण्य–कर्म वालों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥ ७२॥

हे पार्थ! कच्चित् त्वया एतत् एकाग्रण चेतसा श्रुतम्? हे

धनञ्जय! कच्चित् ते अज्ञानसम्मोहः प्रनष्टः?

हे पार्थ! भला तुमने यह सब एकाग्रचित्त से सुन लिया? भला अब तो तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हो गया?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

हे अच्युत! त्वत्प्रसादात् (मे) मोहः नष्टः, मया स्मृतिः लब्धा, गतसंदेहः स्थितः अस्मि, तव वचनं करिष्ये।

हे अच्युत! आपके प्रसाद से मेरा मोह भाग गया। मेरी क्षात्र–व्रत की स्मृति जो स्वजन–मोह से तिरोहित हो गई थी, मैंने फिर पा ली। अब मैं सन्देह–मुक्त होकर खड़ा हूँ। आपका वचन पालन करूँगा।

संजय बोला—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

इति अहम् महात्मनः वासुदेवस्य पार्थस्य च इमम् अद्भुतम् रोमहर्षणम् संवादम् अश्रौषम्।

इस प्रकार मैंने महात्मा कृष्ण तथा अर्जुन का यह अद्भुत रोमांचकारी संवाद सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

अहम् साक्षात् स्वयम् कथयतः योगेश्वरात् कृष्णात् एतत् परं गुह्यम् योगम् व्यासप्रसादात् श्रुतवान्।

मैंने साक्षात् स्वयम् कथन करते हुए योगेश्वर कृष्ण के मुख से परम रहस्य को—इस योग को व्यास जी के प्रसाद से सुना।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

हे राजन्! इमम् केशवार्जुनयोः पुण्यम् अद्भुतम् संवादम् संस्मृत्य संस्मृत्य च मुहुःमुहुः हृष्यामि।

हे राजन् धृतराष्ट्र! कृष्ण और अर्जुन के इस पुण्य तथा अद्‌भुत संवाद को याद करके मैं बारम्बार फूल फूल उठता हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरे:।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुन: पुन:॥ ७७॥

हे राजन तत् च हरे: (प्रियम्) अत्यद्भुतम् रूपम् संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मय: पुन: पुन: हृष्यामि च।

और कृष्ण के हृदय में सदा विराजमान उस कृष्ण के प्यारे आत्मिक भोजन रूप अत्यद्भुत विराट् रूप को याद करके मुझे अत्यन्त विस्मय होता है और पुन: पुन: पुलकित होता हूँ।

यत्र योगेश्वर: कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर:।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

यत्र योगेश्वर: कृष्ण: यत्र धनुर्धर: पार्थ: तत्र श्री: विजय: भूति: ध्रुवा नीति: इति मम मति:।

जहाँ इस ज्ञान–यज्ञ की कृपा से योगेश्वर कृष्ण का अनुकरण करने वाले सच्चे नेता हों, तथा जहाँ अर्जुन जैसे धनुर्धारी उनके अनुयायी हों, वहाँ श्री, विजय, भूति, और ध्रुवा नीति, ये सदा विराजते हैं, यह मेरा मत है।

इति अष्टादशोऽध्याय:

श्रीमद्भगवद्गीता–पादानुक्रमणिका

ओ३म्

श्रीमद्भगवद्गीता–पादानुक्रमणिका

—:: ० ::—